

शोध दिशा

शोध अंक 3

जून 2007

200 रुपए

संपादकीय कार्यालय

हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार,
बिजनौर 246701 (उ०प्र०)
फोन : 01342-263232, फैक्स : 01342-262375
ई-मेल : giriraj@hindisahityaniketan.com
वैब साइट : www.hindisahityaniketan.com

क्षेत्रीय कार्यालय

दिल्ली एन०सी०आर०
अनुभूति
सी-106, शिव कला
बी 9/11, सैक्टर 62, नोएडा
फोन : 09314021909, 09314421909

राजस्थान

अंकुर गोयल
बी-105, त्रिमूर्ति अपार्टमेंट
त्रिमूर्ति मार्ग, मालवीय नगर, जयपुर 302017
फोन : 0141-2753952, 09351553454

हरियाणा, हिमाचल एवं पंजाब

डा० हरिशरण वर्मा
710/35 जनता कालोनी
रोहतक (हरियाणा) 124001
फोन : 01262-248211, 09355676460

(सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।)

संपादक

डा० गिरिराजशरण अग्रवाल

प्रबंध संपादक

डा० मीना अग्रवाल

संयुक्त संपादक

मनोज अबोध

सह संपादक

डा० रश्मि त्रिवेदी

कला संपादक

गीतिका गोयल
अनुभूति

विधि परामर्शदाता

अनिलकुमार जैन
एडवोकेट

शुल्क

वार्षिक शुल्क : बारह सौ रुपए
यह प्रति : दो सौ रुपए

प्रकाशित सामग्री से संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद केवल बिजनौर स्थित न्यायालय के अधीन होंगे। शुल्क की राशि 'शोध दिशा' बिजनौर के नाम भेजे। (सन् 1989 से प्रकाशन-क्षेत्र में सक्रिय)

स्वत्वाधिकारी 'हिंदी साहित्य निकेतन' की ओर से मुद्रक प्रकाशक डा० गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा आदर्श प्रिंटर्स, सी-51, मोहन पार्क, शाहदरा, दिल्ली 110032 से मुद्रित एवं 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०) से प्रकाशित। पंजीयन संख्या : 24 (137) ए 95-आर I

संपादक : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल

परामर्श-मंडल

- डा. आर.पी.सिंह (पूर्व कुलपति, मेरठ विश्वविद्यालय) प्राचार्य बरेली कॉलेज, बरेली (उ.प्र.)
- डा. अशोक चक्रधर, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, जामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
- डा. हरिमोहन, प्रोफेसर हिंदी विभाग, के.एम.मुंशी हिंदी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा
- डा. रामसजन पांडेय, प्रोफेसर हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)
- डा. योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', (पूर्व प्राचार्य) 74/3 नया नेहरूनगर, रुड़की (उत्तराखंड)
- डा. मुकेश गर्ग, रीडर हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- डा. माया टाक, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संगीत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
- डा. राधेश्याम जांगिड़, रीडर हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
- डा. जोगेश कौर, अध्यक्ष आई.सी.डी.ई.ओ.एल., हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला (हि.प्र.)
- डा. हरमहेंद्रसिंह बेदी, प्रोफेसर हिंदी विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर (पंजाब)
- डा. संतराम वैश्य, प्रोफेसर हिंदी विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखंड)
- डा० मंजुलाकुमार, प्राचार्या, रानी भाग्यवती देवी महिला महाविद्यालय, बिजनौर (उ.प्र.)
- डा० हरिशरण वर्मा, 710/35 जनता कालोनी, रोहतक (हरियाणा) 124001
- डा. लालबहादुर रावल, अध्यक्ष भूगोल विभाग, आर.एस.एम. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, धामपुर (उ.प्र.)
- डा. महेश दिवाकर, अध्यक्ष हिंदी विभाग, गुलाबसिंह कॉलेज, चाँदपुर (उ.प्र.)
- डा. अनिलकुमार, रीडर वाणिज्य विभाग, जे.बी. जैन कॉलेज, सहारनपुर (उ.प्र.)
- डा. दिनेशकुमार, रीडर शिक्षा विभाग, जे.बी. जैन कॉलेज, सहारनपुर (उ.प्र.)
- डा. निरंकार सिंह, रीडर व अध्यक्ष भूगोल विभाग, वर्धमान कॉलेज, बिजनौर (उ.प्र.)
- डा. मिथिलेश दीक्षित, अध्यक्ष हिंदी विभाग, बी.डी.एम०एम० महिला महाविद्यालय, शिकोहाबाद, उ.प्र.
- डा. महेशचंद्र, रीडर हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ.प्र.)
- डा. शंकरलाल शर्मा, अध्यक्ष हिंदी विभाग, आर.एस.एम. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, धामपुर (उ.प्र.)
- डा. आद्याप्रसाद द्विवेदी, पूर्व अध्यक्ष हिंदी विभाग, सतीशचंद्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बलिया
- डा. जितेंद्र वत्स, रीडर हिंदी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)
- डा. शंभुनाथ तिवारी, हिंदी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भीलवाड़ा (राज.)
- डा. सुरेंद्र विक्रम, अध्यक्ष हिंदी विभाग, लखनऊ क्रिश्चियन कॉलेज, लखनऊ (उ.प्र.)
- डा. श्यामधर तिवारी, प्रोफेसर हिंदी विभाग, संघटक महाविद्यालय पौड़ी, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर (उत्तरांचल)
- डा. प्रवीणकुमार वर्मा, रीडर हिंदी विभाग, सनातन धर्म कॉलेज, पलवल (हरियाणा)
- डा. उत्तरा गुप्ता, रीडर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, रघुनाथ गर्ल्स कॉलेज, मेरठ (उ.प्र.)
- डा. उषारानी वर्मा, रीडर हिंदी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रुद्रपुर (उत्तराखंड)

कुछ पल आपके साथ

‘शोध-दिशा’ का ‘शोध अंक : तीन’ आपके हाथों में है।

शोध निरंतर चलती रहने वाली प्रक्रिया है। भारतीय विश्वविद्यालयों के शोध-विभागों में प्रति वर्ष हजारों शोधार्थियों का पंजीकरण होता है। इनमें से कितने ही शोध-छात्र अभिव्यक्ति की क्षमता के अभाव में अपना शोधकार्य बीच में ही छोड़ देते हैं।

प्रायः स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद छात्रों में शोध के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है। वे इस कार्य को भी परीक्षा उत्तीर्ण करने-जैसा ही मानते हैं और सोचते हैं कि इस उपाधि को भी येन-केन-प्रकारेण प्राप्त कर लिया जाय। लेकिन मेरा मत है कि शोध तपस्या-जैसा कार्य है और इसमें जिज्ञासा, चिंतन, साधना और समर्पण की भरपूर आवश्यकता होती है। यदि किसी शोध-छात्र में इन गुणों का अभाव है तो वह कुछ भी कर सकता है, कम-से-कम शोध जैसे गंभीर कार्य को नहीं कर सकता। ‘शोध-दिशा’ उन्हें लेखन और प्रकाशन का मंच प्रदान कर रही है।

पत्रिका के परामर्श मंडल का अपूर्व सहयोग हमें प्राप्त हो रहा है, यह हमारे लिए गौरव की बात है।

पत्रिका के शोध अंक निरंतर प्रकाशित होते रहें, इसके लिए शोध-निदेशकों, शोध-छात्रों, शोध-प्रेमियों से आग्रह है कि वे अपने शोध-आलेख निरंतर प्रेषित करते रहें। शोध-आलेख टंकित रूप में होने आवश्यक हैं। यदि शोध-आलेख में उचित संदर्भ नहीं दिए गए हैं तो उसे शोध-पत्र की मान्यता नहीं मिल पाएगी, अतः आलेख में उचित संदर्भ अवश्य दें।

आगामी शोध अंकों में भी हिंदी साहित्य के अतिरिक्त मानविकी से संबंधित सभी विषयों के आलेख प्रकाशित किए जाएंगे।

डा. गिरिराजशरण अग्रवाल
संपादक



निबंधकार
खोल देता बुद्धि को
कर साकार।

साहित्यकार
साधता जो हित को
देता आकार।

शब्द-गागर
भरो, रीता न होगा
शोध-सागर।

गूढ़ न भाषा
सोचकर गढ़ना
तू परिभाषा।

कला की शैली
निखरे दिन-दिन
होती न मैली।

शोध-दिशा जो
सुझाए शोध-मार्ग
भगाती निशा।

डा० मीना अग्रवाल
16, साहित्य विहार, बिजनौर

अनुक्रम —

प्रेमचंद का अधूरा उपन्यास 'मंगल-सूत्र' और इसके 'मंगल-सूत्र' की तलाश/ डॉ० कमलकिशोर गोयनका	7
मृदुला गर्ग के कथा-साहित्य में अर्थशक्ति और नारी/ डॉ० (श्रीमती) ज्योति सिंह	19
अवधी लोकगीतों में नारी-समस्याएँ/ श्रीमती मनीषा श्रीवास्तव	26
नयी कविता : सन् 1953 के बाद की विकासमान धारा/ डॉ० किरण पांडेय	30
सच्चे जनकवि थे नागार्जुन/ त्रिलोकी बिंद	41
प्रसाद-काव्य में नारी का पूज्या रूप/ शरतचंद्र भारती	44
निराला साहित्य की महत्ता एवं उसका स्वरूप/ संजयकुमार चौहान	48
साठोत्तरी हिंदी-कविता का विशिष्ट स्वर : मंत्र तथा अणुबंध मंत्र गीत-कविता/ डॉ० नीरू	56
भोजपुरी सभ्यता एवं संस्कृति/ समरबहादुर यादव	68
हिंदी में हास्य बाल नाटक/ डॉ० सुरेंद्र विक्रम	73
जन जनक जानकी/ नलिनकांत उपमन्यु	80
सौंदर्य : एक विवेचन/ सुनील	94
श्री नरेश मेहता का काव्य-संसार/ सुनील शर्मा	100
प्रगतिवादी चिंतन और हिंदीकाव्य/ ब्रजभान सोनकर	102
परिमल मंडल के प्रमुख कवि : नरेश मेहता/ सुमन चहल	110
डा० गिरिराजशरण अग्रवाल के नाटकों में पारिवारिक संबंध/ शकुंतला	118
डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल के नाटकों में वर्ग-विषमता/ अनिलकुमार पँवार	126
जीवनमूल्यां के आधार पर डा० डा० गिरिराजशरण अग्रवाल का साहित्यिक अवदान/ हेमलता देवी	136
नागरजी के उपन्यासों में यथार्थबोध का विकास/ बलराजसिंह	149
श्री चिरंजीव के नाटकों में युद्धकालीन राजनीतिक व्यंग्य/ श्रीमती मोनिका भटनागर	159
प्रगतिवादी काव्य में मानवीय अस्मिता का प्रश्न/ डॉ० बसंत बंसल	168
आकाशवाणी रोहतक से प्रसारित हिंदी-नाटकों में एकल परिवार की समस्याएँ/ इंदुमती	174
रीतिस्वच्छंद कवि आजम की भक्ति-भावना/ जया मिश्रा	185

हिंदी-पत्रकारिता, संचार-क्रांति की वर्तमान स्थिति/ मीनू मिश्रा एवं मुकेश कुमार	191
हिंदी की वर्तमान साहित्य-पत्रकारिता : संचार-क्रांति और युगीन चेतना/ कु० अंशुल मलोनिया एवं श्रीमती मीनू मिश्रा	197
संचार-माध्यमों द्वारा महिला-शोषण/ डॉ० कमलेश भारद्वाज, डॉ० एस.के.भारद्वाज	201
महादेवी जी काव्य : एक समालोचनात्मक अध्ययन/ डा० अशोक उपाध्याय	205
'शबरी' खंडकाव्य में आधुनिक युगचेतना/ नीलम कुमारी	214
वैदिककाल में प्रतिनिधि संस्थाएँ : सभा एवं समिति/ जगबीरसिंह	219
पंचायतीराज में महिला सशक्तिकरण का अध्ययन (रोहतक ज़िले के संदर्भ में)/ वजीरसिंह	228
स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ग्रामीण समुदाय में नेतृत्व का स्वरूप/ बीरेंद्रकुमार यादव	234
भारतीय संसद की सार्वभौमिकता/ रविकुमार	238
शिक्षित नवयुवतियों के वैवाहिक अभिमत में परिवर्तन/ श्रीमती अंजू	245
वैदिक स्मृतियों में वर्णित वर्ण व्यवस्था की सार्थकता एवं बदलते प्रतिमान/ श्रीमती स्नेहलता	247
प्राचीन प्रमुख बौद्ध शिक्षा केंद्र/ डॉ० अपर्णा वत्स	254
विश्वव्यापार-संगठन एवं भारतीय कृषि की विसंगतियाँ : एक अध्ययन/ डॉ० प्रशांत पाण्डेय	265
ग्रामीण विकास हेतु सरकार की योजनाएँ/ अजयकुमार सोनकर	271
भारतीय राष्ट्रीय स्वतंत्रता-आंदोलन में राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य/ रोहिताश्वकुमार सिंह, डॉ० (श्रीमती) राजबाला सिंह	279
डॉ० अंबेडकर : एक समाज-सुधारक/ प्रो० सुरक्षा पाल, देवेन्द्रकुमार	286
सुमित्रानंदन पंत पर संपन्न शोधकार्य डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	292
डॉ० मीना अग्रवाल	

प्रेमचंद का अधूरा उपन्यास 'मंगल-सूत्र' और इसके 'मंगल-सूत्र' की तलाश कमलकिशोर गोयनका

हिंदी में प्रगतिशील समीक्षकों ने जहाँ हिंदी-समीक्षा में नई दिशाओं तथा नए प्रतिमानों का उद्घाटन किया, वहाँ उन्होंने उसे विकृत एवं पथभ्रष्ट भी किया। हिंदी के अधिकांश प्रगतिशील समीक्षक मार्क्सवादी पार्टियों के सदस्य रहे और उन्होंने साहित्य को मार्क्सवादी चिंतन और उसके राजनीतिक हितों की दृष्टि से, देखने-परखने तथा प्रचारित एवं विकसित करने का एक संगठित आंदोलन ही शुरू कर दिया। इसकी शुरुआत इंग्लैंड से सज्जाद जहीर, डा० मुल्कराज आनंद, डा० के०एस० भट्ट, डा० जे०सी०घोष, डा० एस० सिन्हा एवं एम० डी० तासीर ने की और वहाँ 'दि इंडियन प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' की स्थापना की और उसका मैनिफेस्टो प्रेमचंद को भेजा। प्रेमचंद ने 'हंस' के जनवरी 1936 के अंक में 'लंदन में भारतीय साहित्यकारों की एक नई संस्था' शीर्षक से इस मैनिफेस्टो को प्रकाशित करते हुए इसका स्वागत किया। प्रेमचंद ने इस मैनिफेस्टो के कुछ अंश 'हंस' में प्रकाशित किए। इस मैनिफेस्टो में कहा गया कि भारतीय समाज में एक क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहा है, पुराने विचारों तथा विश्वासों की जड़ें हिलती जा रही हैं। पिछली दो सदियों में भक्ति और वैराग्य का भावुकतापूर्ण साहित्य लिखा जाता रहा और विचार एवं बुद्धि का बहिष्कार हुआ। इस सभा का उद्देश्य है कि साहित्य को इन अप्रगतिशील वर्गों के आधिपत्य से निकालकर 'जनता के निकटतम संसर्ग' में लाया जाए, उसमें जीवन और वास्तविकता लाई जाए। इस मैनिफेस्टो में आगे कहा गया है, 'हम भारतीय सभ्यता की परंपराओं की रक्षा करते हुए अपने देश की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों की बड़ी निर्दयता से आलोचना करेंगे और आलोचनात्मक तथा रचनात्मक कृतियों से उन सभी बातों का संचय करेंगे, जिससे हम सभी मंजिल पर पहुँच सकें। हमारी धारणा है कि भारत के नए साहित्य को हमारे वर्तमान जीवन के मौलिक तथ्यों का समन्वय करना चाहिए और वह है, हमारी रोटी का, हमारी दरिद्रता का, हमारी सामाजिक अवनति का और हमारी राजनीतिक पराधीनता का प्रश्न। तभी हम इन समस्याओं को समझ सकेंगे और तभी हममें क्रियात्मक शक्ति आएगी। वह सबकुछ जो हमें निष्क्रियता, अकर्मण्यता और अंधविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है, वह सबकुछ जो हममें समीक्षा की मनोवृत्ति लाता है, जो हमें प्रियतम रूढ़ियों को भी बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमें कर्मण्य बनाता है और हममें संगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते हैं।'

इसके साथ ही 'हंस' के इस संपादकीय में 'दी इंडियन प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन'

द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों का भी उल्लेख है, जिनमें संस्था ने भारत में लेखकों की संस्थाएँ बनाने, प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि और अनुवाद करने के साथ भारत के 'सांस्कृतिक अवसाद' एवं 'भारतीय स्वाधीनता और सामाजिक उत्थान' की ओर बढ़ने का संकल्प किया तथा हिंदुस्तानी को राष्ट्रभाषा और 'इंडो-रोमन लिपि' को राष्ट्रलिपि स्वीकार कराने का उद्योग भी शामिल है।

प्रेमचंद के लिए, इस मैनिफेस्टो के उद्धृत अंश तथा स्वीकृत प्रस्तावों में से अधिकांश सहज रूप से स्वीकार्य थे, क्योंकि वे लगभग 30 वर्षों से इसी चिंतनधारा को लेकर साहित्य की रचना कर रहे थे। प्रेमचंद की प्राथमिकताएँ थीं— देश की स्वाधीनता, निर्धनता एवं शोषण से मुक्ति, भारतीय संस्कृति की मानवीय तथा मर्यादाशील परंपराओं की रक्षा, व्यक्ति और समाज का परिष्कार एवं उत्कर्ष, अंधविश्वास, जड़ता तथा निष्क्रियता को भंजित करके जाग्रत, कर्मशील, स्वाभिमानी, देशभक्त, सेवाव्रती समाज का निर्माण, आलोचना तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, भारत की मूल कृषि-संस्कृति की रक्षा तथा समाज में सामंजस्य एवं समन्वय की स्थापना आदि। प्रेमचंद ने 'इंडो-रोमन लिपि' के प्रस्ताव का अवश्य विरोध करते हुए लिखा कि हम नागरी लिपि को पूर्ण बनाकर उसे सभी भारतीय भाषाओं के लिए उपयोगी बनाना चाहेंगे।

यहाँ इस मैनिफेस्टो के उल्लेख का अभिप्राय यह है कि इसमें मार्क्स का कहीं उल्लेख नहीं है, पूँजीपतियों के शोषण तथा सर्वहारा द्वारा खूनी संघर्ष की चर्चा नहीं है और न कम्युनिस्ट पार्टी तथा रूस के लेनिन तथा स्टालिन का संकेत है और न इस 'प्रगतिशील लेखक संघ' को मार्क्सवाद तथा कम्युनिस्ट पार्टी से संबद्ध करने का ही संकल्प है। अतः प्रेमचंद लखनऊ में होनेवाले 'प्रगतिशील लेखक संघ' की अध्यक्षता को स्वीकार करते समय तथा उसका भारत में स्वागत करते समय निश्चय ही मार्क्स, लेनिन, स्टालिन, रूस तथा चीन किसी से भी प्रेरित-संचालित 'प्रगतिशील लेखक संघ' का अभिनंदन नहीं कर रहे थे। प्रेमचंद ने 'प्रगतिशील लेखक संघ' की अध्यक्षता भी अनिच्छा से स्वीकार की। उन्होंने सज्जाद ज़हीर को 15 मार्च, 1936 को लिखे पत्र में लिखा था कि मिस्टर कन्हैयालाल मुंशी, डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन, पंडित जवाहरलाल नेहरू तथा पंडित अमरनाथ झा में से किसी को सभापति बनाएँ, क्योंकि वे मुझसे अधिक उपयुक्त और बेहतर होंगे।¹ इस पर भी सज्जाद ज़हीर का दबाव रहा और उन्होंने सभापति बनना स्वीकार कर लिया। हमारे प्रगतिशील समीक्षक तथा लेखक 'प्रगतिशील लेखक संघ' को कम्युनिस्ट पार्टी एवं मार्क्सवादी चिंतन से जोड़ते समय बड़े उत्साह में कई दशकों से यह राग अलापते रहे हैं कि प्रेमचंद ने इसी चिंतन-पद्धति पर आधारित 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन का सभापतित्व किया था और उनका भाषण इसी प्रगतिशील विचारधारा का उद्घोष था। मुझे अफसोस के साथ लिखना पड़ता है कि इन सभी प्रगतिशीलों, कम्युनिस्ट पार्टी के साहित्यकारों ने यह भाषण ठीक प्रकार से पढ़ा नहीं है और यदि पढ़ा भी है तो उन्होंने प्रेमचंद की इन पंक्तियों को नज़रअंदाज़ कर दिया है, जिसमें उन्होंने कहा था कि 'प्रगतिशील लेखक संघ' यह नाम मेरे विचार में ग़लत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अगर यह उसका स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार न होता।²

प्रेमचंद की दृष्टि 'प्रगतिशीलता' के संबंध में बिल्कुल साफ़ थी। वे 'प्रगतिशील लेखक संघ' में 'प्रगतिशील' शब्द को निरर्थक मानते थे और उनकी यह कल्पना में भी नहीं हो सकता था कि बाद में इसके संस्थापक तथा उनकी कम्युनिस्ट पार्टी के लोग अपने राजनीतिक

स्वार्थों की पूर्ति के लिए इस शब्द को अपना साहित्यिक हथियार बनाकर भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य में अपनी कम्युनिस्ट विचारधारा तथा कम्युनिस्ट पार्टी का वर्चस्व स्थापित करने का प्रयत्न करेंगे। इन राजनीतिक साहित्यकारों के लिए प्रेमचंद, टैगोर, पंत जैसे शीर्षस्थ साहित्यकार तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू जैसे राजनेता भारतीय समाज में घुसने, फैलने तथा सम्मानीय स्थान बनाने के आधार बने, लेकिन यदि आप पूरे प्रगतिशील आंदोलन का इतिहास देखें तो आप पाएँगे कि इससे पैदा होनेवाला एक भी साहित्यकार या नेता इनकी ऊँचाई तक नहीं पहुँच सका। कोई छल, कपट तथा स्वार्थों की पूर्ति के लिए किसी बड़े वृक्ष, किसी बड़े व्यक्ति का सहारा तो ले सकता है, परंतु स्वयं वैसा नहीं बन सकता। प्रेमचंद के बाद डा० रामविलास शर्मा, अमृतराय, डा० नामवर सिंह आदि में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के उद्देश्यों, विचारधाराओं तथा क्रियाकलापों को लेकर इतना मतभेद हुआ कि सबने अपनी-अपनी दिशा बनाई और अब राजेंद्र यादव के जनवादी मोर्चे तक आते-आते, रूस की सत्ता के समान ही यह 'प्रगतिशील लेखक संघ' तथा कम्युनिस्ट विचारधारा भी छिन्न-भिन्न हो गई।

'मंगल-सूत्र' पर अपनी बात रखने से पूर्व मुझे इस पृष्ठभूमि की जानकारी पाठकों को देना ज़रूरी लगा, क्योंकि 'मंगल-सूत्र' पर जो तथ्य तथा विवेचन आपके सम्मुख रखूँगा, उसके लिए हिंदी साहित्य में मार्क्सवादी हस्तक्षेप के राजनीतिक चरित्र और उसके छलपूर्ण इतिहास को समझना ज़रूरी है। सबसे पहले प्रेमचंद उनके राजनीतिक स्वार्थों के शिकार बने। इसमें उन्हें जो सफलता मिली, वह शेष रूप से पंडित जवाहरलाल नेहरू की रूस-चीन भक्ति तथा उनके प्रभाव में समाजवाद के दिवास्वप्न एवं कम्युनिस्टों को राज्याश्रय प्रदान करने की नीति प्रमुख थी। पंडित नेहरू निश्चय ही इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं थे कि ये वही कम्युनिस्ट थे, जिन्होंने स्वाधीनता-संग्राम के महानायक महात्मा गांधी तथा सुभाषचंद्र बोस के लिए अपशब्दों का प्रयोग किया था तथा जो देशहित का परिचय देते हुए अँग्रेजों का साथ दे रहे थे, लेकिन भारतीय कम्युनिस्टों के प्रति उनके मन में कुछ कमजोरी थी और इन कम्युनिस्टों ने भी इस दुर्बलता का भरपूर लाभ उठाया। आपातकाल के दौरान भी जब मेरे जैसे लेखक एवं अध्यापक जेल में थे, तब भी इन कम्युनिस्टों ने इंदिरा गांधी की प्रशंसा के गीत गाए। मेरा अभिप्राय यह है कि भारतीय कम्युनिस्टों का यही प्रगतिशील चरित्र रहा है कि वे राजसत्ता तथा साहित्य के शीर्षस्थ व्यक्ति को अपना संरक्षक बनाकर उसके माध्यम से समाज में पैठ करके अपने राजनीतिक दर्शन का विस्तार करते रहे हैं। राजसत्ता, शिक्षा इतिहास, साहित्य आदि सभी क्षेत्र इनके क्रियाकलापों के रंगमंच रहे हैं और सर्वत्र चालाकी से भरा राजनीतिक खेल खेलते रहे हैं।

प्रेमचंद के साथ भी यही राजनीतिक खेल खेला गया और इसका आरंभ भी स्वतंत्रता के बाद व्यवस्थित रूप से शुरू हुआ। सन् 1947 से पूर्व, प्रेमचंद के जीवनकाल तथा उनकी मृत्यु के 10-11 वर्ष तक आपको प्रेमचंद के समीक्षा-साहित्य में प्रायः इस मार्क्सवादी हस्तक्षेप की पगध्वनियाँ नहीं मिलेंगी। डा० रामविलास शर्मा ने सन् 1941 में 'प्रेमचंद' शीर्षक से लिखी अपनी समीक्षात्मक पुस्तक में प्रेमचंद को 'मार्क्सवादी' के स्थान पर भारतीयतावादी बताते हुए लिखा था, 'प्रेमचंद ने साहित्य की किसी हद तक वही व्याख्या की है, जिसे हम भारतीय कहने के आदी हैं।' प्रेमचंद के साहित्य इस प्रकार की व्याख्या करना उन पर इस युग के और उसकी भारतीयता के प्रभाव को बताता है। साहित्य में रस की सृष्टि, उसका ध्येय आनंद-मात्र होना,

प्रेमचंद की 'भारतीयता' का प्रमाण है।³ डा० रामविलास शर्मा ने इस पुस्तक के अंत में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के भाषण में 'प्रगतिशील' शब्द को तथ्यहीन बताने के प्रेमचंद के दृष्टिकोण तक का समर्थन किया और लिखा कि केवल नाम का बिल्ला लगाने से कोई प्रगतिशील या अन्य रूप में महान साहित्यिक नहीं हो जाता, प्रेमचंद के लिए साहित्य का ही अर्थ प्रगति था।⁴ लेकिन स्वतंत्रता के बाद मार्क्सवादी समीक्षकों ने प्रेमचंद को मार्क्सवादी लेखक सिद्ध करने का संगठित प्रयास किया और उनके कुछ लेखों 'पुराना जमाना', 'नया जमाना' तथा 'महाजनी सभ्यता', कुछ कहानियों 'पूस की रात', 'ठाकुर का कुआँ', 'सद्गति', 'कफ़न' आदि, कुछ उपन्यासों 'प्रेमाश्रम' में बलराज का कथन कि रूस-बलगारी देश में 'कास्तकारों का राज' है।⁵ 'गोदान' में किसान का संघर्ष (जो उपन्यास में है ही नहीं) तथा 'मंगल-सूत्र' उपन्यास में देवकुमार का अपने 'चिर संस्कारों' (धर्म, नीति, न्याय आदि) से स्खलित होकर इस निष्कर्ष पर पहुँचना कि 'दरिंदों के बीच में, उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा', आदि के उल्लेख से इसे प्रमाणित करने की चेष्टा भी की, लेकिन आश्चर्य है कि किसी अन्य समीक्षक या विद्वान ने इन मार्क्सवादी समीक्षकों से यह प्रश्न नहीं किया कि इन दो-तीन प्रतिशत रचनाओं के व्यक्त विचारधाराओं के आधार पर उन्हें कैसे मार्क्सवादी रचनाकर घोषित कर दिया? एक आश्चर्य और भी है कि इन मार्क्सवादियों ने प्रेमचंद द्वारा साम्यवादियों पर किए गए व्यंग्य पर भी ध्यान नहीं दिया। 'गोदान' में ही प्रेमचंद ने इन साम्यवादियों के बारे में प्रो० मेहता से कहलवाया है, 'मैं केवल इतना जानता हूँ, हम या तो साम्यवादी हैं या नहीं हैं। हैं तो उसका व्यवहार करें, नहीं हैं, तो बकना छोड़ दें। ... धन को आप किसी अन्याय से बराबर फैला सकते हैं, लेकिन बुद्धि को, चरित्र और रूप को, प्रतिभा और बल को बराबर फैलाना तो आपकी शक्ति के बाहर है।... आप रूस की मिसाल देंगे। वहाँ इसके सिवाय और क्या है कि मिल के मालिक ने राजकर्मचारी का रूप ले लिया है।' ⁶ यहाँ यह ध्यान रखनेवाला तथ्य है कि मार्क्सवादी समीक्षक डा० रामविलास शर्मा के अनुसार प्रो० मेहता एवं होरी मिलकर प्रेमचंद बनते हैं। यदि प्रो० मेहता के ये विचार प्रेमचंद के ही हैं तो ये मार्क्सवादी सोचें कि वे प्रेमचंद को मार्क्सवादी सिद्ध करके कितना बड़ा साहित्यिक अपराध कर रहे हैं।

'मंगल-सूत्र' उपन्यास में भी इसी प्रकार इन समीक्षकों ने 'मार्क्सवादी मंगल-सूत्र' को आरोपित करके यह लिख दिया कि प्रेमचंद का अपने अंतिम समय में गांधीवाद से मोहभंग हो गया था और वे मार्क्स की हिंसक क्रांति के समर्थक हो गए थे, परंतु इस निष्कर्ष की सत्यता-असत्यता को सिद्ध करने से पहले यह आवश्यक है कि हम 'मंगल-सूत्र' के उपलब्ध पाठ की कथा-संरचना तथा पात्रों के व्यक्तित्व, विचारों एवं संघर्षों के साथ लेखक के दृष्टिकोण को भी समझें। इस अधूरे उपन्यास के केवल चार परिच्छेद ही उपलब्ध हैं। इसका पहला प्रकाशन 'हंस' के फरवरी, 1948 के अंक में हुआ तथा इसके साथ ही बाद में हिंदुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद ने इसे पुस्तकाकार प्रकाशित किया। उस समय यह ख़बर भी थी कि प्रेमचंद के पुत्र अमृतराय इसे पूरा करके प्रकाशित कराएँगे, परंतु ऐसा नहीं हो पाया और अंत में प्रेमचंद की हस्तलिपि में उपलब्ध पाठ ही प्रकाशित हुआ। 'मंगल-सूत्र' के उपलब्ध चार परिच्छेदों में वर्णित कथा एवं पात्र-संरचना का अवलोकन यहाँ आवश्यक है—

(1) पहले परिच्छेद में प्रेमचंद ने साहित्यकार देवकुमार, उनकी पत्नी शैव्या, दो पुत्रों संतकुमार

एवं साधुकुमार, पुत्री पंकजा का परिचय दिया है तथा उनके व्यक्तित्व की विशेषताओं को उद्घाटित किया है। देवकुमार एक प्रसिद्ध साहित्यकार हैं, उनकी 'आत्मा' विशाल है, उनमें 'आत्मसम्मान' एवं 'आत्मसंतोष' है, कि उन्होंने 'कंचन' के स्थान पर 'सौंदर्य-भावना' की उपासना की है, क्योंकि उनका विश्वास है कि 'जिस राष्ट्र में तीन-चौथाई प्राणी भूखों मरते हों, वहाँ किसी को बहुत धन कमाने का नैतिक अधिकार नहीं है। उन्हें साहित्य से खूब यश मिला है और इससे उनमें आत्मगौरव का भाव है, परंतु इधर उन्हें अपनी दो पुस्तकों से पहले जैसा आदर न मिला तो उन्होंने लेखन से संन्यास ले लिया। वे गृहस्थ के बंधन से मुक्त होना चाहते थे, परंतु बड़े बेटे संतकुमार ने उन्हें दुःखी किया हुआ है। वह पिता द्वारा पचास वर्ष पूर्व बेची गई संपत्ति को वापिस लेना चाहता है और अपनी माँ शैव्या के समझाने पर भी कहता है कि इसकी परीक्षा हो जाएगी कि पिता को अपनी 'संतान' प्यारी है या अपना 'महात्मापन'। संतकुमार ठाठ से जीना चाहता है और साफ़ कहता है कि पिता को 'बाप-दादों की जायदाद' को लुटाने का अधिकार नहीं है। प्रेमचंद ने आरंभ में ही इसकी चर्चा की है कि देवकुमार ने अपनी जवानी में यह जायदाद 'भोग-विलास' और 'साहित्य के अनुष्ठान' में बरबाद कर दी थी।

इस प्रकार पहले परिच्छेद में ही प्रेमचंद ने उपन्यास की मूल समस्या का बीजारोपण कर दिया है। एक ओर साहित्यकार देवकुमार हैं, जिन्होंने चाहे युवावस्था में खूब भोग-विलास किया है, लेकिन वे अब नैतिकता से परिपूर्ण जीवन जी रहे हैं। उनका बेटा संतकुमार उनके इस कंचनविहीन, संवेदनशील, स्वाभिमानी, यशपूर्ण जीवन जी रहे हैं। उनका बेटा संतकुमार उनके इस कंचनविहीन, संवेदनशील, स्वाभिमानी, यशपूर्ण जीवन को 'महात्मापन' कहकर उसी प्रकार आलोचना करता है, जैसे—'गोदान' में होरी का बेटा गोबर बाप के 'धर्मात्मापन' ⁷ को उसकी दुर्गति का कारण मानता है, लेकिन यहाँ अंतर यह है कि जहाँ होरी में परंपरागत हिंदू किसान की विवशता है, वहाँ संतकुमार अपने विलासमय जीवन के लिए शहरी शिक्षित युवक के छल और चालाकी से भरे व्यक्तित्व का परिचय देता है। प्रेमचंद इस परिच्छेद में दो विरोधी शक्तियों को परस्पर संघर्ष के लिए तैयार कर देते हैं। एक शक्ति है संतोष की, नैतिकता की, धर्म की, वचन की और दूसरी है असंतोष की, अनैतिकता की, अधर्म की, वचन-भंग की। प्रेमचंद पहली शक्ति के साथ हैं और वे जानते हैं कि दूसरी शक्ति से द्रढ़ होना ही है, चाहे धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, नैतिकता-अनैतिकता में हो और चाहे बाप-बेटे की दो विचारधाराओं तथा जीवनदृष्टि में। संतकुमार ठीक कहता है कि उसके पिता देवकुमार को अपने 'महात्मापन' और 'संतान' में से एक को चुनना होगा। यहाँ देवकुमार का 'महात्मापन' वही है, जिसके लिए प्रेमचंद आरंभ से ही अपने साहित्य में लड़ते रहे हैं। यह उनके अनुसार, 'सु' और 'कु' की लड़ाई है और 'सत्य' एवं 'असत्य' का संघर्ष भी। प्रेमचंद ने मार्च, 1932 को 'हंस' में अपने 'परितोष' लेख में लिखा भी था कि 'सत्य और असत्य का संघर्ष' साहित्य का मुख्य आधार है और यह तब तक रहेगा, जब तक 'साहित्य की सृष्टि' होती रहेगी। यही कारण है कि 'रामायण' और 'महाभारत' काल से लेकर बीसवीं सदी तक बराबर यह संघर्ष चलता रहा है। ⁸

(2) दूसरे परिच्छेद में प्रेमचंद संतकुमार और उसकी पत्नी पुष्पा की कथा आरंभ करते हैं। यहाँ भी संतकुमार का अंहकार, कपट एवं छलपूर्ण व्यवहार, मौरूसी जायदाद को वापिस लेने का 'धर्म' तथा पत्नी को अनुकूल बनाने के लिए, 'नीति' और 'धर्म' तक के समर्थन से उनका पूर्व

चरित्र ही विकसित होता है। वह चाहता है कि पत्नी अपने पिता से दस हजार रुपए ले आए, जिससे वह, 'महात्माओं' से मुकदमा लड़कर जायदाद वापिस ले सके। वह इसके लिए धर्म एवं नीति तक का समर्थन करते हुए कहता है, 'इस गए-गुजरे ज़माने में भी समाज पर धर्म और नीति का ही शासन है। जिस दिन संसार से धर्म और नीति का नाश हो जाएगा, उसी दिन समाज का अंत हो जाएगा।' ⁹ 'इसी परिच्छेद में साधुकुमार तथा पुष्पा की भी लंबी बातचीत है। वह 'आदर्शवादी, सरल प्रकृति, सुशील और सौम्य युवक है' तथा पिता का समर्थक एवं भाई की धनलिप्सा का आलोचक है। उसे बंबई टीम के साथ खेलने जाना है, उसमें 'सैकड़ों का खर्च है लेकिन वह पिता का 'गला दबाना' नहीं चाहता। वह कहता है, 'जिस मुल्क में दस में नौ आदमी रोटियों को तरसते हो, वहाँ दस-बीस आदमियों का क्रिकेट के व्यसन में पड़े रहना मूर्खता है।' ¹⁰ वह इस कारण 'धनी' होने को 'स्वार्थाधता' मानते हुए आगे कहता है, 'मैं जब कभी धनी होने की कल्पना करता हूँ तो मुझे शंका होने लगती है कि न जाने मेरे मन में क्या हो जाए। इतने ग़रीबों में धनी होना मुझे तो स्वार्थाधता-सी लगती है।' ¹¹ वह पुष्पा से कहता है कि वह 'सेवक' बनना चाहता है और यदि शादी की तो ऐसी लड़की से जो 'ग़रीबी की ज़िंदगी' बसर करने पर राज़ी होगी। इस परिच्छेद के अंत में पुष्पा भी इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि यदि वह 'विलास का मोह' त्याग दे और 'त्याग' सीख ले तो फिर वह किसी से क्यों दबेगी? पुष्पा की इस मनोवृत्ति को स्थाई बनाने के लिए प्रेमचंद ने 20-25 मजदूरनियों के दल को शाम के समय, मजदूरी करने के बाद गीत गाते हुए घर लौटते दिखाया है। प्रेमचंद इनकी दर्दनाक ग़रीबी, शोषण, कठोर श्रम के बावजूद यह टिप्पणी करते हैं, 'फिर भी कितनी प्रसन्न थीं। कितनी स्वतंत्र। इनकी इस प्रसन्नता का, इस स्वतंत्रता का क्या रहस्य है।' ¹²

इस प्रकार इस परिच्छेद में भी प्रेमचंद धर्म, नीति, आदर्श, सरल प्रकृति, सुशीलता, निर्धनता में संतोष, प्रसन्नता, स्वतंत्रता के मानवीय गुणों को ही महत्त्व देते हैं और संतकुमार, साधुकुमार तथा पुष्पा सभी को इसका समर्थक दिखाते हैं।

(3) इस परिच्छेद में संतकुमार तथा उसके सहपाठी वकील मि० सिन्हा के संयोग से जायदाद को हथियाने के लिए मुकदमा दायर करने का निश्चय होता है। वकील साहब घाघों के भी घाघ थे और क़ानून की उपासना से अधिकांश भौतिक सुविधाएँ प्राप्त कर ली थीं। वकील साहब मानते हैं कि सभी लेखक 'सनकी' और 'पूरे पागल' होते हैं, अतः वे सिद्ध कर देंगे कि जायदाद बेचते समय देवकुमार के दिमाग़ में खलल थी। वकील साहब संतकुमार को, जज साहब की 'अप्सरा' एवं 'चंचल' बेटि तिब्बी (त्रिवेणी) को काबू करने के लिए प्रेरित करते हैं। वह तिब्बी से राह-रस्म पैदा करता है, पत्नी पुष्पा के फूहड़पन, बेवकूफी असहृदयता और निष्ठुरता की शिकायत करके उसकी हमदर्दी लेना चाहता है, परंतु तिब्बी विवाह को 'धर्म-बंधन या रिवाज' नहीं, 'प्रेम-बंधन' के रूप में देखती है। यदि प्रेम नहीं है तो बंधन को तोड़ देना चाहिए। तिब्बी ऐसे व्यक्ति की तलाश में है, जो उसके हृदय में सोए प्रेम को जगा सके। उसने जीवन का उज्ज्वल पक्ष-सुख, सुविधा, अधिकार आदि, खूब देखा है, 'श्रम और त्याग का जीवन ही मुझे तथ्य जान पड़ता है। आज तो समाज और देश की दूषित अवस्था है, उससे असहयोग करना मेरे लिए जुनून से कम नहीं है। मैं कभी-कभी अपने ही से घृणा करने लगती हूँ। बाबूजी को एक हजार रुपए अपने छोटे से परिवार के लिए लेने का क्या हक़ है और मुझे

बे-काम-धंधे इतने आराम से रहने का क्या अधिकार है?’¹³ लेखक कहता है कि इन कथनों में तिब्बी की ‘आत्मा’ बोल रही थी, लेकिन वह संतकुमार के छलपूर्ण व्यवहार से इतनी प्रभावित हो जाती है कि वह पुष्पा को दोषी तथा संतकुमार को ‘सत्यपुरुष’ तथा ‘देवत्व’ से परिपूर्ण माने लगती है, क्योंकि संतकुमार जायदाद के लिए मुकदमा दायर करेगा और जज की बेटी तिब्बी उसकी किसी-न-किसी रूप में मदद करेगी।

इस परिच्छेद में भी प्रेमचंद ने त्याग, उत्सर्ग, श्रम, अमीरी की अमानवीयता तथा गरीबी की कर्मशीलता एवं मानवीयता की ही स्थापना की है। तिब्बी में अमीरी से घृणा तथा गरीबी को अपनाने का विचार उत्पन्न करके प्रेमचंद अपने मूल उद्देश्य ‘धन से दुश्मनी’ को ही स्थापित कर रहे हैं।

(4) इस परिच्छेद में देवकुमार की चिंतनधारा के परिवर्तन से कथा का विकास होता है। संतकुमार और उसका वकील मित्र, देवकुमार के सामने जायदाद वापिस लेने की ‘कुटिल चाल’ रखते हैं, परंतु वे अपनी ‘आत्मा को कलुषित’ नहीं करना चाहते थे। वे अपनी मर्यादा, ‘सिद्धांत’, ‘धर्म-बंधन’ तथा ‘सत्य’ के मार्ग को छोड़ना नहीं चाहते। वे कहते भी हैं, ‘मैं सत्य की हत्या होते नहीं देख सकता। मैं थोड़े से रुपए के लिए अपनी आत्मा नहीं बेच सकता।’¹⁴ वह कहते हैं कि उन्होंने सोच-समझकर जायदाद बेची थी। उनका बेटा संतकुमार जब उन्हें ‘पागल’ घोषित करने तथा ‘हिरासत’ में भेज देने की धमकी देता है तो वह बेटे को ‘गोली मार’ देने की धमकी देता है। उनका निश्चय था कि वे असत्य का, धाँधली का, सिद्धांत को तोड़कर व्यावहारिकता का सहारा नहीं लेंगे। वह संतकुमार की ‘दंगाबाजी’ तथा उसके ‘कलंक’ एवं समाज में उसकी ‘चितकबरी आलोचना’ से इतने दुखी हुए कि घर में ही ‘मुँह छिपाए’ बैठे रहते हैं। छोटे बेटे साधु ने जब गंगा में डूबते आदमी को बचाया तो उन्हें अपने ‘प्राप्त यश’ की खुशी के समान ही खुशी हुई, अर्थात् छल, कपट, झूठ के स्थान पर सेवा, बलिदान आदि से उनकी आत्मा आनंद का अनुभव करती थी।

प्रेमचंद अपने चरित्रों को सजीव तथा मनुष्य बनाने के लिए उनमें मानवीय दुर्बलताओं की उद्भावना करते हैं और इससे वे कथा तथा चरित्र का विकास करते हैं। ‘साहित्य का उद्देश्य’ पुस्तक में संकलित लेख ‘उपन्यास’¹⁵ में उन्होंने इसी महत्त्वपूर्ण लक्ष्य के बारे में लिखा है, ‘चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह निर्दोष हो—महान से महान पुरुषों में भी कुछ-न-कुछ कमजोरियाँ होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती, बल्कि यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बनाती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जाएगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे।’¹⁶ प्रेमचंद के उपन्यास और कहानियों के असंख्य पात्रों में, इसी कारण, दुर्बलताओं से युक्त देवता-मनुष्यों के दर्शन होते हैं। प्रेमचंद अपने नायकों, नायिकाओं में मानवीय दुर्बलताओं का दिग्दर्शन कराते हैं, परंतु वे उन्हें कालिमा से ‘उज्वलता’ की ओर भी उन्मुख करते हैं। ‘मंगल-सूत्र’ में, अपने इसी सृजन सिद्धांत के अनुसार, वे देवकुमार जैसे सत्य, न्याय, धर्म पर चलनेवाले साहित्यकार में भी मानवीय कमजोरियों का उद्भव करते हैं। देवकुमार पहली बार ऐसे ‘आत्म-मंथन’ से गुजरता है कि इस ‘अनीतिपूर्ण संसार में धर्म-अधर्म’ का विचार गलत है, ‘देवता’ बनना मूर्खता है। धनी कुछ भी कर सकता है, निर्धन को सभी दबाते हैं। वह ‘पितरों को पिंड-दान’ देने, रात में मित्रों

के साथ 'मुजरा' सुनने तथा नाटक-मंडली में हजारों रुपयों को डुबाने को 'पागलपन' मानते हुए सोचता है कि 'मनुष्य में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिदों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनाना देवतापन नहीं, जड़ता है।' ¹⁷ इस निष्कर्ष पर पहुँचकर देवकुमार के, लेखक के अनुसार, 'चिर संस्कारों' को आघात लगा, परंतु वे प्रसन्न थे जैसे—उन्हें, कोई नया मंत्र मिल गया हो। इसके बाद वे सेठ गिरधरदास के पास पहुँचकर पुरानी जायदाद को वापिस लेने के बेटे के प्रयास पर बातचीत करते हुए झगड़ पड़ते हैं। गिरधरदास समझाने का प्रयत्न करता है कि जो चीज़ बिक जाती है, वह क़ानूनन किसी दाम पर भी वापस नहीं हो सकती। प्रेमचंद यहाँ गिरधर के साथ देवकुमार को भी 'लड़ने-वाले कुत्तों' के रूप में देखते हैं। घर लौटकर देवकुमार बेटे संत और वकील सिन्हा को मुकदमा दायर करने की सहर्ष अनुमति दे देता है लेकिन इसके लिए धन की आवश्यकता थी। देवकुमार ने जीवनपर्यंत धन की उपासना नहीं की थी, लेकिन अब अपने प्रेमियों और भक्तों से खुले शब्दों में आर्थिक सहायता की याचना कर रहे थे। प्रेमचंद पुनः इस पतन पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि वह 'आत्मगौरव' जैसे 'कब्र' में सो गया हो। इस पर उनके भक्तों ने साठवीं सालगिरह पर एक थैली भेंट करने का निर्णय किया। यहाँ प्रेमचंद ने फिर उनकी पतितावस्था में द्वंद्व का चित्रण किया है। कार्यक्रम में जाने से पूर्व देवकुमार के मन में उल्लास नहीं 'अवसाद' है, धन का दान लेते समय 'लज्जा' का भाव है, 'आत्मसम्मान' विद्रोही है। लेखक लिखता है, 'नेकनामी की लालसा एक ओर खींचती थी, लोभ दूसरी ओर।' ¹⁸ उनकी लोभवृत्ति अपने नीति-कौशल से इस दान को 'प्राविडेंट फंड' तथा 'पेंशन' मानकर उन्हें समझा लेती है और उनके 'पोले मुख' पर हल्की-सी सुर्खी दौड़ जाती है। प्रेमचंद देवकुमार के इस पर्व, हर्ष तथा विजय में पतन की विजय का ही संकेत देते हैं।

'मंगल-सूत्र' के नायक और प्रख्यात साहित्यकार देवकुमार का यह पतन, कुछ दृष्टि में परिवर्तन, क्या मार्क्सवादियों का 'मंगल-सूत्र' है अथवा प्रेमचंद जिस 'मंगल-सूत्र' की तलाश में हैं, उस तक पहुँचने के लिए, 'देवता' को मनुष्य बनाया गया है? अधूरे उपन्यास के अंत में देवकुमार की यह 'विजय' क्या उसे वास्तव में बड़ा बनाती है अथवा कथा और चरित्र के विकास के लिए एक मोड़ के रूप में चित्रित की गई है? प्रेमचंद की दृष्टि बिल्कुल साफ़ है। उन्होंने अपने लेख 'उपन्यास' में लिख है कि भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई-बड़ाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जाएगा कि जिन पर उसने विजय पाई है। ¹⁹ 'मंगल-सूत्र' के 'प्रेमचंदीय मंगल-सूत्र' को समझने के लिए उनका यह कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस कथन के कारण तथा कथानायक के साहित्यकार होने के कारण इस उपन्यास को समीक्षकों ने 'आत्मकथामूलक' माना है। प्रेमचंद की 'जीवन-चरित्र' की धारणा भी इसी मत को पुष्ट करती है। यह पहला उपन्यास है जिसमें उन्होंने साहित्यकार के रूप में स्वयं को केंद्र में रखा है, लेकिन यहाँ प्रश्न यह है कि देवकुमार की यह 'विजय' है या कुछ और। प्रेमचंद के अनुसार यह विजय नहीं है, मनुष्य का कमजोरियों में गिरना है। यह देवकुमार की पराजय है, क्योंकि वह मनुष्य की दुर्बलताओं के सम्मुख नतमस्तक होता है। यह उसका वैचारिक एवं चारित्रिक पतन है, साठ वर्ष की सत्य, न्याय, सेवा, धर्म आदि की उपलब्धियाँ धन के लालच और चाटुकारिता में बदल जाती हैं। लोभ-प्रवृत्ति

उनके आत्मगौरव, आत्मसम्मान, नीति एवं सत्यपोषण के गुणों को नष्ट करके उन्हें सभी मानवीय मूल्यों से शून्य बना देती है। देवकुमार का यह पतन कथा के विकास के लिए ज़रूरी है, लेकिन यदि उपन्यास पूरा हो सका होता तो प्रेमचंद निश्चय ही, अपनी सृजन-प्रवृत्ति की परंपरा के अनुसार उन्हें इस कीचड़ से निकालकर उनका परिष्कार करते और वास्तविक 'मंगल-सूत्र' को पाठकों को समर्पित करते।

प्रेमचंद के इस अभिप्रेत 'मंगल-सूत्र' के प्रमाण के लिए एक अत्यंत प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध है। प्रेमचंद के बड़े पुत्र श्रीपतराय ने मन्मथनाथ गुप्त को 18 मई, 1950 को लिखे पत्र में इसी सूत्र का उद्घाटन करते हुए लिखा था, 'उन्होंने अपने अंतिम और असमाप्त उपन्यास की आलोचना मेरे साथ की थी।' वे 'गोदान' की तरह इसे बहुत-कुछ आत्मकथामूलक बनाना चाहते थे, पर 'गोदान' में जहाँ वातावरण दूसरा है, इसमें वह शहरात होता। इसमें वे अपने मानदंडों के अनुसार यह दिखाना चाहते थे कि सफलता के लिए चालाकी (Craft) अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं है। वे इस उपन्यास में यह दिखाना चाहते थे कि एक ईमानदार, परिश्रमी और सीध-सादा आदमी ऐसी सफलता प्राप्त कर सकता है, जिसे देखकर लोग ईर्ष्या करें, और यह जगत सुरुचिपूर्ण मान्यताओं के संपूर्ण विरुद्ध नहीं है। मेरा ऐसा विश्वास है कि वे ऐसा समझते थे कि उन्हें अपने जीवन में सफलता प्राप्त हुई है, और ऐसा वे उचित कारणों से समझते थे, ऐसा मेरा अनुमान है। उनका जीवन ईमानदारी का एक मूर्त रूप था, जिसे युगों तक लोग याद करेंगे। इसे सभी मानते हैं और एक जीवन के लिए उन्होंने बहुत कुछ किया, यह भी निःसंदेह है।²⁰

प्रेमचंद-समीक्षा का इतिहास बताता है कि मार्क्सवादी समीक्षक मन्मथनाथ गुप्त तथा प्रेमचंद के बड़े पुत्र श्रीपतराय के इस साक्ष्य और प्रमाण को भी 'प्रगतिशील' समीक्षकों ने बिल्कुल महत्त्व नहीं दिया और इन वस्तुवादियों ने इस प्रमाण की उपेक्षा कर दी। इसकी उपेक्षा उनके हित में थी। आश्चर्य तब होता है, जब इन प्रगतिशील समीक्षकों, शोधकर्ताओं ने 'प्रगतिशील लेखक संघ' में दिए भाषण तक की उपेक्षा कर दी। ये बस इससे प्रसन्न रहे कि प्रेमचंद ने प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की (कुछ को तो यह भी ज्ञात नहीं है कि वे इसके संस्थापक नहीं थे) तथा इसकी अध्यक्षता की। इस भाषण को यदि इन प्रगतिशील विद्वानों ने पूरा पढ़ लिया होता तो वे कुछ तो उनकी भारतीयता को समझते। इस भाषण में वे कहते हैं कि 'नीतिशास्त्र' और 'साहित्यशास्त्र' एक हैं। उसका लक्ष्य है—सुरुचि जगाना, आध्यात्मिक-मानसिक तृप्ति देना, शक्ति और गति उत्पन्न करना, कठिनाइयों पर विजय पाने के लिए सच्चा संकल्प एवं दृढ़ता तथा सच्चाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता, आध्यात्मिक सामंजस्य आदि भावों को पुष्ट करना, मन का संस्कार करना, धन-वैभव से मुक्ति एवं सेवा-उपासना की सार्थकता, सादा जीवन तथा ऊँची निगाह एवं स्वार्थमयता से मुक्ति।²¹ यह संपूर्ण शब्दावली तथा विचारसूत्र 'प्रगतिशील लेखक संघ' के अधिवेशन में दिए व्याख्यान के ही हैं। कोई भी मार्क्सवादी लेखक-समीक्षक बताए कि क्या वे इसमें 'मार्क्सवादी मंगल-सूत्र' देखते हैं या 'भारतीय मंगल-सूत्र' और क्या वे इस भाषण के गुणों से युक्त देवकुमार को मार्क्सवादी मानते हैं या पतनशील देवकुमार को? प्रेमचंद अपने भाषण में शुद्ध भारतीय हैं, भारतीयता के तत्त्वों को लेते हैं और कहीं भी मार्क्स की शब्दावली का उपयोग नहीं करते। देवकुमार एक साहित्यकार है, अतः प्रेमचंद के विचार में उसे आदर्शवादी ही होना है। प्रेमचंद ने अप्रैल, 1932 में 'हंस' में

लिखा था, 'साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांछनीय है। जब तक हमारे साहित्य-सेवी इस आदर्श तक न पहुँचेंगे तब तक हमारे साहित्य में मंगल की आशा नहीं की जा सकती।' ²² प्रेमचंद इसी 'मंगल' के लिए 'मंगल-सूत्र' की तलाश करते हैं। 'मंगल-सूत्र' पूरा होता तो देवकुमार अपनी दुर्बलता को जीतकर इसी मंगल-सूत्र का पर्याय होता। जहाँ तक देवकुमार के दरिदों से लड़ने का प्रश्न है, क्यों इसे मार्क्स की खूनी क्रांति से जोड़ा जाए? मेरे विचार से इसे अधर्म से युद्ध करने की भारतीय परंपरा में देखा जाए? भगवान कृष्ण अधर्म से लड़ने के लिए अर्जुन को पलायन-कायरता से मुक्त कर युद्ध के लिए तत्पर करते हैं। चाणक्य अपने शत्रुओं का समूल नाश करता है। गोस्वामी तुलसीदास आसुरी प्रवृत्तियों से युद्ध करने के लिए राम के हाथ में धनुष-बाण देते हैं। अतः देवकुमार यदि दरिदों (मानवता के शत्रुओं) से लड़ने के लिए हथियार बाँधने के लिए कहता है तो वह इसी जातीय परंपरा का अनुसरण करता है। अंतर केवल यह है कि देवकुमार सत्य, नीति, त्याग, धर्म के स्थान पर अपने स्वार्थ के लिए हथियार उठाना चाहता है। प्रेमचंद इसे भली-भाँति जानते हैं, इसलिए वे इसे केवल एक उक्ति के रूप में ही इस्तेमाल करते हैं।

भारतीय चिंतन तथा जीवन-दृष्टि 'अनीति', 'अधर्म' एवं 'असत्य' के विरुद्ध धर्मयुद्ध का आह्वान करती है, लेकिन देवकुमार का युद्ध स्वयं उसकी अनीति और दुर्बलताओं की उपज है। वह वेश्याओं के मुजरे में धन बहाता है, पितरों के पिंड-दान में पंडितों का घर भरता है और साहित्यिक संतुष्टि तथा यश के लिए नाटक-मंडलियों पर धन लुटाता है और इसी आर्थिक दबाव में अपनी जायदाद बेचता है। इस बेची जायदाद को वापस लेने की क़ानूनी लड़ाई का कोई नीतिगत आधार नहीं है। भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा जयशंकर प्रसाद ने अपनी धन-संपत्ति का बड़ा हिस्सा इसी प्रकार लुटा दिया था, इसे सारा हिंदी-संसार जानता है, परंतु वे इतने मूर्ख नहीं थे कि भोग-विलास-यश के लिए बेची गई संपत्ति को वापस लेने के लिए क़ानूनी लड़ाई शुरू करें और यह कहें कि संपत्ति को वापस लेने के लिए हथियार उठाने होंगे। इस युद्ध की नैतिकता तब थी, जब क्रेता ने देवकुमार से छल, कपट और आँखों में धूल झाँककर या बेचने के समय के दामों से, अपनी चालाकी या धूर्तता से बहुत कम कीमत दी हो। यह भी ध्यातव्य है कि संपत्ति पचास वर्ष पूर्व बेची गई थी, अर्थात् सन् 1886 में ('मंगल-सूत्र' की रचना के 50 वर्ष पूर्व) वह जायदाद लेखक के अनुसार दस हजार में तथा संतकुमार के अनुसार 'बीस हजार' में बेची गई। मैं संतकुमार के उल्लेख को सच मानता हूँ, क्योंकि वहीं व्यक्ति है, जिसने जायदाद को वापस लेने का युद्ध शुरू किया है। इस समय यह जायदाद 'बीस हजार' की थी, 'मंगल-सूत्र' के रचनाकाल में वह 'दो लाख' की हो गई और यदि वह सन् 1998 में बेची जाती तो 8-10 करोड़ की होती। इस प्रकार यदि संतकुमार तथा देवकुमार के तर्कों को माना जाए तो 30-40 वर्ष पूर्व बेची गई संपत्तियाँ आज के वारिसों को वापस ले लेनी चाहिए और यदि यह संभव हो सके तो इन वारिसों के पूर्वजों ने जिन लोगों से जायदाद और ज़मीन ख़रीदी थी, उनके वारिस भी उनसे ऐसी सभी जायदाद को वापस लेने का क़ानूनी अधिकार क्यों छोड़ना चाहेंगे? अर्थ यह है कि संतकुमार की क़ानूनी लड़ाई हास्यास्पद है, देश के क़ानूनों के विरुद्ध है, क्रेता-विक्रेता के सिद्धांतों के विरुद्ध है, अतः जब देवकुमार जैसा साहित्यकार जो नीति, सत्य और धर्म पर चलता रहा है, अपने बेटे संतकुमार की मूर्खतापूर्ण क़ानूनी दाव-पेंच का

समर्थन करता है तो क्या ये मार्क्सवादी समीक्षक यह समझते हैं कि प्रेमचंद इन मूर्खताओं के समर्थक बन जाते हैं? प्रेमचंद का कितना ही गांधीवाद से मोह-भंग हुआ होता, (जो कि वास्तव में हुआ नहीं था) तब भी वे इस अनीति, असत्य तथा धूर्तता का साथ नहीं दे सकते थे। मार्क्सवादी लेखक प्रेमचंद को 'गांधीवाद' से मोह-भंग के नाम पर, उन्हें मार्क्सवादी बनाने तथा उसे प्रमाणित करने के राजनीतिक षड्यंत्र के लिए उन्हें इतना नीचे गिरा सकते हैं, यह कोई सोच भी नहीं सकता था। प्रेमचंद का स्वयं का जीवन देवकुमार जैसा ही था। उन्हें नीति, सत्य, धर्म प्यारा था। उन्हें कई व्यक्तियों ने आर्थिक दृष्टि से लूटा भी, लेकिन उन्होंने देवकुमार के समान न तो अपने पुत्र की 'कुटिल चालों' का समर्थन किया और न स्वयं ही ऐसी चालों से धन कमाया। हमारे मार्क्सवादी देवकुमार की एक उक्ति को ले उड़ें हैं। वे उसके पूर्व के व्यक्तित्व को नहीं देखते और न बाद के परिवर्तित रूप को और न उन कारणों को ही देखते हैं, जिसके कारण देवकुमार अपने बेटे संतकुमार से कानूनी लड़ाई शुरू करने के लिए कहता है। मार्क्सवादियों को पूरे प्रेमचंद साहित्य में ऐसी ही पाँच-छः उक्तियाँ मिलती हैं, लेकिन इनसे वे 8-10 हजार पृष्ठों को लिखनेवाले प्रेमचंद को परिभाषित कर हिंदी-संसार को दिग्भ्रमित करते रहे हैं। ये मार्क्सवादी यही लिखते रहे हैं कि इन 6-7 रचनाओं में ही वास्तविक, विकसित और स्थाई प्रेमचंद हैं, शेष साहित्य कल्पना, आदर्श और गांधीवाद पर आधारित है जो उनकी अविकसित तथा मोह-भंग का प्रतीक है। ये समीक्षक इन रचनाओं को यथार्थवाद से भी जोड़कर उनकी कलात्मक श्रेष्ठता की भी स्थापना करते हैं, जैसे मार्क्स के आने से पूर्व साहित्य में 'यथार्थवाद' था ही नहीं। प्रेमचंद ने जो यथार्थवाद तथा आदर्शोमुख यथार्थवाद की चर्चा की है, उसे भी ये मार्क्सवादी स्वीकार नहीं करते, क्योंकि प्रेमचंद का आदर्शवाद तथा ऐसा यथार्थवाद जो आदर्श की ओर उन्मुख हो, उनके मार्क्सवादी चिंतन में नहीं आता। ये समीक्षक प्रेमचंद को भी उनके साहित्यिक सिद्धांतों तथा साहित्य-चिंतन से साथ ग्रहण नहीं करते, क्योंकि उनके सिद्धांत भी मोहग्रस्ता के परिणाम हैं, ऐसा ये मानते हैं।

अंत में, प्रेमचंद के अधूरे उपन्यास 'मंगल-सूत्र' के पाठ से तथा प्रेमचंद की पूर्व मान्यताओं के आधार पर इसके अधूरेपन को पढ़कर इसके पूर्णरूप के प्रतिपाद्य को सरलता से समझा जा सकता है। प्रेमचंद का अपना जीवन, साहित्यकार के लिए उनके आदर्श तथा श्रीपतराय का साक्ष्य, इन सबसे 'मंगल-सूत्र' के 'प्रेमचंदीय मंगल-सूत्र' को स्पष्टता से समझा जा सकता है। यह 'मंगल-सूत्र' भारतीय आदर्शों पर टिका है, भारतीयता पर टिका है। देवकुमार अपने जीवन के गुणों तथा उपलब्धियों से 'मंगल-सूत्र' प्रस्तुत करेगा। उसकी पतनशील विचारधारा उसकी परीक्षा के लिए है और उसे 'मनुष्य' बनाने के लिए है। प्रेमचंद अपने नायक को परीक्षा में डालते हैं, पतनशील मनोवृत्ति उत्पन्न करते हैं और धीरे-धीरे उसे कीचड़ में कमल की तरह खिलाकर उसका परिष्कार करते हैं। देवकुमार एक बार कीचड़ में फँसता है, दलदल में गिर जाता है, परंतु उसे कमल की तरह खिलकर मनुष्य जीवन के लिए 'मंगल-सूत्र' का मंत्र देना है। यह 'मंगल-सूत्र' नीति का होगा, सत्य का होगा, धर्म का होगा और यह देवकुमार का ही नहीं, प्रेमचंद का भी होगा, पूरे समाज का होगा। मेरा और आप सबका होगा, संपूर्ण भारतीयता का होगा।

संदर्भ

1. प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य (खंड-2) सं० कमलकिशोर गोयनका, पृ० 112-123
2. साहित्य का उद्देश्य, पृ० 16-17
3. प्रेमचंद, रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, अप्रैल, 1941, सरस्वती प्रेस, बनारस कैंट, पृ० 1 तथा 11
4. वही, पृ० 182
5. प्रेमाश्रम, पृ० 51-52
6. गोदान, पृ० 45-47
7. गोदान, पृ० 21
8. प्रेमचंद के विचार, खंड 2, पृ० 122
9. प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य (खंड-1), सं० कमलकिशोर गोयनका, पृ० 30
10. वही, पृ० 31
11. वही, पृ० 32
12. वही, पृ० 34
13. मंगल-सूत्र, पृ० 42, संकलित प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य (खंड-1)
14. मंगल-सूत्र, प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य (खंड-1), सं० कमलकिशोर गोयनका-एक, पृ० 45-46
15. साहित्य का उद्देश्य पृ० 60-72
16. वही, पृ० 63
17. मंगल-सूत्र, प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य (खंड-1), पृ० 51
18. मंगल-सूत्र, प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य (खंड-1), पृ० 56
19. साहित्य का उद्देश्य, पृ० 80
20. प्रेमचंद : व्यक्ति और साहित्यकार, पृ० 357
21. साहित्य का उद्देश्य, पृ० 12-26
22. वही, पृ० 35

□ ए-98, अशोक विहार
फेज-प्रथम, दिल्ली-110052

मृदुला गर्ग के कथा-साहित्य में अर्थशक्ति और नारी डा० (श्रीमती) ज्योति सिंह

नारी में आई चेतना ने उसे अपनी अस्मिता की खोज के लिए प्रेरित किया। युगों-युगों से पुरुष के वर्चस्व-तले पिसती हुई नारी आत्मनिर्भर होकर ही उसे चुनौती दे सकती थी। पारिवारिक और सामाजिक धरातल पर शोषित वह आर्थिक क्षेत्र में पुरुष के समकक्ष पहुँचकर अद्भुत आत्मविश्वास से भर गई। यही वह बिंदु था, जहाँ से वह अपने मुक्ति-युद्ध का शंखनाद करने में समर्थ थी। विवाह-संस्था को नकारकर उसने अकेले ही जीवन-यापन करने का निर्णय लिया, किंतु समाजिक अपवाद का कारण बनी। अर्थावलंबन उसे इन समस्त अपवादों का सामना करने की शक्ति देता है। इस प्रकार पुरुष-निर्भरता से मुक्ति ने विवाह को स्वामित्व अथवा दासत्व के स्थान पर सहजीवन की मान्यता देने में अहम भूमिका निभाई है। शशिप्रभा शास्त्री, नासिरा शर्मा, प्रभा खेतान, ममता कालिया, क्षमा शर्मा, मृदुला गर्ग, उषा प्रियंवदा आदि लेखिकाओं ने अपने कथा-साहित्य में कार्यशील भारतीय नारी की उदात्त छवि को बड़े ही सार्थक ढंग से प्रस्तुत किया है।

मृदुला गर्ग का स्वयं का जीवन भी एक गृहिणी के आत्मनिर्भर होने की संघर्षपूर्ण गाथा है। लेखन-सरीखा दुस्साहसपूर्ण कार्य हाथ में लेने के लिए अर्थ की भूमिका निस्संदेह महत्वपूर्ण थी। विवाह-पूर्व अध्यापन से जोड़ी गई कमाई टाइपराइटर खरीदने के काम आई। पति के आगे हाथ न फैलाने पर भी आलोचना का पात्र बनना पड़ा। किंतु लेखन से होनेवाली कमाई निरंतर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती रही। 'लेखन से होनेवाली कमाई इतनी जरूर थी कि मैं अपना, सिर्फ अपना जीवन-यापन कर सकूँ... पारिश्रमिक एक संबल था, जो खाँटी लेखन करने देता था।' यह वक्तव्य उन समस्त संघर्षशील नारियों की कथा है, जिन्होंने अपनी अस्मिता स्थापित करने के लिए अर्थ का आधार खोजा।

मृदुला जी के कथा-साहित्य में भी अस्मिता के लिए संघर्षरत नारी अर्थोपार्जन करते हुए दृष्टिगत होती है। कहीं वह घर चलाने के निमित्त विवशतावश अर्थ का अवलंब ढूँढती है तो कहीं जीवन में आई रिक्तता को भरने के लिए कामकाज करती है। 'उसके हिस्से की धूप', 'वंशज', 'मैं और मैं', 'अनित्य', 'कठगुलाब' उपन्यासों तथा 'टुकड़ा-टुकड़ा आदमी', 'दूसरा चमत्कार', 'गुलाब के बगीचे तक', 'मौत में मदद', 'मधुप पत्रकार', 'लौटना और लौटना', 'स्थगित कल', 'मेरे देश की मिट्टी अहा', जीरो अक्स आदि कहानियों में नारी-जीवन में अर्थ की महत्ता को स्वीकारते हुए लेखिका ने आधुनिक युग में पनप रही अर्थाभावजन्य स्थितियों पर

प्रकाश डाला है।

‘उसके हिस्से की धूप’ की लेखिका मनीषा है। जितेन से मधुकर तक अस्मिता की खोज की यात्रा में ‘अर्थ’ उसके जीवन में अलग-अलग महत्ता लेकर आता है। एक बहुत बड़े व्यवसायी जितेन की पत्नी रहते हुए लेखन उसके लिए शौक मात्र था। ख़ालीपन भरने के लिए वह कहानियाँ लिखती थी और जितेन की व्यस्तता से उपजे उबारू क्षणों को भरने के लिए बंगलूर के एक कालेज में नौकरी भी करने लगी थी। दूसरी ओर, मधुकर की कम आय ने उसे नियमित नौकरी करने लिए प्रेरित किया। उसकी कहानियाँ भी बिकने लगीं। ‘उनके बदले में रूपया उसके कालेज वाले वेतन से काफी कम होते हुए भी नगण्य नहीं रह गया...पिछले महीनों में कीमतें इतनी तेज़ी से बढ़ी थी कि उसे अपना कमाना आवश्यक लगने लगा था।’²

परिवर्तित समाज तथा अर्थव्यवस्था में परिवार का पोषण केवल एक व्यक्ति की आय से संभव नहीं है। मनीषा की भाँति मध्यवर्गीय स्त्रियों को अर्थोपार्जन करके अतिरिक्त आमदनी का स्रोत ढूँढना पड़ता है। इस प्रकार आधुनिक युग की जीवन-शैली ने नारी को अनिवार्य रूप से कामकाजी बना दिया है।

‘वंशज’ (उपन्यास) की सविता जीवन में ‘अर्थ’ को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देती है। वह एक दुनियादार औरत है, जो भौतिक संपत्ति को सर्वोपरि मानती है, मानवीय संबंध उसके आगे नगण्य हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात भारतीय समाज में मूल्यों का विघटन बहुत तेज़ी से हुआ। व्यक्ति के जीवन में धन-संपत्ति का महत्त्व बढ़ता गया। भौतिक सुखों को किसी भी कीमत पर हासिल करने के लिए उसने संवेदनाओं को ताक पर रख दिया। बढ़ती महत्वाकांक्षाएँ सविता को मनुष्यता की अधोगामी दिशा में ले जाती हैं और उसे उसके नारीत्व से भी गिरा देती हैं। पति की उपेक्षा के पार्श्व में उसकी मानसिकता स्पष्ट है— ‘जैसे ही उसकी समझ में आया कि उस संभ्रांत घर की ऐश्वर्यमयी स्वामिनी बनने के लिए उसे सुधीर के नहीं, जज साहब के कंधे थामने होंगे, वह पिया-मिलन की व्यग्र रोमानी वधू से कर्तव्य-निष्ठा से ओत-प्रोत कुलवधू बन गई।’³ सविता का चरित्र उपभोक्तावादी संस्कृति के अर्थलोलुप व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। ‘अनित्य’ की संगीता इसी उपभोक्तावादी संस्कृति के शोषण की शिकार है। संगीता की माँ वेश्या थी, जो देह बेचकर अपने परिवार का भरण-पोषण करती थी। अनाथ संगीता अविजित के चंदे के पैसों से डाक्टरी की पढ़ाई पूरी करती है। आर्थिक सहायता देकर अविजित उसका दैहिक शोषण करता है। अंत तक वह शोषण की दुःखद स्मृतियों से उबर नहीं पाती। लेडी डाक्टर बनकर संगीता जीवन को आत्मनिर्भर बनाती है। अर्थ उसे एक नवीन पहचान देता है।

इसी उपन्यास की एक अन्य नारी पात्र काजल बैनर्जी मुकर्जी बाबू जैसे संपन्न और प्रतिष्ठित व्यक्ति की पत्नी है। पति की अवसरवादिता और पाखंड-भरी दुनिया में ‘मिसफिट’ काजल अपनी अस्मिता की आहुति नहीं देना चाहती अतः पति से अलग रहकर कॉलेज की नौकरी कर लेती है।

स्वर्णा का आत्माभिमान पति के झूठ से आहत होता है तो वह घर-बार छोड़कर अविजित के यहाँ आया की नौकरी करना सहर्ष स्वीकार कर लेती है। इस प्रकार ‘अनित्य’ के ये तीनों नारी-चरित्र अर्थ की शक्ति पाकर जीवन के निर्णय स्वयं लेना सीखते हैं।

‘मैं और मैं’ उपन्यास की नायिका माधवी भी आत्मतुष्टि के निमित्त लेखन-कर्म को अपनाती है। उसके समृद्ध जीवन से आकृष्ट होकर कौशल कुमार नामक लेखक उसका आर्थिक शोषण करने को उद्यत हो उठता है।

अर्थ की विपन्नता अनाथ स्मिता (कठगुलाब) को जीजा के घर में शरण लेने को विवश करती है। अहंकारी मर्द (जीजा) अपनी संपत्ति समझ उसके साथ बलात्कार करता है। उसकी बड़ी बहन नमिता पति के पैसों पर निर्भर होने के कारण ही उसके प्रति न्याय नहीं कर पाती। ‘माँ मेरी पढ़ाई चौपट न करती तो मैं इन पर इतनी आश्रित न होती। थोड़ा बहुत कमा सकती थी। अब तो इतने पैसे भी हाथ में नहीं होते कि तेरी फीस जमा करवा दूँ... हर चीज के लिए इनके आगे हाथ फैलाना पड़ता है।’⁴ आर्थिक रूप से पति पर निर्भर नारी की असहायता को नमिता का कथन बखूबी व्यक्त करता है। उपन्यास के अंत में स्मिता अपना जीवन गोधड़ के आदिवासियों के उत्थान के लिए लगाकर अपने जीवन को ऊँचा उठा लेती है, वहीं नमिता पैसे का बल पाकर अपाहिज पति के प्रति संवेदना शून्य हो जाती है।

भारतीय संस्कृति में पत्नी को अर्धांगिनी, सहधर्मिता आदि अनेक नामों से संबोधित किया गया है, किंतु व्यावहारिक स्थिति कुछ और है। घर के प्रबंध का संपूर्ण दायित्व ओढ़े उसकी दशा नौकरानी से अधिक नहीं है। विदेशों में उसकी दशा यहाँ से लगभग मिलती-जुलती है। मारियान (कभुलाब) आत्मनिर्भर होकर भी पति द्वारा शोषित होती है। उसके उपन्यास की पांडुलिपि चुराकर पति इर्विन लेखक के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है।

उपन्यास के अतिरिक्त कहानियों में भी मृदुला गर्ग ने नारी के जीवन में अर्थ के विविध रूपों का चित्रण किया है। अर्थोपार्जन शक्ति होने के साथ-साथ उसके शोषण का माध्यम भी बनता है इस सत्य को ‘दो एक फूल’ कहानी में देखा जा सकता है। मालती शर्मा अविवाहित डाक्टर है। उसके घर में झाड़ू-पोंछा करके शांतम्मा अपना घर चलाती है। उसका पति अपनी कमाई शराब के पैसों में उड़ाकर उसके साथ मारपीट करता है। यहाँ औरत दोहरे शोषण की शिकार है। अर्थ की शक्ति होते हुए भी वह अपनी नियति नहीं बदल पाती। ‘यह मैं हूँ’ कहानी की सरल कालरा रेडियो स्टेशन में काम करके घर चलाने में पति का हाथ बँटाती है। उसके पति को पीने की लत है और नौकरी छूटे हुए भी छह महीने से अधिक हो गए हैं। पैसों की तंगी उसे मॉडल बनकर सौ-सौ रूपए कमाने पर विवश करती है। वह कहती है— ‘हाथ तंग है। रेडियो स्टेशन से उसकी आमदनी इतनी नहीं कि सब शौक पूरे किए जा सकें। यों तो पति की नौकरी छूटती-जुटती रहती है, पर इस बार अंतराल कुछ अधिक खिच गया है। उफ़, यह पीने की लत!’⁵

‘लिली ऑफ द वैली’ की निशि भी अर्थाभाव से ग्रस्त है। उसका नकारा पति शराब पीकर उसे प्रताड़ित करता है। ‘कितनी कैदें’ में विवाह का कारण ही अर्थ है। मीना की माँ उसे कॉलेज में सिर्फ इसलिए भेजती है ताकि उसे अच्छा अमीर घर और खूब कमाऊ लड़का मिले।

‘लौटना और लौटना’ का हरीश कमाऊ लड़की से शादी करना चाहता है ताकि शादी के बाद खर्च की परेशानी का सामना न करना पड़े— ‘हाँ पर बेकार की लड़कियाँ देखने से क्या फायदा? दो बातें जरूरी हैं। एक तो लड़की को डाक्टर होना चाहिए, वहाँ बहुत पूछ है उनकी, काफी पैसा कमा लेती हैं और दूसरे...’⁶

‘एक और विवाह’ की कोमल आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी है। वह दिल्ली के एक कालेज में लेक्चरर है और विवाह को औरत के लिए बिना पैसे की नौकरी समझती है। मदन उससे पूछता है—

मदन : विवाह के बाद आप काम करना चाहेंगी?

कोमल : किस किस काम का?

मदन : मेरा मतलब नौकरी।

कोमल : पैसों के लिए या बिना पैसों के?

मदन : क्या मतलब?

कोमल : बिना पैसा पाए नौकरी तो सभी स्त्रियाँ करती हैं।⁷

अर्थ के निमित्त नारी-शोषण का चित्र ‘अगर यों होता’ कहानी में मिलता है जहाँ तरक्की के लिए पति अपनी पत्नी को बॉस को ऑफर कर देता है— ‘मिसेज सिन्हा के साथ वे नाचे ही नहीं थे, बल्कि तीन चार बार नाचे थे और तीसरी बार छाती के बिल्कुल पास सटा उन्हें बाहों में कसकर नाचे थे। मि० सिन्हा ने उन्हें अपनी पत्नी को चूमते हुए तो नहीं देखा था पर ऑठ उनकी गर्दन पर टिकाए जरूर देखा था।’⁸ वर्तमान युग की उपभोक्तावादी संस्कृति का छोटा-सा नमूना प्रस्तुत करती है यह कहानी, जिसमें नारी पर्दे के बाहर तो आई किंतु पुरुष को आकर्षित करने का माध्यम ‘देह’ बनकर रह गई। अर्थ के नाम पर उसकी देह का सौदा हो रहा है। क्योंकि सौंदर्यशास्त्रीय लिहाज से वह पुरुष की अपेक्षा अधिक लुभावनी है। क्रय-शक्ति के मालिक पुरुष हैं। अतः सुंदर नारी को कम वस्त्रों में प्रस्तुत कर उनसे पैसे खर्च कराए जा सकते हैं।

लगभग ऐसी ही परिस्थिति से गुजरती है रक्षा (दुनिया का कायदा) कॉलेज में प्रवक्ता, एक बौद्धिक महिला को उसका पति अपने बॉस से काम निकलवाने के लिए शोपीस की भाँति प्रयोग करता है। रक्षा अपने अस्तित्व का सौदा करने का विरोध करती है तो उसका पति सुनील अपने पति होने के अधिकार का प्रयोग करके जतला देता है कि नौकरी उसका अपना निर्णय है और पति के विरोध न करने पर ही वह नौकरी कर पा रही है— ‘तो क्या यह निरर्थक है? मैंने कभी तुम्हें नौकरी करने से मना नहीं किया, सिर्फ इसलिए कि तुम्हारा कहना है, यह तुम्हारे बौद्धिक जीवन के लिए जरूरी है। फिर मेरे साथ चलने से तुम क्यों कतराती हो? जबकि वह हमारी प्रगति के लिए आवश्यक है।’⁹ अस्मिता-बोध होकर भी रक्षा में पति से बँधे रहने की विवशता है। पति के बॉस की अश्लील हरकतों से क्षुब्ध उसके आत्मसम्मान का मोल महज एक नई गाड़ी है। यह कहानी आज के अर्थलोलुप समाज की नग्न तस्वीर प्रस्तुत करती है जिसमें नारी की मुस्कराहट तक बिकाऊ है। बाजारीकरण ने उसके समक्ष अस्मिता का संकट पुनः उपस्थित कर दिया है।

आधुनिक नारी को आज सर्वथा भिन्न संकटों से जूझना पड़ रहा है। परिवार और कार्यालया दोनों ही उसके शोषण के अड्डे बन गए हैं, जहाँ वह शोषक और शाषित का भेदकर पाने में भी असमर्थ है। इसी परिस्थिति को दर्शाती है ‘मेरा’ नामक कहानी। स्वयं चुनकर किए गए प्रेम-विवाह के मूल में छिपी पुरुष मानसिकता को समझ पाने में असमर्थ नायिका मीता नहीं जानती कि यह विवाह महज उसकी नौकरी के कारण किया गया समझौता भर है। आत्मनिर्भर

मीता अपने जीवन के निर्णय लेने में विवश दिखाई देती है कि वह संतान को जन्म दे अथवा नहीं। महेंद्र के लिए वह सर्वप्रथम कमाई का साधन है, बाद में उसकी पत्नी। भावी आर्थिक संकट दोनों के मध्य तनाव की स्थिति उत्पन्न कर देता है। मानवीय संबंधों की उपयोगितावादी दृष्टि को कहानी बखूबी से व्यक्त करती है। महेंद्र बच्चा नहीं चाहता क्योंकि घर का खर्चा बढ़ने पर वह उस खर्च को अकेले वहन नहीं कर सकेगा। वह इतना ही जानता है कि अगर यह बच्चा पैदा हो गया तो उसकी सारी जिंदगी चौपट हो जाएगी... बीबी को साथ लेकर आओ, तब जब वह नौकरी करके अपना पेट भरने लायक हो, वरना नहीं।'¹⁰ पति की व्यावसायिक सोच का विरोध कर मीता बच्चे का चुनाव कर पाती है। वह आर्थिक रूप से समर्थ है अतः पति से अलग रहकर अपना और अपने बच्चे का भरण-पोषण कर सकती है।

दहेज की विकराल समस्या के कारण ग़रीब माँ-बाप बेटी के जन्म के साथ ही उसका दहेज जोड़ना शुरू कर देते हैं। इस सामाजिक समस्या के मूल में वर-पक्ष की पैसे की लालसा छिपी हुई है। नारी ने पढ़-लिखकर इस समस्या के दो हल निकाले— प्रेम-विवाह तथा नौकरी। 'मिज़ाज' कहानी की श्वेता का तो मानना यही है कि हिंदुस्तानी लड़की को बिना मोटी रकम के दहेज के ऊँचे खानदान का लड़का नहीं मिल सकता, जब तक किसी को उससे प्रेम ही न हो जाए। 'खरीददार' की नायिका नीना दहेज की समस्या के चलते शादी ही नहीं करती। यथार्थवादी सोच की नीना पूरी दुनिया को दो गुटों में बँटा मानती है—दुकानदार और खरीददार। दोनों विकल्पों में से उसे खरीददार बनना अधिक भाता है। अतः इसी दृढ़संकल्प के साथ वह मैसूर के छोटे से कस्बे में सहायक कमिश्नर नियुक्त हो जाती है। विवाह उसके लिए आज कोई समस्या नहीं है क्योंकि धन की शक्ति के चलते वह संबंधों (प्रेम) को खरीद सकती है 'आज उसके पास सबकुछ है। गाड़ी है, बंगला है, नौकर-चाकर हैं, क्लब की सदस्यता है, सभा समारोह के निमंत्रण हैं। सफलता का अपना एक रूप होता है, वह भी उसके पास है। उसकी चाल में आत्मनिर्भरता है, आवाज़ में रौब और चेहरे पर पर प्रभावशाली व्यक्तित्व की छाप। सबसे बड़ी बात यह कि वह जानती है कि उसके कुछ कहने पर लोगों को झुकना होगा, ध्यान देना होगा, उसकी ओर देखना होगा।'¹¹ नीना की भाँति प्रशासनिक पद का रुतबा शेफाली (झूलती कुर्सी) के जीवन में भले ही न हो इंडियन एयरलाइंस की नौकरी करते हुए वह अपने जीवन का सबसे महत्वपूर्ण निर्णय अवश्य ले सकती है— आजीवन अविवाहित रहना। 'होना' कहानी की नायिका भी कॉलेज में पढ़ाते हुए स्वच्छंद गति से जीवन-यापन करती है।

'ग्लेशियर से' कहानी संग्रह की एक अन्य कहानी 'तुक' की नायिका की दृष्टि में विवाह एक नौकरी है। पति का होना एक तरह का व्यवसाय है, जिसके माध्यम से उन्हें पैसा और व्यस्तता दोनों मिलते हैं।'¹²

डा० नरेंद्रदेव की पुत्रियों (अलग-अलग कमरे) के जीवन का तो उद्देश्य ही अधिकाधिक संपत्ति इकट्ठी करना है। वंशीधर को अपना दत्तक पुत्र बनाकर डाक्टर साहब संपत्ति का एक चौथाई भाग उसे देने का निश्चय कर लेते हैं। पिता की मानसिकता को भाँपकर बड़ी लड़की भाई-बहन की अपेक्षा अधिक संपत्ति हथियाने का माध्यम विवाह को बनाती है और वंशीधर से छिपकर शादी कर लेती है।

'तीन किलो की छोरी' की शारदाबेन की कमाई का उसके जीवन में बड़ा महत्व है।

इससे उसके जीवन-स्तर में बहुत अंतर आ चुका है। वह अपने पुत्र को पढ़ाने-लिखाने का निर्णय लेती है। पति की निकृष्ट मानसिकता पत्नी को महत्त्व मिलता देख उसे ईर्ष्यालु बना देती है। 'सौ रूपल्ली का भूत चढ़ गया सिर पर, हरामजादी... छोड़ परे साली नौकरी... हमें नहीं चाहिए तेरे सौ रूपए।' ¹³ पुरुष चाहे कुछ भी सोचे, शारदाबेन सरीखी औरतों को अपनी अस्मिता का बोध है। दिन-रात एक करके भी एक अदद औरत सौ रूपया महीने की बँधी-बँधायी पगार नहीं पा सकती। अरे कितनी हैं इस गाँव में जो शारदाबेन सरीखी सौ रूपया पगार पती हैं। छोरे को स्कूल में बिला नागा पढ़ाई करके पढ़ाती हैं।' ¹⁴

कामकाजी स्त्री को जीवन में अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। वह इतने दबावों में जीती है कि नौकरी छोड़ना उसकी मजबूरी बन जाती है। 'बाहरी जन' की नंदिनी विवाह से पहले नौकरी करती थी, बड़े घर का लड़का मिलने पर उसकी नौकरी छुड़वा दी जाती है। पति की नकार के समक्ष वह कोई निर्णय नहीं ले सकती। उसे जो समस्त सुख-सुविधाएँ प्राप्त हैं, अपनी मनमानी के चलते उस सबसे हाथ धोना पड़ेगा। ठीक यही स्थिति उसकी सास की है। योग्य होते हुए भी वह नौकरी नहीं कर पाती। उसकी वेदना है, 'बी०ए० फर्स्ट डिग्री में पास हुई थी। इच्छा थी आगे पढ़ूँ, नौकरी करूँ। यहाँ आई तो छुरी काँटे और बिल्लौरी काँच में उलझकर रह गयी।' ¹⁵

इसी संग्रह की 'मिजाज' कहानी की नायिका की स्थिति भी यही है। श्वेता का पति होटल में उसके आकर्षक व्यक्तित्व को देखकर शादी का प्रस्ताव तो रख देता है साथ ही औरत को कमतर समझने की मानसिकता के चलते उसकी नौकरी छुड़वा देता है। उसकी जिंदगी बच्चों और घरेलू काम के इर्द-गिर्द ही सिमटकर रह जाती है।

विवाहित नौकरीपेशा स्त्रियाँ घर और दफ्तर दोनों मोर्चों को यदि सँभाल लेती हैं तब तो ठीक अन्यथा उन्हें दोनों में से एक मार्ग का चयन करना पड़ता है। अधिकतर मामलों में चयन घर और बच्चों का ही होता है। किंतु 'बर्फ बनी बारिश' की बिन्नी ऐसी परिस्थितियों से घबरानेवाली नहीं है। पति के बार-बार कहने पर भी वह अपना देश और अध्यापिका की छोटी अवस्था में वह स्कूल में लंबी छुट्टी की अर्जी देकर उसके पास चली जाती है।

'छत पर दस्तक' कहानी की पात्रा नलिनी असमय ही विधवा हो जाती है। स्कूल में पढ़कर वह अपना और अपने पुत्र सुधीर का भरण-पोषण करती है। रिटायरमेंट के पश्चात् उसे अपना भविष्य अंधकारमय दिखता है। उसके पास न तो घर है और न ही भरण-पोषण के लिए पैसा। जीवनभर की कमाई से पुत्र का भविष्य सँवारने के पश्चात् वह उसी पर आश्रित हो गई है किंतु संकोचवश कह नहीं सकती। उसके पास भविष्य की एकमात्र योजना यही है कि वह हिंदुस्तान लौटकर कोई काम देख लेगी। थोड़े-बहुत जेवर हैं उसके पास उन्हें बेचकर कोई छोटा-मोटा धंधा शुरू कर देगी। कपड़े सीने का, खाना बनाकर दफ्तरों में टिफिन भरकर भेजने का, कुछ भी। एक बार हिम्मत कर ले, तो बहुत कुछ कर सकती है औरत।' ¹⁶ प्रौढावस्था में भी अपनी कर्मठता पर अटूट विश्वास-नारी जीवन के लिए अत्यंत प्रेरणास्पद है।

'समागम' नामक संग्रह की ही एक अन्य कहानी है। 'बीच का मौसम'। इसकी मुख्य पात्रा माया आई०ए०एस० अधिकारी है। लंबे वैवाहिक जीवन के पश्चात् पति से तलाक लेकर अकेली रहती है। उसका मानना है, 'हम जैसे मध्यवर्गीय आर्थिक रूप से ठीक-ठीक,

पढ़ी-लिखी औरतों के लिए चंद रोज़ का बसंत पा लेना संभव भी हो जाता है।'¹⁷

इसी कहानी की एक अन्य नारी पात्र नौकरी की अनिवार्यता बताते हुए कहती है 'गिलाज़त के बीच रहकर ही गिलाज़त से लड़ा जा सकता है। फिर बच्चे की जरूरतें पूरी करने के लिए पैसा भी तो चाहिए, ...तू अपनी नौकरी मत छोड़ना। साधनहीन इंसान कुछ नहीं कर पाता।'¹⁸

इस प्रकार मृदुला गर्ग ने अपने कथासाहित्य में समाज में अर्थशक्ति की भूमिका तथा नारी पर पड़नेवाले प्रभावों के बहुआयामी चित्र प्रस्तुत किए हैं। नारी का कामकाजी होना उसकी सफलता तथा शक्ति का प्रतीक है। बाज़ारवाद के इस युग में शोषण के पविर्तित लोकलुभावन रूपों को पहचानते हुए उसे अपनी अस्मिता सुरक्षित रखनी होगी। लेखिका के कथा-चित्रों का यही कथ्य है।

संदर्भ सूची

1. कथादेश, मई 1199, पृ०-9
2. उसके हिस्से की धूप (उपन्यास)-मृदुला गर्ग, पृ० 33
3. वंशज (उपन्यास), पृ० 116
4. कठगुलाब, पृ० 19
5. टुकड़ा-टुकड़ा आदमी (कहानी संग्रह) पृ० 14
6. कितनी कैदें (कहानी-संग्रह) पृ० 65
7. वही पृ० 73
8. वही पृ० 88
9. वही पृ० 114
10. डैफोडिल जल रहे हैं (कहानी-संग्रह) पृ० 61
11. ग्लेशियर से (कहानी-संग्रह) पृ० 90
12. वही पृ० 50
13. शहर के नाम (कहानी संग्रह) पृ० 4
14. वही पृ० 6
15. वही पृ० 49
16. समागम (कहानी संग्रह) पृ० 85
17. वही पृ० 103
18. वही पृ० 114

□ वरिष्ठ प्रवक्ता, हिंदी विभाग
सनातन धर्म स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मुजफ्फनगर (उ०प्र०)

अवधी लोकगीतों में नारी-समस्याएँ

श्रीमती मनीषा श्रीवास्तव

लोकसाहित्य का सर्जन एक अनवरत प्रक्रिया है। लोकसाहित्य में, जो समस्याएँ उकेरी जाती हैं, वे समस्याएँ प्रायः नगरीय साहित्य से भिन्न होती हैं। यदि आज के समय को लें तो धीरे-धीरे गाँव नगर में भेद समाप्त होते जा रहे हैं। गाँव में भी आज वे सारी सुविधाएँ साधन-संपन्न लोगों के पास मिल जाती हैं, जो शहरों में पाई जाती हैं। किंतु, जिस लोकसाहित्य को हम आज भी अध्ययन का विषय बनाते हैं। वह आज के ग्रामीण-जीवन का साहित्य है। अध्ययन का विषय वह लोकसाहित्य ही होता है, जो परंपरा से हमें प्राप्त होता है और उसमें सैकड़ों और हजारों के ग्रामीण-जीवन की झाँकी है। हमारे देश के अन्य ग्रामों और अवधीभाषी क्षेत्र में भी पर्याप्त लोकसाहित्य रचा गया है।

लेकिन इस लोकसाहित्य में वह सबकुछ है, जो गाँव के परंपरागत ढाँचे से निकला है। अवधी लोकगीतों में जहाँ जीवन में मूलतत्त्व संस्कृति और संस्कार का समावेश है, वहीं उसमें घर-परिवार के रिश्तों और सामाजिक समस्याओं का भी विशेष रूप से वर्णन है। यहाँ हमारा उद्देश्य अवधी लोकगीतों में नारी-समस्याओं पर प्रकाश डालना है।

परंपरागत रूप से भारतीय नारी अपने मायके और अपनी ससुराल दोनों में ही तरह-तरह की बंदिशों में रहती है। भारतीय समाज यह मानता रहा है कि बचपन में स्त्रियों को अपने माता-पिता के नियंत्रण में रहना चाहिए। विवाह होने पर उसे अपने पति और सास-ससुर आदि के नियंत्रण में रहना चाहिए। जब वह वृद्ध हो जाए तो उसका दायित्व है कि वह अपने पुत्रों के नियंत्रण में रहे। उसकी स्वतंत्रता पर तरह-तरह के प्रश्न उठाए गए।

‘जिनी स्वतंत्र होत विगरैय नारी।’

निश्चय ही भारतीय समाज में नारी के प्रति यह दृष्टिकोण बहुत ही गहराई से व्याप्त रहा है और आज भी नारी-चेतना से जुड़े अनेक आंदोलन होने और क़ानून बनाए जाने के बाद भी नारी को वह स्थान प्राप्त नहीं हो सका, जो उसे एक स्वतंत्र देश की नागरिक इकाई होने के कारण मिलना चाहिए। जब हम अवधी लोकगीतों का अवलोकन करते हैं, तो हमें वहाँ भी वही सबकुछ मिलता है, जो भारतीय समाज में नारी की स्थिति को दर्शाता है।

नारी की इस स्थिति का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है—

- (1) मायके में उसकी स्थिति।
- (2) विवाह के समय की उसकी स्थिति।
- (3) ससुराल में उसकी स्थिति।
- (4) पत्नी के रूप में उसकी स्थिति।

(5) माँ के रूप में उसकी स्थिति।

(6) सास-ननद इत्यादि के रूप में उसकी स्थिति।

1. **मायके में उसकी स्थिति** : कन्या का विवाह सदैव से भारतीय समाज में चिंता का विषय रहा है। यही कारण है कि पुत्र के जन्म के समय जहाँ फूल की थाली बजाने का रिवाज है, वहाँ कन्या के विवाह के समय पीतल की थाली बजाने की परंपरा है।

लोक में एक और परंपरा प्रचलित है, जब कोई महिला किसी दूसरी महिला से बैर मानती है और उसके घर में यदि किसी का जन्म होता है तो दुश्मनी माननेवाली महिलाएँ तवा बजाकर ऐसा अपशगुन करती हैं कि दुश्मन परिवार में लगातार सात कन्याओं का जन्म हो। यह अंधविश्वास इस बात का सूचक है कि कन्या का जन्म भारतीय समाज में एक अभिशाप है। एक अवधी लोकगीत में एक पुत्री कहती है कि ए पिताजी, आपकी आँखों से आधी रात से आँसू गिर रहे हैं। जिसके घर में कुँवारी कन्या पड़ी हुई है, उस पिता को भला नींद कैसे आ सकती है—

‘नीर’ चुअई बाबा नरि चुहतु हैं,
नीर चुअइ आधि राति।
ओहि रे पिता कइ नींद कइसे लागई,
जेहि घर कन्या कुआरि।¹

2. **विवाह के समय उसकी स्थिति** : भारतीय समाज में दहेजप्रथा के चलते पुत्री का विवाह एक कठिन समस्या है। अवधी के लोकगीतों में विवाह को लेकर यह समस्या विशेष रूप से देखने को मिलती है।

एक गीत में पिता अपनी पुत्री से कहता है कि ए बेटी, तुम्हारे लिए योग्य वर मैंने काशी में खोजा, बनारस में खोजा, सरयूपार प्रदेश में खोजा, परंतु तुम्हारे लायक योग्य और सुंदर वर मुझे कहीं नहीं मिला। अतः ए बेटी, अब तुम्हें कुवाँरी ही रहना पड़ेगा.....

‘हेरेउं कासी हेरु बनारस, हेरु देश सरुपार’,
तौहइ जोगे बेटी सुहार, बर नाही
अब बेटी रहउँ कुआँरि।²

विवाह के समय कन्या से उसके पिता, माता, भाई और भौजाई जो विशेष बातें करते हैं या निर्देश देते हैं, उससे भी भारतीय नारी की स्थिति का पता चलता है। एक अवधी लोकगीत में पिता अपनी पुत्री से कहता है कि ए बेटी, तुम प्रतिदिन उठकर मायके चली आना। माता कहती है कि केवल छठे मास आना, भाई कहता है कि तुम केवल वैवाहिक उत्सवों तथा अन्य विशेष अवसरों पर ही आना—

बाबा कहै बेटी नित उठ आयेव।
माता कहै छठे मास।
भैया कहै बहिनी काजे बियाहे।
भौजी कहे कस बात।³

3. **ससुराल में उसकी स्थिति** : भारतीय परिवारों में बहू की स्थिति बड़ी ही चिंताजनक रही है। वहाँ उसके उठने-बैठने, चलने-फिरने तक पर अंकुश रहता रहा है। यहाँ

तक कि दिन में तो अपने पति से मिल ही नहीं सकती थी, रात में भी उसके मिलने के मार्ग में सौ-सौ बाधाएँ होती थीं। पति का अटारी पर सोना, जेठ-जिठानी का दीपक जलाकर सोना, सास और ननद का बीच आँगन में पलंग बिछाकर सोना किसी बहू को अपने प्रिय से कैसे मिलने दे सकता है। पति से मिलने के मार्ग में उपस्थित ये कठिनाइयाँ प्रस्तुत अवधी लोकगीत के इस अंश में देखिए—

सावला सोवार्थ अँटरिया, मइ कउनी विधि जाउँ रे।
 सासु ननदि मोरे नान्हेन कइ बैरनि, आँगन पलँग बिछावई।
 मइ काउनी विधि जाउँ रे।
 जेठ-जेठानी मोरी नान्हेन कइ बइरिनि
 सोवइ दिअना जलार रे।⁴

4. **पत्नी के रूप में उसकी स्थिति** : शायद ही कोई गाँव हो, जहाँ के युवक धन-कमाने के लिए विदेश न जाते रहे हों। लोकजीवन में नारी के इस विरह का प्रभाव यह पड़ा है कि ऋतु-संबंधी गीतों में विरह का भाव भरा पड़ा है। तात्पर्य यह है कि न तो पति के घर रहने पर ही भारतीय नारी को प्रिय-मिलन का सुख मिला है और न ही पति के परदेस रहने पर। सावन का महीना आ गया, किंतु उसका साजन अभी भी घर नहीं लौटा। विरहिणी का यह दुःख प्रस्तुत पंक्तियों में देखिए—

हरी हरी आए सावन मास,
 सजन घर नहीं रे हरी।
 हमसे करि करार गए साजन,
 बेगि धना घर अउबइ रे हरी।
 हरी हरी ना घर आए स्याम,
 लिखे नहीं पाती रे हरी।⁵

दाम्पत्य जीवन की यह विडंबना संपूर्ण भारतीय समाज में दिखाई पड़ती रही है, जिसका प्रतिबिंब उच्च जातियों के प्रचलित लोकगीतों में भी है और निम्न जातियों के लोकगीतों में भी।

5. **माँ के रूप में उसकी स्थिति** : भारतीय नारी के जीवन में जो दुःख उसके जन्म के समय से प्रारंभ होता है, वह निरंतर उसके साथ चलता रहता है। मातृत्व प्राप्त करना स्त्री की पूर्णता मानी जाती है, किंतु भारतीय समाज में यदि कोई बहू माँ बनती है तो उसके सामने उसकी सास, ननद और जेठानी, देवरानी आदि की इतनी फरमाइशें आ जाती हैं, परिणामतः यदि पुत्र का भी जन्म हो जाए तो माँ उसका भी उल्लास-सुख नहीं भोग पाती है।

प्रस्तुत पंक्तियों में नेग माँगने का यह दृश्य इसी संदर्भ में देखिए—

डेहरी के ठाढ़ बलम समझावइ
 देइदेआ मोरी रानी कंगना हो लालन के भाए।
 भितरा से कंगना अंगन माँ फेंकेन,
 लइजा सवति रानी कंगला हो, लालन के भाए।⁶

6. **सास-ननद इत्यादि के रूप में उसकी स्थिति** : जो भारतीय स्त्री बहू के रूप में

तरह-तरह के कष्ट उठाती है, यह विडम्बना ही है कि वह जब सास, ननद या भौजाई की भूमिका में होती है तब सास अपनी बहू को या ननद अपनी भाभी को कठिनाइयों में डालने से बाज नहीं आती। वह बहू को तरह-तरह की वेदनाएँ देती हैं। एक बाँझ स्त्री की मार्मिक वेदना इस संदर्भ में देखिए—

सासु मोरी कहेली बझिनिया ननद ब्रजवासिन हो।
रामा जिनकी मैं बारी रे बिआही, उर घर से निकारेन हो।
घर में से निकली बाँझिनिया, जंगल बीच ठाढ़ी हो।
रामा बनसे निकरी बहिनिया, त दुःख-सुख पूछई हो
तिरिया! कौनी बिपति की मारी जंगलमेह ठाढ़ी हो।⁷

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अवधी लोकगीतों में भारतीय नारी की दुखद स्थिति का व्यापक और विषद चित्रण है। लोक का संबंध विशेषतः गाँवों से ही है। आज के गाँव पहले से कुछ भिन्न तरह के हो गए हैं। आज न वहाँ संयुक्त परिवार हैं, न ही कुएँ, वापी आदि और न ही वैसे कच्चे घर। आज के गाँवों में पक्के घर बनवाने की होड़ लगी है। नगरों की ही तरह वहाँ भी संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। कुओं का स्थान हैंडपंपों ने ले लिया है। घर-घर बिजली पहुँच रही है। ट्रांजिस्टर और टेलीविजन अब वहाँ आम बात हो गई है। यातायात के आधुनिकतम साधन भी गाँव में पहुँच चुके हैं।

रब्बा और बैलगाड़ी की जगह जीप और कारों ने ले ली है। धीरे-धीरे गाँव तक पक्की सड़कें पहुँच रही हैं, किंतु नारी का लोकजीवन अभी उसके अतीत से काफी कुछ जुड़ा हुआ है। इस कारण अवधी के वे लोकगीत अभी भी प्रसारित हैं, जो अवधी-क्षेत्र में स्त्री-पुरुषों की जुबान पर हैं। लेकिन आधुनिकता के बढ़ते प्रभाव को देखते हुए यह कह पाना कठिन होगा कि वे कितने दिनों तक लोगों की जिह्वा पर टिके रह पाएँगे।

संदर्भ

1. अवधी लोकगीत, पृ० 37 (विवाह कन्यापक्ष के गीत) संपादक डा० कृष्णदेव उपाध्याय।
2. अवधी लोकगीत, पृ० 41 (संस्कार-संबंधी गीत)
3. अवधी लोकगीत, पृ० 49
4. अवधी लोकगीत, पृ० 141 (ऋतु-संबंधी गीत)
5. अवधी लोकगीत, पृ० 139
6. अवधी लोकगीत, पृ० 21 (संस्कार-संबंधी गीत)
7. अवधी लोकगीत, पृ० 25 (संस्कार-संबंधी गीत)

□ द्वारा श्री संजय श्रीवास्तव
209/01 विजय नगर, कानपुर (उ०प्र०)

नयी कविता : सन् 1953 के बाद की विकासमान धारा

डा० किरण पांडेय

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् लिखी गई वे समस्त कविताएँ, जिनमें वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से अपनी पूर्ववर्ती कविता से आगे क्रमबद्ध नवीनता का आग्रह है, 'नई कविता' के अंतर्गत समाहित की गई। छायावादी कविता की स्वच्छंद रोमांटिक भावात्मकता और कल्पना-प्रवणता, प्रगतिवादी काव्य की स्थूलता एवं एकवर्गी जीवनदृष्टि तथा प्रयोगवादी कुंठाओं, वर्जनाओं, शैल्पिक त्रुटियों का परिष्कार करके यथार्थमूलक जीवनदृष्टि, आशावादी स्वर एवं नवीन शिल्प-विधि को लेकर उद्भूत हुई कविता को 'नई कविता' के नाम से विभूषित किया गया। इस नई काव्यधारा के नामकरण का संपूर्ण श्रेय अज्ञेय जी को दिया जाता है। वहीं डॉ० जगदीश गुप्त जी ने अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया— 'नई कविता' समसामयिक हिंदी-काव्यधारा की प्रायः सर्वाधिक स्वीकृत अभिधा है। उसने अपनी उदार बाँहें फैलाकर प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों की यथार्थोन्मुख चेतना को उन्मुक्त हृदय से अपने में समाहित कर लिया।¹

इतना तो स्पष्ट है कि नई कविता की काव्य-स्थिति प्रयोगवाद से आगे की है। नई कविता का प्रयोगवाद से संबंध तो है, खासतौर पर भाव और विचार की उस ज़मीन से, जिसे प्रयोगवाद ने निर्मित किया है, पर प्रयोगवाद से वह ऐतिहासिक आधार पर ही नहीं, तात्त्विक और संवेदनात्मक आधार पर भी भिन्न है। नई कविता युगीन चेतना और नई सौंदर्याभिरुचि की सूचना देती है। प्रयोगवादी कविता में प्रयोग बाह्य और शिल्पगत था, जबकि नई कविता में प्रयोग कविता के पूरे संरचनात्मक तंत्र में व्याप्त है।

नई कविता का बीज 'प्रयोगवाद' में निहित है, अतः 1950 से नई कविता का प्रारंभ न मानकर पल्लवन मानना चाहिए। कारण यह है कि प्रयोगों की भूमिका को पार करती हुई नई कविता सन् 1950 में तो पूर्णतः पल्लवित होकर सामने आ गई थी। 'प्रयोगवाद' के प्रवर्तक अज्ञेय ने ही 1951 में 'नई कविता' संज्ञा का प्रयोग किया—'मैं आग्रहपूर्वक यह कहना चाहता हूँ कि नई कविता की, जिसके लिए मुझे 'प्रयोगवादी' शब्द अपूर्ण, अव्याप्त और पूर्वाग्रहयुक्त जान पड़ता है—ये मूल प्रवृत्तियाँ इसी देश की हैं।' (प्रयोगशील कविता : परिसंवाद, 'प्रतीक' जून 51)

सुविधा के लिए माना जा सकता है कि 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन के साथ ही नई कविता का प्रारंभ हुआ, जिसके बारे में सन् 1954 में डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी तथा डॉ० जगदीश गुप्त ने स्वसंपादन में 'नई कविता' नाम से एक अर्धवार्षिक संकलन निकालना शुरू कर दिया। 'नई कविता' में निहित 'नई' शब्द कोई विशेषण न होकर ताज़गी, मौलिकता और आधुनिकता का बोध कराता है। 'नई कविता' आंदोलन प्रयोगवाद का एक प्रस्थानबिंदु था।²

नई कविता उस काव्यधारा का नाम है, जो प्रयोगवाद के गर्भ से सन् 1950 के बाद उत्पन्न हुई, जिसमें प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की अतिवादी ओर प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ नहीं

थीं। एक अर्थ में नई कविता प्रयोगवाद का ही परिवर्तित और विकसित रूप है। डॉ० जगदीश गुप्त की मान्यता है कि 'नई कविता ने प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों की यथार्थोन्मुख चेतना को अपने में समाहित कर लिया है।' ³ डा० भगीरथ मिश्र के अनुसार 'नई कविता वास्तव में प्रयोगवादी कविता का नया नाम है।' ⁴

नई कविता के प्रणेता प्रायः वे ही कवि थे, जो प्रयोगवादी कविता के थे। कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, कुँवरनारायण, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, धूमिल, जगदीश गुप्त आदि ख्यातिलब्ध कवि हैं।

'तीसरा सप्तक' (संकलित कवि : कुँवरनारायण, केदारनाथ सिंह, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, प्रयागनारायण त्रिपाठी के प्रकाशन (1945 ई०) के साथ नई कविता का एक वृत्त पूरा हो जाता है— उस 'नई कविता' का, जिसने खास किस्म की सौंदर्यानुभूति का विकास करने के साथ समकालीन सामाजिक संघर्ष और कवि के आत्मसंघर्ष के बीच सामंजस्य खोजने की चेष्टा की। 'तीसरा सप्तक' के कवियों में सबसे स्पष्ट विकास केदारनाथ सिंह और कुँवरनारायण की कविताओं में देखा जा सकता है।

यद्यपि प्रयोगवाद और नई कविता में कोई मूलभूत अंतर नहीं है, परंतु प्रयोगवाद और नई कविता की प्रवृत्तियों में जो साम्य है, परंपरागत काव्य और उसके उपकरणों के प्रति दोनों में जो विद्रोह का भाव है तथा सबसे बड़ी बात प्रयोगवाद और नई कविता के कवियों को अलग करने की जो समस्याएँ हैं, ये सब इस बात की द्योतक हैं कि प्रयोगवाद और नई कविता दोनों एक हैं, जिसमें प्रयोगवाद प्रयोगों की प्रारंभिक अवस्था है और नई कविता उसकी चरम परिणति।

फिर भी, नई कविता और प्रयोगवाद की प्रवृत्तियों में समयानुकूल अंतर है। प्रयोगवादी कविता में अनास्था का स्वर प्रमुखता से व्याप्त है। एक गहरा असंतोष, सहज अनास्था कवियों के हृदय में व्याप्त थी, जिसके कारण उनका विश्वास ठहर नहीं पाता था। ऐसी स्थिति नई कविता में नहीं है। परंतु यह नहीं कि नई कविता में अनास्था का चित्रण नहीं है, फिर भी वह उसे 'अंतिम न मानकर आस्था और निष्ठा का संदेश देती है।'

सामाजिक कल्याण के लिए नई कविता में भी शोषण के अंत की कामना अभिव्यक्त हुई है, लेकिन वहाँ उसके अंत के लिए उसमें क्रांति का स्वर भी नहीं उभरता है। नई कविता में शोषण के अंत के लिए निर्माणोन्मुख दृष्टिकोण को अपनाया गया है। अभावग्रस्त जीवन का चित्रण, शोषण को समाप्त करने का स्वर और भविष्य के प्रति विश्वास आदि सामाजिक प्रवृत्तियाँ नई कविता में भी उपलब्ध हैं, परंतु उनका मूल आधार मार्क्सवाद नहीं है। 'सामाजिक यथार्थ की जो प्रवृत्ति नई कविता में उपलब्ध होती है, वह किसी सिद्धांत पर आधारित न होकर, अनुभूति और पर्यवेक्षण-शक्ति से प्रेरित है।' ⁵ वास्तविकता यह है कि 'दूसरा सप्तक' के बाद उस काव्यभूमि के दर्शन हुए, जो एक तरफ तो प्रगतिवाद की सामाजिक चेतना के आग्रह से संयुक्त थी, लेकिन दुराग्रहों से दूर, दूसरी ओर प्रयोगवाद की व्यक्ति मर्यादा और शिल्पगत उपलब्धियों से मंडित थी, किंतु इनके अतिवाद से दूर।

यदि हम सन् 1950 को विभाजक-रेखा भी मान लें तो 'दूसरा सप्तक' की कुछ कविताएँ 'तीसरा सप्तक', 'बावरा अहेरी', इंद्रधनुष रौंदे हुए थे, 'अरी ओ करुणा प्रभामय', 'आँगन के पार', 'कितनी नावों में कितनी बार', 'सागरमुद्रा', 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ'

(अज्ञेय), 'धूप के धान', 'शिलापंख चमकीले', (गिरिजाकुमार माथुर) 'अर्द्धशती' (बालकृष्ण राव), 'अनागता की आँखें', 'शून्य पुरुष और वस्तुएँ' (वीरेंद्रकुमार जैन), 'माध्यम मैं', 'खंडित सेतु' (शंभुनाथ सिंह), 'कुछ कविताएँ', 'कुछ और कविताएँ', 'चुका भी नहीं हूँ मैं' (शमशेर), 'गीतफ़रोश', 'चकित है दुःख', 'बनी हुई रस्सी', 'खुशबू के शिलालेख', (भवानीप्रसाद मिश्र), 'स्वप्न भंग', 'अनुक्षण', 'मेपल', (प्रभाकर माचवे), 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' (मुक्तिबोध), 'ओ अप्रस्तुत मन' (भारतभूषण अग्रवाल), 'वनपाखी सुनो', 'संशय की एक रात' (नरेश मेहता), 'सात गीत वर्ष', 'कनुप्रिया', 'अंधायुग' (धर्मवीर भारती), 'मृग और तृष्णा' (हरिनारायण व्यास), 'मछलीघर' (विजयदेव नारायण साही), 'काठ की घंटिया', 'बाँस के फूल', 'एक सूनी नाव', 'कुआनो नदी' (सर्वेश्वरदयाल सक्सेना), 'चक्रव्यूह', 'परिवेश हम तुम', 'आत्मजयी' (कुँवरनारायण), 'सीढ़ियों पर धूप में', 'आत्महत्या के विरुद्ध', 'हँसो जल्दी हँसो' (रघुवीर सहाय), 'वंशी और मादल' (ठाकुरप्रसाद सिंह), 'नाव के पाँव', 'युग्म', 'हिमविद्ध' (जगदीश गुप्त), 'इतिहास पुरुष' (डा० देवराज), 'माया दर्पण' (श्रीकांत वर्मा), 'अंकित होने दो', 'अकेले कंठ की पुकार' (अजितकुमार), 'मुक्ति-प्रसंग' (राजकमल चौधरी), 'एक कंठ विषपायी', 'साए में धूप' (दुष्यंतकुमार), 'अतुकांत', 'तीसरा पक्ष' (लक्ष्मीकांत वर्मा), 'कविताएँ' (कीर्ति चौधरी), 'आत्मनिर्वासन तथा अन्य कविताएँ' (राजीव सक्सेना), 'अभी बिलकुल अभी' (केदारनाथ सिंह), 'उजली कसौटी' (राजेंद्रप्रसाद सिंह), 'बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ', 'पक गई है धूप' (रामदरश मिश्र), 'इतिहास के दर्द' (रणजीत), 'कल सुबह होने के बाद' (शलभ श्री रामसिंह), 'संसद से सड़क तक' (धूमिल), 'नाटक जारी है' (लीलाधर जगूड़ी), 'दीवारों पर खून से' (चंद्रकांत देवताले), 'आकाश विभाजित है' (विष्णुचंद्र शर्मा), 'अंगीरस' (ऋतुराज), 'जो नितांत मेरी' (बालस्वरूप राही), 'एक पुरुष और' (डा० विनय), 'इस हादसे में' (नरेंद्रमोहन), 'त्रास' (विजेंद्र) तथा वे सभी कृत्तियाँ, जिनकी चर्चा सप्तकों के बाहर के कवियों के संदर्भ में की गई है, नई कविता की कृत्तियाँ हैं।

साठोत्तरी कविता में असंतोष, विद्रोह, अस्वीकृति, निराशा आदि का स्वर मुख्य रूप से उभरकर सामने आया। स्वीकृत मानदंडों से दूर रहकर कविता व्यंग्यात्मक तेवर वाली हो गई। प्रेम और सौंदर्य के चित्रण में, यौन-विकृतियों के कारण साफ-साफ नंगापन दिखाई देने लगा। अकविता, स्वीकृत कविता, अस्वीकृत कविता, ठोस कविता, ऐब्सर्ड कविता, दिगंबर पीढ़ी, ताजा कविता, सनातन सूर्योदयी कविता, यहाँ तक की खबरदार कविता जैसे नामों से इस समय की रचनाओं को संबोधित किया जाने लगा। इस विविध नाम वाली कविताओं के संदर्भ में (आलोचकों की) वृहद्त्रयी के प्रमुख समीक्षक डा० नगेंद्र का अभिमत है कि— 'नामों का शोर अकविता अतिकविता, अस्वीकृत कविता, विद्रोही कविता, कबीर पीढ़ी कविता, क्रुद्ध पीढ़ी, भूखी पीढ़ी— यहाँ इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि सन् 60 के आस-पास नई कविता की धारा अपने से कुछ अलग होती दिखती है। साठ के बाद जो नया मोड़ लक्षित होता है, वह एकाएक दिखनेवाली कोई नवीन वस्तु नहीं, वरन् नई कविता से फूटा हुआ है। अकविता वालों ने भले ही कविता से अलगाने के लिए अकविता का नाम दे दिया, किसी मौलिक आधार पर वे अकविता को कविता से अलग नहीं कर सके। सत्य यह है कि सन् 60 के बाद जो स्वर उगे हैं, वे नई कविता में बीज रूप से वर्तमान रहे हैं और गौण भाव से प्रस्फुटित होते रहे हैं। ये स्वर

नई कविता के मूलाधार नहीं रहे हैं, किंतु नई कविता से सर्वथा विच्छिन्न या विरोधी स्वर के रूप में इनकी व्याख्या नहीं हो सकती, जैसा कि अकविता वाले करते हैं।⁶

और इस प्रकार नई कविता से साथ ही 'ताजी कविता' और 'अकविता' की चर्चा होने लगी। प्रश्न यह है कि क्या 'ताजी कविता' नई कविता के आगे की स्थिति है? संभवतः नहीं। कारण 'ताजी कविता' की स्थिति तभी संभव है, जबकि नई कविता एकदम बासी हो जाए या उसमें ठहराव आ जाए। यह तो माना जा सकता है कि नई कविता में 'मैनरिज्म' विकसित होने लगा था— भाषा के क्षेत्र में खास तौर से। सन् 1963 में प्रकाशित 'प्रारंभ' नामक कविता-संकलन, जिनमें 14 युवा कवियों की रचनाएँ हैं, 'ताजा कविता' अतिकविता से लेकर अब 'अकविता' (1956) तक इसी संक्रमण का परिचय मिलता है। इस नए वाद के कवियों में जगदीश चतुर्वेदी, सौमित्र मोहन, चंद्रकांत देवताले, विमल आदि प्रमुख रहे थे। इनमें श्री श्याम परमार व गंगाप्रसाद विमल में एक ताजगी है, एक नई करवट लेने की छटपटाहट और कसमसाहट है। फिर से एक मुक्ति की माँग जारी हुई। वह मुक्ति समाज से थी, आपसी संबंधों से थी। कारण हर कवि खुलेपन की स्थिति को 'डायरेक्ट' भोगना चाहता था और ऐसी क्षमता के लिए लालायित था, जो मुक्त स्थिति को सीधे-सच्चे रूप में भोग सके। ममता अग्रवाल की ये पंक्तियाँ, जिनमें साहस और शरारत दोनों हैं— एक जागरूक चेष्टा भी रही है किसी नई बात के लिए— प्यार शब्द घिसते-घिसते/चपटा हो गया है/ अब हमारी समझ में/ सहवास आता है।

'अकविता' के कवियों का यह अथक् प्रयास रहा है कि वे नई कविता को पुराना साबित कर स्वयं 'हम नए हैं, हमारी अनुभूतियाँ नई हैं', का राग गाते रहे। परंतु वास्तविकता यह है कि अकविता भी एक माने में नई कविता का ही नया 'लेबिल' लेकर आया हुआ ऐसा 'इंजेक्शन' रहा, जिसका निर्माता भले ही बदल गया था, किंतु उसका असर वही पहले जैसा ही रहा, इसके सारे 'सिमटम्स' भी वही थे।

साठोत्तरी पीढ़ी में जो नए कवि सामने आए थे, वे एक अजीबोगरीब स्थिति से गुजरते दिखाई देते हैं, उनमें से अधिकांश का दावा है कि हम अपने परिवेश से पूर्णतः प्रतिबद्ध हैं। ये वे कवि हैं, जो अपने को परिवेशबद्ध प्रमाणित करने के लिए जीवनव्यापी विसंगतियों और स्थिर सामाजिक मूल्यों के प्रति असंतोष और विद्रोह की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। देखना यह है कि विद्रोह, क्षोभ और आक्रोश कहीं चौंकाने या दिखाने भर के लिए की गई चीख-पुकार तो नहीं।

सन् साठ के लगभग बुद्धिजीवियों की जो नई-पुरानी पीढ़ी सामने आई, उसने अपने आगे पाया एक भयानक अंधकार। एक ओर सरकार, जो अपने दायित्व से बेखुबर और निश्चित सो रही थी। दूसरी ओर धुले-धुलाए सरकारी अफसर और पढ़े-लिखे बाबू लोग निरंतर जनता से दूर होते जा रहे थे। तीसरी ओर शोषक वर्ग टूँस-टूँसकर अपने गहरे पेट में रुपया और सोना भरता जा रहा था। चौथी ओर जर्जर, मृत और सड़े-गले मूल्यों को लेकर समाज की अलग-अलग वैतरणी का रूप देने वाले ठेकेदार लोग हैं और इन सबसे अलग एक और वह मरियल, गुलाम किसान है, जो इन सबके बीच तिल-तिल कर मौत की ओर बढ़ रहा था, पर क्रांति की बात नहीं करता और ऐसी परिस्थितिजन्य कविता का रूप इससे इतर कैसे होता।

नई कविता की वस्तुगत विशेषताएँ सातवें दशक में मुखर होकर नए आंदोलनों का हेतु बनीं और उन आंदोलनों ने अनेक नाम ग्रहण किए। अकविता, अगीत, बोधगीत, नवगीत, अस्वीकृत

कविता, गर्म कविता, शुद्ध कविता, मांसल कविता, गणितीय कविता, बीट कविता, भूखी पीढ़ी की कविता, हाइकु, युयुत्सु कविता आदि अनेक काव्य-आंदोलनों ने समकालीन कविता को समृद्ध किया। अज्ञेय जी के शब्दों में— ‘इस काल की कविता को बहुत सतही नज़र से देखने पर लग सकता है कि नई कविता, तह की कविता, ताज़ी कविता, अकविता, प्रतिकविता, ठोस कविता और ठस कविता—ये सब अलग-अलग आंदोलन हैं लेकिन ये सब एक ही प्रवृत्ति के अलग-अलग पहलू हैं— एक सामूहिक इयत्ता की खोज के पहलू।’⁷ डा० जगदीश गुप्त ने अपने ‘किसिम किसिम की कविता’ नामक लेख में आज की कविता के लगभग चालीस काव्यांदोलनों का उल्लेख किया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आज की कविता काव्यांदोलनों की कविता है, जिसे अलग-अलग नाम न देकर समकालीन कविता, साठोत्तरी कविता आदि संज्ञा देना अधिक संगत प्रतीत होता है। सन् 1960 में जिन आलोचकों ने नई कविता की मौत की घोषणा की थी, उनका प्रतिवाद करते हुए डा० धर्मवीर ‘भारती’ ने ‘कविता की मौत’ नामक कविता लिखकर यह घोषित किया कि जब तक मनुष्य की भीतर की संवेदना, मनुष्यता और सुख-दुख का भाव मौजूद है, कविता नहीं मर सकती, कविता जीवित रहेगी।

समकालीन हिंदी-कविता मूल्य-संक्रमण की कविता है। समकालीन कविता मूल्यहीनता और मूल्यों के खोज की कविता है। इसका कवि स्थापित मूल्यों को तोड़ना चाहता है और नए मूल्यों की स्थापना की भी अपेक्षा रखता है। वह स्वयं संघर्षरत है। वह सारे कष्ट सह रहा है और जी रहा है। टूटना उसे स्वीकार नहीं, उसे स्वशक्ति पर आस्था और विश्वास है। जीवन की विसंगतियों की त्रासदी का वह स्वयं ही भोक्ता है। इसीलिए नए मूल्यों की स्थापना के लिए उसके सामने परिवेश की त्रासदायी जटिलताओं को झेलने की समस्या के साथ ही भाषा के भोथरेपन की समस्या भी रही है। वह एक अंतहीन सन्नाटे में अकेला खड़ा है और सामूहिक षड्यंत्रों से संघर्ष कर रहा है। एकाकीपन और भटकन उसकी नियति बन गई है। इस विषय में डा० विजयमोहन सिंह का कहना है कि— ‘समकालीन कविता में व्यक्तित्व की खोज अनुभव के अलग-अलग कठघरे तैयार कर देती है, जैसा कि अकविता या युयुत्सु कविता आदि के साथ जुड़ा हुआ है।’⁸

इन कविता-आंदोलनों पर देश की राजनीतिक स्थिति का बहुत असर पड़ता था। समाज के सभी वर्ग जिन स्थितियों को जैसा महसूस करते, उसका असर साहित्य पर तो होना ही था। सन् 1965 के बाद देश में काँग्रेस-विरोध की जो लहर चली और आगे चलकर अधिकांश प्रांतों में गैर काँग्रेसी संविद (संयुक्त विधायक दल) सरकारों का गठन हुआ और दूसरी तरफ मध्यवर्ग की उदासीनता टूटी, उससे जनोन्मुखता आई।

आज की कविता संघर्ष को स्वीकारती है और यह स्वर उसमें प्रमुख है। संघर्षशील चेतना निश्चय ही कविता को शक्ति देती है— अनास्था, घुटन, संत्रास, ऊब, उदासी और टूटते हुए जीवन के बीच प्रतिरोधी शक्तियों से जूझने की यथास्थिति को तोड़ने की शक्ति देती है, पर इसके लिए भाषा का सजग उपयोग ज़रूरी है। यह स्वीकार करना होगा कि सातवें दशक की कविता ने जीवन-संघर्ष को अपना वर्ण्य विषय बनाया है। यह संघर्ष उसमें प्रतिबद्धता और राजनीतिक तेवर के रूप में दिखाई देता है। यद्यपि इस ‘प्रतिबद्धता’ को लेकर पिछले दशक में काफी बहस भी हुई, पर वास्तव में यह प्रतिबद्धता और कुछ नहीं, कवि की सचेत दृष्टि द्वारा समय और परिवेश की

चुनौतियों को स्वीकार करने का ही दूसरा नाम है।

वैसे यहाँ कविता और राजनीति के संबंधों की चर्चा भले ही बेमानी लगे, लेकिन अप्रासंगिक नहीं होगी, क्योंकि हिंदी प्रगतिवादी आंदोलनों में कविता को इस प्रकार का खतरा सहन करना पड़ चुका है। कवि जब किसी वाद-विशेष में बँधकर उसका प्रचार-प्रसार करने लगता है तो वह राजनीति के लिए कविता का उपयोग करने लगता है और फिर वह कवि-कर्म से विरत दिखाई देता है, क्योंकि कवि वह तभी तक है, जब तक वह कविता के लिए राजनीति का उपयोग करता है, अर्थात् अपनी संवेदना का परिष्कार करते हुए भाषा की सीमाओं में ही- काव्यमूलों के भीतर ही अपने को अनुशासित रखता है।

दरअसल, कविता में राजनीति आ जाने से उसका हास नहीं होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आज के वातावरण में राजनीति मानव-नियति को नियंत्रित करनेवाली शक्तियों में प्रमुख है, अतः उसे इंकार करने का अर्थ है सच्चाई से मुँह मोड़ना। भारत जैसे अल्पविकसित प्रजातंत्र में रहनेवाले कवि के लिए तो यह और भी ज़रूरी हो जाता है। आज की कविता अगर जुलूस, नारा, लाठीचार्ज, कर्फ्यू, चुनाव, मतदान, भीड़ और संसद की बात करती है तो इसलिए कि उसका मुख्य उद्देश्य है मनुष्य को उसके वास्तविक परिवेश में रखना, क्योंकि किसी अलग कल्पनालोक की ओर ले जाना उसका ध्येय नहीं है। डॉ॰ रामदरश मिश्र ने डॉ॰ नगेंद्र द्वारा संपादित 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में संकलित अपने 'आज की कविता' लेख में लिखा है- 'आज की कविता (आंदोलन नहीं) नई कविता की इसी जीवनोन्मुख धारा का अगला विकास है जिसमें सायास आंदोलन की योजनाबद्ध लकीरें नहीं, बल्कि आज के जीवन की अनुभवजन्य विषम संवेदनाएँ और बोध हैं। ये अनुभव और बोध आंदोलन से नहीं, सत्य से प्रेरित होकर आज की विषम स्थितियों की प्रतीति, अस्वीकृति और विद्रोह सबको आवश्यकतानुसार समेटते हैं।' ⁹

सन् साठ के बाद की धारा में वे कवि भी शामिल हैं, जो 'नई कविता' के विशिष्ट कवि रहे हैं, जिनमें जीवनधारा की बोधगम्यता का प्राधान्य रहा है। साथ ही सन् साठ के बाद की उपज के वे कवि भी रहे हैं, जो नई कविता की बनती हुई सीमाओं को पहचानकर उन्हें तोड़ने के लिए लालायित हैं। रामदरश मिश्र जी ने देखा कि- 'इन कवियों ने एक ओर जीवन की विकसित चेतना और जटिलता का अनुभव किया, दूसरी ओर यह देखा कि नई कविता के भी फार्मूले बनने लगे हैं, उसके प्रतीक और दर्द रूढ़ बनते जा रहे हैं। ... इस ठहराव को तोड़ना था, कविता को पुनः जीवन के करीब लाना था नई कविता की जीवनधारा को पहचानकर उसके साथ आगे चलना था।' ¹⁰ कहने का तत्पर्य यह है कि आज का कवि शासन और व्यवस्था-तंत्र के साथ संपूर्ण भाषातंत्र को भी तोड़ना चाहता है। उसकी भाषा अनुभव के निकट होती है। आज के कवि की अभिव्यक्तियाँ बेलौस और निर्मम होती हैं उसके अंदर कोई झिझक या संकोच नहीं है- 'न कोई छोटा है/ न कोई बड़ा है/ मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है/ जो मेरे सामने/ मरम्मत के लिए खड़ा हैं।' - धूमिल

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि बिंबों का मोह टूट चुका है क्योंकि आज का कवि अपनी सच्चाई को सीधे-सीधे व्यक्त करना चाहता है। परंतु इस सपाटबयानी और जीवंत भाषा की आड़ में इन साठोत्तर कवियों ने यथार्थ का बड़ा सतही बयान किया है और ऐसा करके एक हद तक भाषा और कविता का ही अवमूल्यन भी किया। बहुत कम ही कवियों ने भाषा का सार्थक

उपयोग किया है। जिनमें मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर सिंह, रघुवीर सहाय, विजयदेव नारायण साही, कुँवरनारायण, केदारनाथ सिंह, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना जैसे सप्तक-परंपरा के कवियों के अतिरिक्त श्रीकांत वर्मा, राजकमल, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, ज्ञानेंद्रपति, कमलेश, राजेश जोशी, कुमार विकल, गिरधर राठी, भगवत रावत, उदयप्रकाश, अरुण कमल, प्रयाग शुक्ल, देवेन्द्रकुमार, श्रीराम वर्मा, मलयज आदि कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं। साठोत्तर कवियों में धूमिल महत्त्वपूर्ण कवियों के रूप में उभरे हैं और अपने समय के कवियों पर उनका सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। वे सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना के कवि हैं, जिनकी कविता में भारतीय जनता और जनतंत्र का सीधा साक्षात्कार होता है।

सन् 1964-65 के बाद हिंदीकाव्य-जगत् के अनास्था, घुटन, अकेलेपन, मानसिक उच्छृंखलता और पराजय-बोध के समस्त माहौल को चीरते हुए प्रगतिशील बोध से जुड़ी हुई एक नई पीढ़ी सामने आई। विष्णुचंद्र शर्मा, राजीव सक्सेना, धूमिल, रणजीत आदि युवा कवियों की एक लंबी पंक्ति दिखाई देती है, जिसने युग की पूरी अनुरूपता में, हिंदी-कविता को उन्हीं राहों पर अग्रसर किया, जिन पर किसी समय प्रगतिवाद ने अपनी पूरी शक्ति से अग्रसर किया था।

सन् 1975 के बाद तो आनेवाली कविताओं का स्वर ही बदल-सा गया है। ये कविताएँ नई कविताओं और अकविता से अलग हटकर सामाजिक सरोकारों से जुड़ी हैं। प्रचलित भाषा में इन्हें प्रगतिशील स्वर की कविताएँ कह सकते हैं। इनका वर्ण्य-विषय आम आदमी के सुख-दुख, आज की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, विसंगतियों और यथास्थिति के विपरीत मूल्यों की अकुलाहट है। परंतु इन कविताओं की दुनिया प्रगतिशील चेतना की होती हुई भी पिछली प्रगतिवादी कविताओं की दुनिया से अधिक दुरूह और गहरी है, अधिक काव्यात्मक है। इनमें एक तरफ़ अभिव्यक्ति की सादगी है तो दूसरी तरफ़ काव्यात्मक सांकेतिकता भी। अतएव ये कविताएँ अभिव्यक्ति के क्षेत्र में जहाँ एक तरफ़ अपने को प्रगतिवादी कविताओं की अभिव्यक्ति की सपाटता से अलगाती हैं, वहीं दूसरी तरफ़ नई कविता की व्यक्तिवादी चेतना वाली कविताओं या अकविता की यौन विकृतियों के प्रतीकों से लबरेज कविताओं के उलझन भरी और अहेतुक दुरूहता से भी अलग-थलग रखती है। विभिन्न स्वरों वाली कविताओं के बावजूद इस सहज, सरल जीवन यथार्थ और अभिव्यक्ति वाली कविताओं को ही हम 'आज की कविता' कह सकते हैं। इस कविता की प्रकृति की पहचान इस तरह से भी की जा सकती है कि पुराने कई कवियों ने इस दौर में साफ़-सुथरी रचनाएँ दीं, जिनमें कुँवरनारायण का 'आमने-सामने', विजयदेवनारायण साही की 'साखी' एवं श्रीकांत वर्मा की 'मगध' प्रमुख रही हैं। आठवें दशक के आरंभ से ही हिंदीकाव्य में जनवादी कविता का भी स्वर उठाया गया। यह दशक राजनीतिक-सामाजिक दृष्टि से अत्यंत उथल-पुथल का युग रहा है। देशव्यापी रेलवे हड़ताल, गुजरात का छात्र-आंदोलन, जे०पी० की संपूर्ण क्रांति ही नहीं, वरन् अनुशासन पर्व के रूप में देश के इतिहास का सबसे कालापृष्ठ भी इसी दशक की देन है।

इस दौर की सबसे विलक्षण एवं सुखद घटना यह रही कि प्रगतिशील काव्यांदोलन के आरंभिक दौर के वे शीर्षस्थ कवि नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री आदि बिना किसी नये-पुराने के भेद के साथ नई पीढ़ी के कवियों की बगल में खड़े थे। इस दौर की कविताएँ तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक परिवेश को ही उजागर नहीं करतीं, बल्कि उसके

प्रतिकार की मानसिकता को भी तेज़ करती हैं। बाबूराम गोस्वामी ने अपने लेख 'छायावादोत्तर काल' में 'सन् 65 से लेकर अब तक की कविता' (डॉ० नगेंद्र द्वारा संपादित-हिंदी-साहित्य का इतिहास से उद्धृत) में लिखा है कि- 'अपने व्यापक और उदार रूप में जनवादी कविता आज की कविता है। यदि एक ओर उसमें प्रचारवादी और नारेवादी तमाम असमर्थ कवि और लेखक भी हैं, जो आम आदमी की ज़िंदगी के खुले कथ्य और काव्य-शिल्प दोनों की समान चिंता करते हैं। इसमें बिना ठप्पा वाले अच्छे कवि और लेखक काफ़ी दूर तक शरीक हैं, किंतु जनवादी लेखक संघ इसे तोड़ने में लगा है और प्रगतिवाद के कवियों और लेखकों को भी साहित्य के स्तर पर अपनी ही जमात का मानता है। वास्तव में साहित्य के स्तर पर उन्हें अलगाने का कोई आधार भी नहीं बनता। प्रगतिवादी खेमे के केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन आदि को जनवादी होने से कैसे वंचित किया जा सकता है।'¹¹

आठवें दशक के आरंभ से अब तक का समय हिंदी की प्रगतिवादी कविता का जनवादी दौर माना जा सकता है। वैचारिक दृष्टि से इसमें वामपंथी और जनवादी चेतना की विभिन्न छाया दिखाई देती हैं। इस दौर के अधिकांश कवियों का संबंध विभिन्न वामपंथी राजनीतिक संगठनों से किसी-न-किसी स्तर पर है। अतः इनके बीच एक वैचारिक अंतर भी दिखाई देता है। इस अंतर के बावजूद इनका लक्ष्य समान है। साहित्य में नए परिवर्तन की एक उद्दाम भावना जो 1930 के आस-पास पैदा हुई थी, उसने जिस तरह 'प्रगतिशील लेखक संघ' जैसे लेखक-संगठन की अनिवार्यता को साकार किया था, ठीक उसी तरह से इस दौर का साहित्य भी एक आंदोलन की स्थिति से गुज़रते हुए प्रगतिशील लेखक संघ के पुनरुद्धार के साथ ही, 'जनवादी लेखक संघ' और 'नवजनवादी लेखक संघ' के रूप में लेखक-संगठन की अनिवार्यता को साकार कर रहा है। इन संगठनों के माध्यम से साहित्य और कविता की सही दिशा, उसकी सही पहचान को लेकर परस्पर विवाद की स्थिति भी है। लेकिन यह सारा विवाद, चाहे वह कविता के तत्त्व या शिल्प को लेकर हो, चाहे उसकी भाषा को लेकर। इन सबका संबंध अनिवार्य रूप से विरोधग्रस्त समाज और सामाजिक आधार से जुड़कर ही उठाया गया है। इस पूरे विवाद में आज के वामपंथी राजनीतिक दलों की रचनात्मक भागीदारी भी है। अधिकांश कवि यह महसूस करते हैं कि कविता में सही समझ के लिए समाज के अंतर्विरोधों और उसकी वस्तुगत स्थितियों की सही समझ ज़रूरी है और इस समझ की प्राप्ति के लिए संघर्षरत सर्वहारा राजनीतिक दल या संगठनों के साथ जुड़ना ज़रूरी है।

जनवादी साहित्य का विश्लेषण करने पर यह प्रतीत होता है कि छोटी मुक्तक कविताओं के अतिरिक्त इस समय में कुछ प्रबंधात्मक, गीत, नाट्यात्मक कृतियाँ आईं, साथ ही अनेक लंबी कविताएँ भी लिखी गईं। यद्यपि प्रबंधात्मक कृतियों में ऐसी कृति प्रकाश में नहीं आई, जिसे इस दौर की एक विशेष उपलब्धि कहा जा सके। इस समय में लंबी कविता एक विशेष काव्यरूप धारण कर प्रकाश में आई। यद्यपि जयशंकरप्रसाद जी के समय से ही कई लंबी-लंबी महत्त्वपूर्ण कविताएँ लिखी गई थीं, किंतु उनका कोई काव्यरूप निर्धारित नहीं किया गया था। इस जनवादी कविता के दौर में डॉ० नरेंद्र मोहन ने 'कहीं भी ख़त्म नहीं होती कविता' और 'विचार और लहू के बीच' लंबी कविताओं के ये दो संकलन प्रकाशित किए और उनकी भूमिका में इस लंबी कविता के रचना-विधान और संकलित कविताओं के काव्यगत सौंदर्य का भी विश्लेषण किया। नरेंद्रमोहन इन

लंबी कविताओं के विषय में बहुत सक्रिय रहे, आगे उन्होंने इन लंबी कविताओं का रचना-विधान पुस्तक का भी संपादन किया, जिसमें अनेक लंबी कविताओं के काव्य-सौष्ठव का विश्लेषण करनेवाले कई लेख संकलित हैं। उपलब्धि के दृष्टिकोण से यह समय कविताओं के लिए उपयुक्त रहा है।

जब हम हिंदीकाव्य-आंदोलनों की तरफ दृष्टि डालते हैं तो देखते हैं कि नवगीत आंदोलनों ने भी इसी अवधि में जोर पकड़ा था। यद्यपि इसकी शुरुआत तो सातवें दशक के प्रारंभ में ही हो गई थी। 'नई कविता' समय में कुछ कवियों ने 'नवगीत' नाम से इस आंदोलन का सूत्रपात किया और इसे नए सिरे से हिंदी-कविता में गीतों की वापसी बताया। कुछ आलोचकों ने डा० शंभूनाथ सिंह को 'नवगीतों का जनक' माना है, जबकि स्वयं डा० शंभूनाथ सिंह जी ने इसके शुभारंभ का पूरा श्रेय अज्ञेय जी को दिया था। इन नवगीतों में अनुभूति की सच्चाई, अनुभूति की अपनी-अपनी विशिष्टता, नवीन सौंदर्यबोध, आकार-लघुता, नवीन-बिंब-प्रतीक-उपमान-योजना इनकी सामान्य विशिष्टता है। अतएव ये गीत प्रभाव की अन्विति से अंतर्दीप्त मालूम पड़ते हैं। इन सभी गीतों में लोकजीवन का रस है। इन गीतों में घरेलू जीवन का परिवेश है, प्रकृति के बहुत अछूते बिंब हैं, आसपास के जीवन का रंग है।

नवगीत विधा को सशक्त आंदोलन के रूप में प्रसारित करने में डा० शंभूनाथ सिंह, राजेंद्रप्रसाद सिंह, मुकुटबिहारी 'सरोज', भारतभूषण, सोम ठाकुर, गोपालदास 'नीरज', श्रीपालसिंह 'क्षेम', ओम प्रभाकर, नईम, ठाकुरप्रसाद सिंह, शिवबहादुर सिंह भदौरिया, देवेंद्रकुमार, जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव 'अतृप्त', माहेश्वर तिवारी, अमरनाथ श्रीवास्तव, उमाकांत मालवीय, उमाशंकर तिवारी, रवींद्र 'भ्रमर', बुद्धिनाथ मिश्र, कुँअर बेचैन, मधुकर गौड़, श्रीकृष्ण तिवारी, गुलाबसिंह, सुरेंद्र काले, देवेंद्रकुमार आर्य, सत्यप्रकाश 'अनाम', ओमप्रकाश मिश्र, यश मालवीय, उमाशंकर बाबा आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

नवगीत की प्रवृत्तिगत विशेषताओं में गेयता, लयात्मकता, छंदबद्धता, लोकसंपृक्ति, जातीय बोध, सांस्कृतिक चेतना, नवीनता की स्वीकृति, सौंदर्य और प्रेम, युगबोध, यथार्थवादी दृष्टिकोण, संवेदनधर्मिता, भारतीय ढंग की आधुनिकता, प्रकृति व परिवेश से लगाव, संप्रेषणीयता, बिंबधर्मिता या चित्रात्मकता, कथ्यगत सघनता, सादगी एवं भावोच्छ्वासजन्य सहजता आदि महत्वपूर्ण हैं।

नवगीतकारों ने पारंपरिक गीत के संकुचित दायरे को तोड़कर उसे समकालीन सामाजिक सरोकारों से जोड़ा है और समाज की यथार्थ स्थितियों की स्पष्ट अभिव्यक्ति की है—

जिस जगह सूरज किसी का दास है

जिस जगह पानी नहीं है प्यास है

जिस जगह सपने नहीं हैं रात है,

जिस जगह मरहम नहीं आघात है

तुम बताओ उस जगह के गीत का आधार क्या हो?

—मुकुटबिहारी 'सरोज'

नवगीत की तर्ज पर जनवादी गीत लिखे गए। यद्यपि जनवादी गीत की रचना के पीछे एक खास तरह की सामाजिक-राजनीतिक समझदारी और एक स्वस्थ वैज्ञानिक दृष्टिकोण काम रहा है। सन् 1967 के नक्सलबाड़ी आंदोलन एवं कई प्रांतों में गैरकाँग्रेसी सरकारों के गठन ने सिर्फ राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, सामाजिक-साहित्यिक क्षेत्रों में भी एक हलचल पैदा कर दी थी। यह

वह दौर था, जब साहित्यिक दुनिया में अकविता, नंगी पीढ़ी, भूखी पीढ़ी आदि अनेक अराजकतावादी कविता पीढ़ियाँ अपनी विकृतियों, कुंठाओं और भटकावों को व्यक्त करके समूचे परिवेश को घृणास्पद और वीभत्स बनाने का आत्मघाती कुचक्र रच रही थीं और अपनी समस्त सांस्कृतिक विरासत को गर्त में गिराने का प्रयास कर रही थीं। इन सबसे मुक्ति आवश्यक थी। अतः इस कार्य में नक्सलबाड़ी आंदोलन ने भरपूर सहयोग किया और इस आंदोलन से प्रभावित होकर ही अनेक नए-पुराने साहित्यकार सामने आए, अपनी नवीन ऊर्जा के साथ नवीन चेतना लेकर, और विषय लिया उन मेहनतकश जनता के जीवन का। उनकी आशाओं और अपेक्षाओं को अपनी रचना का केंद्र बनाया। इन साहित्यकारों में रमेश रंजक, शैलेंद्र कांतिमोहन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, देवेंद्रकुमार, माहेश्वर तिवारी, शांति सुमन, नचिकेता, गोरख पांडेय, चंचल चौहान, देवेंद्रकुमार आर्य, महेश्वर, रामकुमार 'कृष्क', अश्वघोष, राधेश्याम 'बंधु' तथा ब्रजमोहन आदि उल्लेखनीय हैं।

इन जनवादी गीतकारों ने बहुसंख्य श्रमजीवी वर्ग के जीवन में व्यक्त विविध समस्याओं— भूख, ग़रीबी और बेरोजगारी को विषय बनाकर काफी अच्छे प्रभावशाली गीत लिखे—

रोटी इतनी बिखरा दी है इधर-उधर

जिसे जुटाने में ही लग जाए दिन भर।

—रमेश रंजक

इन जनवादी गीतों में अत्यंत ग़रीबी, भुखमरी और शोषण का चित्रण होने के बावजूद ज़रा भी निराशा के स्वर नहीं दिखते हैं। इन गीतों में जनता के प्रति गहरी सहानुभूति और वर्ग-शत्रुओं के प्रति तीखा आक्रोश है। ये गीत हौसला बुलंदी और आशा-विश्वास के गीत हैं। ये गीत संघर्ष और क्रांति के गीत हैं, ये गीत अपने अधिकार और स्वाभिमान की भाषा बोलते दिखते हैं—

अगर उठे हुंकार कमानेवालों का फौलादी सीना—

और लगे अधिकार माँगने सिर का चूता हुआ पसीना

गीत लिए विप्लवी होठ पर चहक रहा पक्षी सा दिन है

जीना नहीं कठिन है।

—नचिकेता

इस दौर के तेज़तर्रार गीतकार यश मालवीय ने पीड़ित जनसमुदाय को जाग्रत करते हुए बहुत धारदार भाषा में लिखा है—

अपने भीतर आग भरो कुछ जिसमें यह मुद्रा तो बदले

इतने ऊँचे तापमान पर शब्द ठिठुरते हैं तो कैसे

शायद तुमने बाँध लिया है, खुद को छायाओं के भय से

इस स्याही पीते जंगल में, कोई चिंगारी तो उछले।'

— यश मालवीय

यहाँ साहित्यिक आंदोलन के बारे में केवल इतना समझ लेना आवश्यक है कि कुछ आंदोलन ऐसे होते हैं, जो साहित्य के बीच से उठते हैं या पैदा किए जाते हैं और नारे के रूप में उछाल दिए जाते हैं। अपनी सारी नवीनता एवं चकाचौंध के बावजूद ये शीघ्र ही मिट भी जाते हैं। परंतु कुछ आंदोलन ऐसे भी होते हैं, जो समाज में, उनकी ज़िंदगी के बीच से उठते हैं और साहित्य में भी आंदोलन का रूप ग्रहण कर लेते हैं। प्रगतिवाद या प्रगतिशील आंदोलन एक ऐसा ही आंदोलन है। प्रगतिवाद, नयी कविता, अकविता, सचेतन कविता आदि अन्य काव्यांदोलन एक ख़ास विचार और उद्देश्य के तहत साहित्य के बीच से शुरू किए गए थे। अतः प्रगतिवादी आंदोलन की तुलना इन आंदोलनों से नहीं करनी चाहिए। समाज और सामाजिक जीवन के जिन मसलों को लेकर यह

उठा था, उनका जब तक हल नहीं हो जाता, तब तक यह खत्म नहीं होगा। यद्यपि उसमें उतार-चढ़ाव आ सकते हैं, वह तीव्र और मंद हो सकता है लेकिन समाप्त नहीं हो सकता।

हिंदी के प्रगतिशील साहित्य-आंदोलन की एक लंबी परंपरा है, जो बीच में कुछ समय के लिए अवश्य धूमिल हुई थी, लेकिन आज हिंदी की मुख्य साहित्य-धारा के रूप में प्रतिष्ठित है। अपने आरंभिककाल में उसकी जो सार्थकता थी, आज वह उससे कहीं अधिक सार्थक और प्रासंगिक बन गई है। इसका मुख्य कारण रहा है प्रगतिवादी साहित्य-धारा का वैचारिक-सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य।

नवें और दसवें दशक में आकर यह कविता पुनः जनोन्मुख, संघर्षमुखी, यथार्थपरक और वस्तुपरक हुई है। उसके सरोकार अधिक प्रस्फुट, उसकी चिंता अधिक प्वाइंटेड, उसकी संवेदना अधिक गहरी और उसकी समझ अधिक पैनी दिखती है। किंतु अज्ञेय की तरह से यों कहना शायद ज्यादा उचित होगा कि ये कवि अभी राही हैं, हालाँकि प्रयोगवादियों की तरह अटके-भटके नहीं। ये अपनी राह भी पहचानते हैं और मंजिल भी। मगर अभी पहुँच नहीं है। इसलिए अध्यापक-विश्लेषक अभी समय की प्रतीक्षा में हैं। अस्तु 'आज समूचे विश्व में ग्लोबलाइजेशन की चर्चा ज़ोरों पर है। विश्व-मानव अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के नाते परस्पर एक-दूसरे के निकट आ रहे हैं। ऐसे में समकालीन कविता का दायित्व और बढ़ जाता है। अन्य राष्ट्रों के आधुनिकतम साहित्य-वादों से उसका प्रभावित होना उचित है, किंतु यदि उसमें अति वैयक्तिकता, कुंठा, कृत्रिम प्रबुद्धता, कठिन अभिव्यक्ति, भाषा की जटिलता के बदले भाषा की सहजता, भावों की गंभीरता, विचारों की प्रौढ़ता, कला वैशिष्ट्य और लय का आकर्षण बना रहे तो शायद वह अधिक सुगंधग्राह्य और चिरस्थायी बनी रहेगी। इस प्रकार जब वह अपने भावबोध, चिंतन और शिल्प वैशिष्ट्य के द्वारा जीवन के गहरे रूपों का चित्रांकन करते हुए सामाजिक सराकारों से सीधे जुड़कर लोकमंगल का कार्य करेगी तो अवश्य ही उसका भविष्य उज्ज्वल रहेगा।

संदर्भ

1. डॉ० जगदीश गुप्त, नई कविता : स्वरूप और समस्याएँ, पृ० 42
2. डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 444
3. डॉ० जगदीश गुप्त, कवितांतर, पृ० 40
4. डॉ० भगीरथ मिश्र, नया हिंदीकाव्य और विवेचना (भूमिका), पृ० 8 से उद्धृत
5. डॉ० शंभूनाथ चतुर्वेदी, नया हिंदीकाव्य और विवेचना, पृ० 114-115
6. डॉ० नगेंद्र, हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृ० 655
7. अज्ञेय, दिनमान में प्रकाशित वक्तव्य, सन् साठ के बाद की कविता।
8. डॉ० विजयमोहन सिंह : समकालीन कविता : एक आत्मालाप, पृ० 72
9. डॉ० रामदरश मिश्र : सं० डा० नगेंद्र, हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृ० 648
10. वही, पृ० 648
11. डॉ० बाबूराम गोस्वामी : सं० डा० नगेंद्र, हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृ० 661

□ 66/615 गीता निवास, सैक्टर-16, इंदिरानगर
लखनऊ (उ.प्र.)

सच्चे जनकवि थे नागार्जुन

त्रिलोकी बिंद

शोध छात्र

वीरबहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर

कविवर नागार्जुन अपनी सरलता, निश्छलता और जिजीविषा के नाते सबके लिए 'बाबा नागार्जुन' थे। उनकी काव्य-यात्रा हिंदी, मैथिली और बांग्ला तीनों भाषाओं में समान गति से चलती रही। उन्होंने संस्कृत में भी कुछ कविताएँ लिखीं। नागार्जुन का रचना-संसार छोटों के जीवन-संघर्ष की अभिव्यक्ति से बना था। वह आमजन के दुःख-दर्द में शामिल होने के अलावा देशज लोगों के समूह के बीच खड़े दिखाई देते हैं। बाबा नागार्जुन द्वारा लिखी गई 'भिखारी' कविता का आज के समय में भी कोई जवाब नहीं—

चौराहे के उस नुक्कड़ पर/ काँटों का बिस्तार बिछाकर

सोया साधु दाढ़ी वाला/ लोग तमाशा देख रहे हैं

अपनी धुन में आते-जाते

सेठों की गलियों का नुक्कड़/ काँटों पर लेटा है फक्कड़।

बाबा नागार्जुन की स्वयं की वेशभूषा निराली थी। जाड़ों में खादी का बंद गले का मुसा-सा गर्म कोट, गर्दन में लपेटे कानों के ऊपर कनटोपा और बगल में महीने भर पहले धुला शांति निकेतनी थैला। गर्मियों में खादी का कुर्ता-पायजामा।

बाबा नागार्जुन का जन्म 1911 में ज्येष्ठ पूर्णिमा के दिन बिहार के मधुबनी जिले के सतलखा गाँव (ननिहाल) में हुआ था, जो उसके पैतृक गाँव दरभंगा जिले के निकट है। उस समय माता-पिता ने उनका नाम दिया— वैद्यनाथ मिश्रा। आरंभिक शिक्षा गाँव की संस्कृत पाठशाला में हुई। कुछ समय काशी में रहे और कुछ वर्षों बाद कोलकाता चले गए। पालि भाषा और बौद्धदर्शन के लिए श्रीलंका में कोलानिया गए। सन् 1930 में पहली कविता मैथिली में छपी। 1932 में अपराजिता देवी से विवाह हुआ। 1934 से 1941 तक साधुओं का जीवन जीते हुए बिहार से पंजाब, राजस्थान, हिमाचल, गुजरात और देश के कई अन्य भागों में घूमते रहे। लंका-प्रवास के पश्चात् वह बिहार सरकार द्वारा प्रायोजित अनुसंधानकर्ताओं के एक दल के साथ तिब्बत पहुँच गए। 1939 में वह स्वामी सहजानंद सरस्वती के नेतृत्व में बिहार में चल रहे किसान आंदोलन में भाग लेने लौट आए और छपरा, हजारीबाग जेल में कारा-यंत्रणा भुगतने के बाद हिमालय और पश्चिमी तिब्बत के जंगली इलाकों में भ्रमण के लिए निकल पड़े। 1941 में दूसरे किसान नेताओं के साथ भागलपुर कारागार में रहे। इसी दौरान गृहस्थाश्रम में भी लौटे। उनकी अन्य जेल यात्राएँ 1948 तथा 1975 में हुईं। बाबा नागार्जुन जनकवि थे। वह अपनी पीढ़ी

के संभवतः पहले जनकवि थे, जो वास्तव में जनता से जुड़े और उनकी कविताएँ भी जनता से जुड़ीं। उनके जीवन और सृजन में कहीं विरोध नहीं था। जो जिस रूप में था, उसको उसी रूप में बाबा ने अपनी कविताओं में रखा और उसे जनता ने भी उसी रूप में स्वीकार किया। वे कलम की नोंक पर आम आदमी के काव्य का लक्ष्य और साधन-साध्य मानकर चलने वाले प्रतिबद्ध रचनाकार थे। उनके पूरे कवि व्यक्तित्व का मंत्र है— प्रतिबद्धता।

प्रतिबद्ध हूँ/ संबद्ध हूँ/ आबद्ध हूँ

प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, प्रतिबद्ध हूँ

नागार्जुन की प्रतिबद्धता संकुचित नहीं है। किसी रिक्शा चालक पर लिखी गई उनकी कविता से साफ नज़र आता है—

ख़ूब गए। दुधिया निगाहों में/ फटी बिवाइयों

वाले खुरे पैर...

कस गए/ कुसुम कोमल मन में...

कविता नहीं, आग के गोले उगलने वाला कवि तमाम उपेक्षाओं को दरकिनार कर मौत को कितना सहज और शांत होकर गले लगा लेगा, किसी ने कल्पना भी न की होगी। उनके विषय में निर्विवाद मत है कि कबीर के बाद नागार्जुन से बड़ा व्यंग्यकार कोई नहीं हुआ। उनकी एक व्यंग्य और कटाक्ष के साथ निर्भीकता की कविता—

देश हमारा भूखा-नंगा, घायल है बेकारी से।

मिले न रोजी रोटी, भटके दर-दर बने भिखारी से,

स्वाभिमान सम्मान कहाँ है, होती है इंसान की,

बदला सत्य-अहिंसा, बदली लाठी-गोले-डंडे हैं।

नागार्जुन की पहली कविता हिंदी में 1935 में लाहौर के 'विश्वबंधु' में प्रकाशित हुई। 1940 में पहली कहानी 'असमर्थता', 'विशाल भारत', में छपी। इसके पहले 1930 में उनकी पहली कविता मिथिला में छपी थी। पहला काव्य-संकलन 'युगधारा' 1935 में छपा।

इसके बाद अनेक कविता-संकलन प्रकाशित हुए— 'सतरंगे पंखोंवाली', 'प्यासी पथराई आँखें' 'तालाब की मछलियाँ', 'तुमने कहा था', 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने', 'हज़ार-हज़ार बाँहो वाली', 'पुरानी जूतियों का भरोसा', 'रत्नगर्भा', 'ऐसे भी हम क्या', 'ऐसे भी तुम', 'ऐसा क्या कह दिया मैंने', और 'इस गुब्बारे की छाया में'। इसके अतिरिक्त दो प्रबंध काव्य 'भस्मांकुर' और 'भूजिया'। उनके अंतिम काव्य-संकलन 'अपने खेत में' में उनकी चिंता साफ दिखाई देती है—

जनवरी का प्रथम सप्ताह... खुशगवार दुपहरी धूप में

इत्मीनान में बैठा हूँ...।

अपने खेत में हला चला रहा हूँ।

इन दिनों बुवाई चल रही है।

इर्द-गिर्द की घटनाएँ ही मेरे लिए बीज जुटाती हैं।

आज़ादी के वर्ष में उनकी जनकविता 'जनकवि' में वह सब कुछ देखने को मिलता है, जो एक कवि की दृष्टि में होना चाहिए—

जीवन में इस धरा-धाम का क्या महत्त्व है,
कैसे कहलाता है कोई धरती का बेटा,
आसमान में सतरंगी बादल चढ़कर
कैसे जनकवि ध्यान रोपता... समझ गया है

एक बार आसमान में घिरे कजरारे मेघों का सौंदर्य देखकर उन्होंने यह कविता लिखी—
झुक आए हो/ बस झुके ही रहना
इसी तरह इत्मीनान से बरसते जाना
हौले-हौले...हड़बड़ी भी क्या है तुमको।

नागार्जुन की कुछ प्रेम-कविताएँ तथा अगन और कालिदास पर लिखी कविताएँ
आधुनिक हिंदी साहित्य की 'क्लासिक' धरोहर हैं—

आम्र की रसभरी मंजरियाँ देखकर खुशी के मारे

कोयलों ने कुहू-कुहू की मानो रट लगा दी है। बाबा की कविताओं में सामान्य
जन-जीवन के ऐसे तमाम दृश्य हैं, जिनसे आज के समय का एक मुकम्मल चित्र कोई बना
सकता है— पूरी स्पीड में है ट्राम/खाती है, दचके पै दचका/सटता है बदन से बदन/ पसीने से
लथपथ छूती है निगाहों को/ कत्थई दाँतों की मोटी मुस्कान।

बाबा नागार्जुन में रस-गंध, स्पर्श और स्वाद की भूख अपार है। कई बार तो ऐसा लगता
है कि उनकी अटूट जिजीविषा और लंबे जीवन का राज़ कहीं यही तो नहीं—

बहुत दिनों के बाद अबकी मैंने/ जी भर देखी पकी सुनहली फ़सलों की मुस्कान/
बहुत दिनों के बाद.../ कर गई चाक/ तिमिर का सीना/ जोत की फाँक/ यह तुम थीं!

कविता के अतिरिक्त नागार्जुन ने कुछ अलग तरह के उपन्यास भी लिखे, जो मिथिला
क्षेत्र की विषयवस्तु से संबद्ध हैं— 'रतिनाथ की चाची', 'बाबा बटेसरनाथ', वरुण के बेटे',
'दुःख मोचन' के साथ हिंदी में ही 'इमरतिया', 'पारो' और 'उग्रतारा' उनके अन्य उपन्यास हैं।
'नलवतुरिया' मैथिली उपन्यास है। उनकी अन्य कृतियों में संस्कृत में 'धर्म लोक शतकम्',
'देख दशकम्' आदि हैं कुछ बंगला कविताएँ उनकी चुनी हुई रचनाओं में संकलित हैं। नागार्जुन
की कृतियों के अनुवाद भारतीय और विदेशी भाषाओं में किए गए हैं।

कवि नागार्जुन ने ढक्कन मिसिर, वैद्यनाथ, वैदेह तथा यात्री आदि कई कवि नामों से
रचनाएँ की। वास्तव में उनकी कविताओं में शोषितों, वंचितों, लाचारों, किसानों, कामगारों की
पीड़ा, दलितों का संघर्ष, गरीबों का शोषण, बच्चों का कुपोषण, सत्ता के दुर्योधन-दुःशासन और
धृतराष्ट्र एवं रावण सभी मौजूद हैं। ये सभी उनके संसाधन हैं, जिनमें उनके कवि का निर्माण
हुआ। वे अपने समकाल के सेनानी थे और भविष्य के स्वप्नद्रष्टा, सर्जक थे। महायात्रा के बारे
में पहले से ही लिखा रहा था—

मरूँगा तो चिता पर दो फूल दंगे डाल,
समय चलता जाएगा निर्बाध अपनी चाल,
सुनोगी तुम तो उठेगी हूक
मैं रहूँगा, सामने तस्वीर में, पर मूक।



प्रसाद-काव्य में नारी का पूज्या रूप

शरतचंद्र भारती

शोध छात्र

वीरबहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर (उ०प्र०)

नारी के पूज्या रूप :

भारतीय वाङ्मय में नारी के विविध रूपों एवं उनके अनुपातिक महत्त्व का विविध रूपों में परिचय मिलता है। वैदिककाल से लेकर उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रंथ, रामायणकाल, महाभारतकाल, स्मृतिकाल, पौराणिक काल, बौद्धसाहित्य, संस्कृत साहित्य, अपभ्रंश साहित्य, नाथसिद्ध साहित्य तथा मध्यकालीन हिंदीकाव्य में नारी एवं आधुनिक साहित्य में नारी स्वरूपों का विस्तार से विवेचन मिलता है। भारतीय विधान-संहिता के नियामकों में प्रसिद्ध महर्षि मनु ने घोषणा की— 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'। अर्थात् जिस स्थान पर नरियों की पूजा की जाती है, वहाँ देवता वास करते हैं। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में नारी को सखा के पद पर प्रतिष्ठित करके उसकी महिमा पुरुष के समक्ष स्वीकार की गई है। वैदिककाल से लेकर आधुनिककाल तक में नारी शक्ति-स्वरूपा, आदिशक्ति, जननी, देवी, पत्नी एवं प्रेयसी के रूप में चित्रित की जाती है।

वैदिककाल में अधिकांशतः नारी को देवी के रूप में ही चित्रित किया गया है। उस काल में नारी एक रत्न थी। वह गृह-संचालन से लेकर हवन तथा सैनिक वेश में पति की सहायिका सिद्ध होती थी। उस समय स्त्री को माता के रूप में सर्वाधिक सम्मान प्राप्त था। ऋग्वेदानुसार माता सर्वाधिक घनिष्ठ एवं प्रिय संबंधी है। भक्त परमात्मा को पिता की अपेक्षा माँ कहकर अधिक संतुष्ट होता है। सामवेद में 'यज्ञ सरस्वती' से स्पष्ट रूप से सरस्वती का तात्पर्य वाक्स्वरूपा नारी से है। अथर्ववेद में आया हुआ 'दुरिया' शब्द भी इस बात की ओर संकेत करता है कि नारी का स्वरूप जहाँ एक ओर पूज्या स्वरूप देवी सरस्वती माता आदि है, वहीं दूसरी ओर गाय दुहनेवाला कामागारिन के रूप में भी वह विद्यमान है। ब्राह्मण ग्रंथों में कुछ ऐसे भी रूप प्राप्त हैं, जहाँ नारी को परिवार रूपी वृत्ति का ध्रुवबिंदु माना गया है। इस युग में नारी का स्वरूप जितना महत्त्वपूर्ण एसां आराध्य रहा है, उतना परिवर्तित युग में नहीं दिखाई पड़ता। रामायणकाल में नारी का परिवर्तित रूप दिखाई पड़ने लगा। वह 'छायेव अनुगता' के रूप में चित्रित की गई। यद्यपि पुरुषोत्तम राम ने उसकी स्थिति को सुधारने के लिए एक पत्नी व्रत का आदर्श भी प्रस्तुत किया।

इस युग में नारी के पूज्या रूप एवं साख्य रूप के दर्शन होते हैं। रामायणकाल में नारी को पतिवंश की मर्यादा बनाए रखनेवाली माना गया। रामायणकालीन परिवार पैतृक परिवार थे, जिसमें पत्नी गृहस्वामिनी होकर भी पति की अनुगामिनी होती थी। इस काल की स्त्रियाँ वेद-वेदांग का अध्ययन करती थीं, जिसके कारण उनमें नैतिकता की प्रबल धारणा विद्यमान थी। सीता अपने नैतिक गुणों के कारण ही नारी का आदर्श रूप पा सकी है।

महाभारतकाल में नारी का पूज्या रूप विलुप्त होने लगा। फिर भी आदर्शोन्मुख चरित्र के कारण वह पूजनीय रही है। इस युग में पति की सेवा करना उसका परम कर्तव्य बताया गया है। साथ ही पति की किसी भी प्रकार की आज्ञा के प्रति निष्ठावान होने पर उसे स्वर्ग का अधिकारिणी बताया गया है। इस काल की नारी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के साथ चलती दिखाई पड़ती है। अपनी ओजस्विता और कर्मठता के कारण नारी इस युग के समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान स्थापित करती है। गांधारी, कुंती, द्रौपदी, शकुंतला, सत्यभामा और विदुला आदि स्त्रियाँ अपने उज्वल चरित्र के फलस्वरूप पूज्या रूप को प्राप्त करते हुए दिखाई पड़ती हैं।

आधुनिककाल में नारी का स्वरूप महिमामयी नारी के रूप में हुआ है। इस काल की कविता में भारतेन्दु हरिश्चंद्र, जयशंकर प्रसाद, दिनकर आदि कवियों ने नारी के वृहत्तर रूपों की सृष्टि की है। आधुनिककाल के कवियों ने नारी के 'पूज्या' रूप को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए उसकी शक्तियों को जगाना चाहा है। इस काल में सीता, राधा, द्रौपदी, यशोदा, लक्ष्मीबाई, दुर्गावती, नूरजहाँ तथा पन्ना धाय आदि के कर्तव्यनिष्ठ प्राणवान प्रेरक चित्र ही उपस्थित नहीं हुए बल्कि उर्मिला और यशोधरा जैसी उपेक्षित नारियाँ भी उत्कर्षमयी बनकर चित्रित हुईं। आधुनिक काल का प्रथम चरण बंगला से प्रभावित था। विश्वकवि टैगोर ने नारीविषयक धारणा को अपनी कविता में अत्यंत मानवीय धरातल पर चित्रित किया है। उसमें नारी के 'जीवित यथार्थ' को प्रस्तुत करनेवाले चित्रण मिलते हैं। छायावाद के विकास में रवींद्र का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। प्रसाद, पंत और महादेवी वर्मा ने नारी के इसी गरिमामयी मानवीय स्वरूप का दर्शन कराया है।

इस युग में महिमामयी नारी के रूपक भी दिए जाने लगे। मातृभूमि को राष्ट्रीय आंदोलन के आवेग में माता के रूप में देखा जाने लगा। उसे मातृभूमि कहकर उसकी वंदना के गीत गाए जाने लगे। आधुनिक युग में नारी के विविध रूपों को विविध दृष्टियों से चित्रांकित किया गया है। छायावादी काव्य में नारी को गंगाजल-सा पावन समझा गया और उसे विस्मयविमुग्ध नयनों से देखा गया। इस काव्य में नारी आदर्श एवं कल्पनालोक से यथार्थ के ठोस धरातल पर उतर आई है। कालांतर में अशिक्षा, पर्दा प्रथा, विधवा-समस्या तथा दहेज-समस्या को लेकर नारीविषयक अनेक करुण चित्र कवियों ने खींचे हैं। पुरुष की वासना को परितृप्त करने को विवश नारी वेश्या का जीवन जीने को विवश की जाती रही है। नारी की इस विवशताजन्य पराजय का विषय अनेक कवियों को आंदोलित कर गया। उन्होंने सामाजिक विषमता के मध्य नारी के अधिकारशून्य व्यक्तित्व को देखा और उसके पतन की पराकाष्ठा को पहचाना।

समष्टि रूप में हिंदीकाव्य में नारी के विविध रूपों में उसका कन्या, माता, प्रेमिका, पत्नी, विधवा, भिखारिन, पगली, निर्वासिता, वेश्या, नर्तकी, अभिनेत्री, श्रमिक, वीरांगना, गृहणी, डाक्टर तथा नर्स आदि के रूप में चित्रण हुआ है। प्रेमिका, पत्नी और प्रेरिका के रूप में नारी का चित्रण काव्य की प्रमुख विशेषता रही है।

इस प्रकार वैदिककाल से लेकर आधुनिककाल तक के काव्य में नारी चरित्र एवं उसके पूज्या स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत हुए हैं। अब हम प्रसाद-काव्य में आई नारी के पूज्या रूप का अवलोकन करेंगे। प्रसाद के बचपन से बढ़े होने तक के व्यक्तित्व में नारी उनके लिए महान, आदर्शमयी, पूजनीया रही हैं। माँ से प्रभावित प्रसाद उनके आश्रय में पले, बढ़े और उन्हीं

के साथ तीर्थस्थलों की यात्रा भी की। प्रतिभाशाली प्रसाद ने माता की ममता, दुलार को सूक्ष्मता से परखा और उसके अस्तित्व को समझा। उनकी दृष्टि में नारी के ही चरण-शरण में स्वयं का तथा विश्व का कल्याण निहित है। तभी तो प्रसाद ने 'आँसू' में अमूर्त नारी के रूप में आई प्रणयिनी को पूज्या रूप में चित्रित किया है। प्रसाद कहते हैं कि जलते हुए संसार को शांत करनेवाली एकमात्र तुम ही हो, तुम्हीं से विश्व का कल्याण संभव है—

निर्मम जगती को तेरा, मंगलमय मिले उजाला

इस जलते हुए हृदय की, कल्याणी शीतल ज्वाला!

कवि नारी के उपकारों को युगों-युगों तक विस्मृत न होने देने की कामना करता है। 'साथ ही मानवीय व्यक्तित्व में तुम्हारी छाप हो, तुम्हारे स्मरण के अभाव में जीवन व्यर्थ है' कहकर उसके सम्मान में वृद्धि की है—

तेरा आलिंगन कोमल, मृदु अमर-बेलि-सा फैला

धमनी के इस बंधन में, जीवन ही न हो अकेला।

'कामायनी' में कवि प्रसाद ने उन्मुक्त कंठ से श्रद्धा के पूज्या रूप का बखान किया है। जीवन-भर में संचित श्रद्धा, सहानुभूति को 'श्रद्धा' के पूजनीय चरणों में लाकर समर्पित कर दिया है। प्रसाद ने नारी के उस गौरव की ओर संकेत किया है, जिसके कारण नारी श्रद्धामयी होती है। नारी को श्रद्धारूपिणी कहकर उसकी तुलना अमृत जल से भरी हुई पवित्र नदी से की है, जो पर्वत का आश्रय लेकर उसकी आधारभूमि को समतल बनाती है तथा निरंतर बहते हुए निकट के प्राणियों को सुख और शीतलता प्रदान करती है। सचमुच नारी का ऐसा रूप ही पूजनीय है—

नारी! तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग-तल में,

पीयूष स्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुंदर समतल में ।

इस संबंध में डॉ० सुरेंद्र का कथन दर्शनीय है— सामाजिक संदर्भों में स्त्री की अधोगति और उस पर पुरुष के अत्याचार से विचलित वे स्त्री को पुरुष की अपेक्षा जीवन में और प्रकारांतर से सामाजिक संदर्भ में अधिक महत्त्व देते थे। चूँकि उनकी दृष्टि में स्त्री अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसलिए पुरुष की अपेक्षा उसकी भूमिका कहीं कठिन है। 'दर्शन' सर्ग में मानव द्वारा माँ श्रद्धा को 'अंबे फिर क्यों इतना विराग' कहकर उसके पूज्या रूप को व्यक्त किया गया है। इसी सर्ग में 'इड़ा' व्यथित मन से 'श्रद्धा' के समीप आती है, श्रद्धा उसके कष्टों का कारण समझ लेती है। वह बोल उठी— मुझे तुमसे कोई शिकायत अथवा विरक्ति नहीं। तुमने ही तो मुझे अवलंब दिया। 'श्रद्धा' के विशाल, उदार हृदय को देखकर 'इड़ा' द्रवित हो उठती है। श्रद्धा ने अपनी संपूर्ण विनय से उसे सांत्वना दी। तभी 'इड़ा' कह उठती है—

तिस पर मैंने छीना सुहाग,

हे देवि! तुम्हारा दिव्य राग।

श्रद्धा अपने पुत्र मानव को इड़ा को सौंपकर मनु को खोजने के लिए जाना चाहती है। अपने क्षमा-संबंधी वचन को दृढ़ता प्रदान करने के लिए ही श्रद्धा इड़ा को अपने स्नेह का समर्पण करती है। तर्कमयी इड़ा के संरक्षण में मानव को रखकर श्रद्धा राष्ट्रनीति, रक्षा तथा समरसता का प्रचार करवाना चाहती है। इड़ा ने एक बार पुनः उसके पूज्या रूप को अपनी वाणी

से व्यक्त किया है—

हे देवि! तुम्हारा स्नेह प्रबल, बन दिव्य श्रेय-उद्गम अविरल,
आकर्षण घन-सा बितरे जल, निर्वासित हो संताप सकल।

‘इड़ा’ पूरी तरह से ‘श्रद्धा’ के इस रूप से प्रभावित है। अब उनका भी अंतर्मन उसी मार्ग पर चलने को उद्धत है, किंतु श्रद्धा उन दोनों को छोड़कर एक बार पुनः अकेले मनु को खोजने निकल पड़ती है। कुछ दूर जाकर श्रद्धा अपने मनु को प्राप्त कर लेती है। उस सर्वमंगला के सम्मुख मनु ने अपनी तुच्छता, लघुता को स्वीकार करते हुए स्वयं अपने मुख से श्रद्धा को पूजनीय कहा है—

तुम देवि! आह कितनी उदार, यह मातृमूर्ति है निर्विकार
हे सर्वमंगले! तुम महती, सबका दुःख अपने पर सहती,
कल्याणमयी वाणी कहती, तुम क्षमा-निलय में हो रहती।

यहाँ पर हम कहना चाहते हैं कि जब मूर्ख व्यक्ति सार्थक शब्द की सुंदर व्याख्या कर दे तो निश्चय ही उसमें ज्ञान का संचार हो चुका है। जब यायावर मनु को श्रद्धा की परख हो जाती है, उसे पूज्या, वंदनीया, सर्वमंगला आदि शब्द से संबोधित कर देते हैं तो इसमें संदेह नहीं रह जाता कि श्रद्धा का स्वरूप पूजनीय है। प्रसाद की स्त्री आकर्षक है, सहचरी है और माँ है, मानव की ही नहीं, मनु को मुर्मुषावस्था से स्वस्थ कर उँगली पकड़कर कैलाश ले जाती हुई गुरुवत् ‘त्रिपुर’ का रहस्य समझाती है। इस तरह वह शक्ति है और शक्ति की प्रेरणा भी। पुरुष उसी शक्ति के शासन में बर्बरता छोड़ सकता है, और आनंद तथा विश्वमैत्री प्राप्त कर सकता है।

कथा के अंतिम सर्ग ‘आनंद’ में एक बार पुनः ‘इड़ा’ कैलाश पर्वत पर पहुँचती है। जहाँ पर ‘मनु’ मानस के किनारे ध्यान-मग्न थे और निकट ही ‘श्रद्धा’ पुष्पांजलि लिए खड़ी थी। इड़ा जाकर श्रद्धा के चरणों में नतमस्तक होकर कहने लगती है कि हे देवि! तुम्हारा ममत्व मुझे यहाँ खींच लाया, तुम्हें एक बार पुनः देखकर मेरा जीवन धन्य हो गया। श्रद्धा का पूज्या रूप इड़ा के माध्यम से व्यक्त है—

बोली, ‘मैं धन्य हुई हूँ, जो यहाँ भूलकर आई,
हे देवि! तुम्हारी ममता, बस मुझे खींचती लाई’

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद के काव्य नारी-पात्रों का चरित्र आदर्शोन्मुख और उनका स्वरूप अधिकतर पूज्या का ही है। मुख्य रूप से श्रद्धा का स्वरूप। कथा के प्रारंभ से लेकर अंत तक श्रद्धा के चरित्र में देवी का दिव्य गुण ही परिलक्षित हुआ है।



निराला साहित्य की महत्ता एवं उसका स्वरूप

संजयकुमार चौहान

शोध छात्र

वीरबहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर (उ.प्र.)

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' हिंदी साहित्य के आधुनिक युग के सबसे प्राणवान कवि हैं। उनके काव्य में जीवन के विविध संदर्भ रूपायित हुए हैं। उनकी काव्य-रचना के प्रारंभ में ही हिंदी के प्राचीनतावादी आलोचकों के खेमे में खलबली मच गई थी। उनका बड़ा ही मुखर और योजनाबद्ध विरोध भी हुआ। परंतु इसकी चिंता न करते हुए वे अपने मार्ग पर मस्त गजराज की तरह अपनी सहज गति से चलते रहे।

'निराला' एक युग-प्रवर्तक कवि और कलाकार थे। वे किसी लीक पर नहीं चल सकते थे। किसी बँधी-बँधाई परिपाटी के अनुसरण के सख्त विरोधी थे। उनके साहित्य का मूल्यांकन उचित रीति से नहीं हो रहा था। अतः स्वयं अपनी रचनाओं के दृष्टिकोण को अपने लेखों के माध्यम से प्रकट करना पड़ा। साहित्य का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो, जिसमें उनकी प्रतिभा ने अपना चमत्कार न दिखाया हो। उन्होंने कविता, उपन्यास, कहानियाँ, निबंध, रेखाचित्र, जीवनियाँ, आलोचनात्मक निबंध, अनुवाद तथा नाटक सभी कुछ लिखे हैं। वे जीवन-भर आर्थिक संकटों से जूझते रहे। उनका समस्त साहित्य एक लंबे जीवन की व्यापक संघर्ष की कहानी है।

विशाल गद्य एवं पद्य साहित्य निराला के रहते हुए पर्याप्त सँभाल पा चुका था। निराला जी ने उनके पक्षों पर खूब जमकर लिखा था। उनके काव्य-ग्रंथों में— 'परिमल', 'अनामिका', 'अणिमा', 'बेला', 'नये पत्ते', 'कुकुरमुत्ता', 'अर्चना', 'आराधना', 'गीत-गुंज', 'तुलसीदास', 'गीतिका' और 'अपरा', उपन्यासों में 'अटसरा', 'अलका', 'निरुपमा', 'प्रभादेवी', 'चोटी की पकड़', 'काले कारनामों' आदि और कहानियों में 'लिली', 'सखी', 'देवी', 'सुकुल की बीबी', 'चातुरी चमार' आदि। इन सबमें परिव्याप्त सभी विषयों पर निराला जी की एक विशिष्ट विचारधारा बड़े स्पष्ट एवं सबल रूप में प्रकट होती है।

निराला का युग क्रांति, विद्रोह और विरोधों का युग था। इसमें राजनीति, समाज, मानव-मूल्य, धर्म तथा अर्थ की प्राचीन मान्यताओं, परिपाटियों तथा परंपराओं में परिवर्तन की भावना प्रबल थी। बचपन से पिता के कठोर बंधनों को तोड़कर जीवन प्रारंभ करनेवाले निराला मृत्यु के अनंत में जाने से पूर्व तक रूढ़ियों, सामाजिक दुर्दशा तथा व्यक्तिगत जीवन की आवंटित परिस्थितियों के प्रति विद्रोह करते रहे। सामाजिक एवं पारिवारिक वातावरण के अतिरिक्त उन

पर कवींद्र-रवींद्र की सांस्कृतिक चेतना तथा विवेकानंद की व्यापक दृष्टि का प्रभाव था। परिणामतः निराला जी के जीवन के प्रति दो दृष्टिकोण प्रकाश में आए— एक तो धार्मिक संस्थाओं के संपर्क के कारण वैराग्य और सन्यास का तथा द्वितीय युगीन सामाजिक दशा के प्रति विद्रोह का और विरोध का।

‘निराला ने अपनी जागरूक परंपराओं तथा युग के ज्वलंत प्रश्नों और समस्याओं के पूर्ण संकेत दिए हैं। इसलिए आधुनिक युग के समग्र रूप से प्रतिनिधित्व निराला ही कर पाते हैं। इस संबंध में निराला ने ‘जलद के प्रति’ कविता में लिखा है—

माँ की दशा देखकर तुमने
तब विदेश प्रस्थान किया।
वहाँ होशियारों ने तुमको
खुब पढ़ाया, बहकाया।
‘द’ जोड़ ग्रेड बढ़ाया, तुम पर
जाल फूट का फैलाया।¹

निराला की रचनाओं में जितना वर्णन दलित वर्ग का हुआ है, उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ ही नहीं, कठिन भी है। इसका कारण यह है कि निराला का युगीन परिवेश विषय परिस्थितियों से गुज़रा था। अतः उनकी रचना पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। कवि निराला ने अपनी आँखों से समाज में व्याप्त अनेक प्रकार की सामाजिक विसंगतियों को नज़दीक से देखा एवं भोगा था।

जनसामान्य के अंदर नए भावबोध शक्ति एवं उनके अंदर निघटित हो रहे सारे मूल्यों को एक बार फिर नए रूप में स्थापित करने का विचार निराला के अंदर पैदा होता रहता था। इस संबंध में डा० शंभूनाथ सिंह ने कहा है— ‘नए मूल्यों की खोज तब की जाती है जब पूर्व प्रचलित जीवनमूल्य तो ध्वस्त हो जाते हैं या इतने निर्जीव और रूढ़िग्रस्त हो जाते हैं कि नए युग के संदर्भ में उनकी कोई उपयोगिता नहीं दिखाई पड़ती, जिससे बुद्धजीवी वर्ग की उनमें कोई आस्था नहीं रह जाती है।’²

निराला की जीवन-दृष्टि :

निराला का साहित्य-चिंतन समाज का यथार्थ दर्पण है, जिसमें दलितों, मजदूरों, निरीहों, किसानों, विधवाओं और भिखारियों का दर्द झलकता है। उनका जीवन स्वयं संघर्ष का जीवन रहा। निराला ने अपनी चिंता को समाज में टटोला और देखा कि समूचा देश विदेशियों के अधीन, सामंतों और पूँजीपतियों द्वारा शोषित और पीड़ित होकर कराह रहा है। उनकी पीड़ा को देखकर जनवादी कवि निराला का हृदय व्याकुल हो उठा। उन्होंने एक ओर देश से पराधीनता को समाप्त करने का संकल्प लिया और दूसरी ओर वर्गों में विभक्त समाज को एकता के सूत्र में बाँधने, उन्हें नया मार्ग दिखाने का बीड़ा उठाया। उन्होंने साहित्य की दोनों विधाओं (गद्य-पद्य) में समाज की कुरीतियों को दूर कर नवीनोत्थान की परिकल्पना की।

डा० रामविलास शर्मा के अनुसार— ‘निराला के साहित्य चिंतन की विशेषता थी कि उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य की आर्थिक नीति, उसके राजनीतिक दाँव-पेंच, सांस्कृतिक मामलों में उसके हस्तक्षेप की पहचान आदि का गहराई से उसका विश्लेषण किया।’³

निराला जी ने वैयक्तिक अनुभूतियों के साथ-साथ जनजीवन को कभी विस्मृत होने नहीं दिया। उन्होंने समाज की पीड़ा बहुत नजदीक से देखी, निम्न जातियों की समस्याओं पर अधिक बल दिया। निराला ने किसानों के परिश्रम को देखा और सामंतवादी व्यवस्था, उनके उत्थान हेतु सुझाव भी दिए। ग़रीब किसान के संबंध में निराला ने 'आराधना' कविता में परिश्रम करके लौट रहे किसान की एक झाँकी प्रस्तुत की है, जो हृदय को छू जाती है—

खेत जोतकर घर आए हैं
बैलों के कंधे पर माची
माची पर उल्टा हल रखा
बद्ध हाथ।⁴

निराला जी ने सामाजिक समस्याओं के समाधान प्रस्तुत किए। उन्होंने केवल चिंता ही नहीं की, चिंता का सही हल भी सुझाया 'हमारा समाज' लेख में निराला ने यथार्थवादी शैली में जाति-प्रथा के कुत्सित संस्कारों को दूर करने का पूरा प्रयास किया। 'भिक्षुक' हो या 'दीन', देवी हो या ज्योतिर्मयी, निराला जी की अनुभूति गहन है दीन-हीन, निर्बल, निरीह भूखे भिक्षु बालकों का यह चित्र कितना करुणा और पीड़ा पहुँचाने वाला है—

चाट रहे वे जूठे पत्तल
कभी सड़क पर खड़े हुए
और झपट लेने को उनसे
कुत्ते भी हैं अड़े हुए।⁵

निराला का प्रगतिवादी दृष्टिकोण समाज की सारी विषमताओं को पी जाना चाहता है। वह दान से भूख को शमित करने के पक्ष में नहीं हैं। वह ऐसी व्यवस्था लाना चाहते थे। जिसमें एक का हक दूसरा न छीन सके। निराला जी सारे समाज को मुक्त हृदय से अमृत बाँटना चाहते हैं, वे समाज को आगाह करते हुए लिखते हैं—

राह पर बैठे उन्हें आबाद तू जब तक न कर,
चैन मत ले ग़ैर को बरबाद तू जब तक न कर
बदल शिक्षा-क्रम बना इतिहास, सच्चा दमन ले
सज्जनों को प्रगति-पद, प्रह्लाद तू तब तक न कर।
उलट तख़्ता, उपज की ताक़त बढ़ाने के लिए
डाल मत खेतों में अपनी खाद तू जब तक न कर।⁶

लोकमंगल की भावना संबंधी दृष्टिकोण :

निराला जी मानवतावाद के सच्चे पक्षधर थे। उनका यथार्थवाद मानवता की कोख से उपजा है। निराला जी के सामाजिक चित्रण पर जब हम विहंगम दृष्टि डालते हैं तो हमें बिखरा, टूटा समाज, समाज में निरीह दलितों पर सामंतों के अत्याचार का स्वर ही मिलता है। इसीलिए कवि निराला ने समकालीन समस्याओं के निराकरण के कारणों की खोज की है, इसलिए हम उन्हें वेदांती चेतना का कवि कह सकते हैं। इसलिए उनकी कविता में मानव-समाज के भेद दिखाई नहीं पड़ते। वे लिखते हैं—

त्रस्त विश्व की आँखों से बह-बहकर

धूलि-धूसरित उसके चिंता लोल कपोल
श्वासों और उच्छ्वासों की, आवेगभरी हिचकी
दलित हृदय की रुद्ध अर्गला खोल।⁷

निराला की क्रांति-जनक्रांति थी, उनके मौलिक चिंतन में समाज की पीड़ा है, पीड़ित लोग हैं। अतः दीन-दलितों के ऊपर होनेवाले अत्याचार निराला के लिए असहनीय है, क्योंकि वे समस्त संसार के शुभेच्छु हैं। वे प्रार्थना करते हैं—

दीन जन पर करो करुणा
दीनता पर उतर आए, प्रभु तुम्हारी शक्ति अरुणा,
हरे तन-मन भीति पावन मधुर हों सुख मनोभावन।
सहज चितवन पर तरंगित हो तुम्हारी किरण तरुणा।⁸

कवि निराला ने भावना के साथ-साथ चिंतन का भी विस्तार किया है। उनकी दृष्टि में कामना के आकाश में स्वर्ग का कोई महत्त्व नहीं, वे उसे धरती पर उतारकर उसके मधुर गान को आकाश में पुनर्स्थापित करना चाहते हैं, निरालाजी की इस चेतना में बीते हुए अतीत की परिकल्पना की झलक दिखाई देती है।

निराला जी की 'अधिवास' कविता में उनकी अनुरक्ति-विरक्ति का अंतर्द्वंद्व है, जो कभी स्वामी विवेकानंद जी के जीवन में आया था। वे भी पीड़ित मानवता के लिए व्याकुल हो उठे थे। निराला का मन भी मानवतावादी रहा है। अपने दुःखी भाई को गले लगाने की तीव्र उत्कंठा उनके मन में है। इसलिए वे लिखते हैं—

मैंने 'मैं' शैली अपनाई, देखा दुःखी एक निज भाई
दुःख की छाया पड़ी हृदय में मेरे, झट उमड़ वेदना आई
उसके निकट गया मैं धाय, लगाया उसे गले से हाय
फँसा माया में हूँ निरुपाय कहो फिर कैसे गति रुक जाए।⁹

कवि निराला आत्मसंघर्ष को भूलकर सामाजिक व्यवस्था पर कुछ ज्यादा ही चिंतित दिखाई देते हैं। वे समाज को जीवन-भर कुछ-न-कुछ देते रहे हैं। वे स्वयं समाज के साथ तादात्म्य करते हुए दिखाई पड़ते हैं—

पड़े हुए सहते हो अत्याचार
पद-पद पर सदियों के पद-प्रहार
बदले में, पद में कोमलता लाते
किंतु हाय, वे तुम्हें नीच ही हैं कह जाते।¹⁰

निराला जी केवल काव्य में ही नहीं, अपने उपन्यासों और कहानियों में भी सचेत दिखाई देते हैं। उन्होंने 'चातुरी चमार', 'कुल्लीभाट', 'काले कारनामे', 'अलका', 'अप्सरा' उपन्यासों तथा 'चमेली', 'ज्योतिर्मयी', 'पद्मा', 'क्या देखा' में किसानों की दुर्दशा, मजदूरों की पीड़ा, वेश्याओं का दर्द ही नहीं देखा, बल्कि 'जानकी' कहानी में साम्यवाद की कल्पना भी की है।

यद्यपि निराला जी भारतीय सभ्यता और संस्कृति से अपार स्नेह रखते थे, किंतु उन्होंने पुरानी सड़ी-गली सामाजिक, साहित्यिक परंपरा, रूढ़ियों तथा राजनीतिक विडंबनाओं से सर्वदा

घृणा की। डा० बच्चनसिंह ने लिखा है— ‘भारतीय लोकहितवाद के आंदोलन की ओर अपने समसामयिक कवियों में निराला जी की दृष्टि सर्वप्रथम गई, जबकि छायावादी कवि उस समय यौवन के प्रेम-गीत लिखने में तल्लीन थे। निराला ने अपने आस-पास की जाति को खुली आँखों से देखा।’¹¹ निराला जी एक क्रांतिकारी कवि थे, इसलिए वे जीवन और काव्य दोनों में बंधनों को तोड़ते हुए नज़र आते हैं। उन्होंने सामाजिक जीवन और उसमें व्याप्त कुरीतियों पर करारा आघात किया है।

रूढ़िवादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह की दृष्टि :

निराला आभिजात्य वर्ग में पैदा हुए थे, किंतु इसका आभास उन्हें उस समय हुआ। जब बचपन में फतेहबहादुर के हाथ का पानी पीने पर पिता ने पिटाई की। उस समय निराला का चिंतन और स्थायी हो गया। वे सोचने लगे कि फतेहबहादुर और मुझमें क्या अंतर है, सभी अंग-प्रत्यंग तो समान हैं। यहीं से निराला में रूढ़िवादिता के प्रति विरोध का प्रथम बीजांकुरित हुआ, जिसने विराट वृक्ष का स्वरूप धारण किया, जिसका विरोध निराला अपने साहित्य में जीवनभर करते रहे और यह अंतर्जातीय-समस्या उनकी रचनाओं का आधार बन गई।

निराला जी ने आभिजात्य वर्ग की सामंती व्यवस्था को ध्वस्त करने का सफल प्रयास किया है। वे नए समाज की दयनीय स्थिति का प्रतिबिंब भी प्रस्तुत करते हैं। दूधनाथ सिंह के शब्दों में—‘भारतीय इतिहास, राजतंत्र और समाज-व्यवस्था की अपनी इसी समझ की जमीन पर निराला जनसाधारण की प्रतिष्ठा का सवाल उठाते हैं। जाति, वर्ग-व्यवस्था और ब्राह्मण-संस्कृति द्वारा निचले वर्ग के लोगों को लगातार सदियों तक दबा-दबाकर उन्हें जर्जर बना देना अंततः भारतीय समाज में भी उसी की पुनरावृत्ति को निराला अच्छी तरह समझते हैं और इसके खतरे से वह पूरी तरह आगाह हैं। इस संपूर्ण सामाजिक बनावट पर प्रहार ही उनका लक्ष्य है।’¹²

इस प्रकार निराला ने आभिजात्य समस्या को दूर करने के हर संभव प्रयास किए हैं। निराला एक विद्रोही कवि के रूप में समाज के युगदृष्टा कवि की श्रेणी में स्थापित हो चुके थे। उन्होंने समाज में युगों से चल रही अनेक रूढ़ियों का खंडन ही नहीं किया, उन्हें जड़ से उखाड़ने का पूरा प्रयास भी किया। उनके समय में दहेज-प्रथा विकराल रूप धारण कर चुकी थी। डा० बच्चनसिंह के शब्दों में—‘अपने पुत्र का विवाह जो नाना के द्वारा काफ़ी दहेज पर तय हुआ था, उसे बिलकुल अस्वीकार कर दिया। अपने ढंग से कन्या-पक्ष का भी व्यय-भार वहन करते हुए संपन्न कराया। अपनी पुत्री ‘सरोज’ के विवाह में भी किसी को निमंत्रण नहीं दिया।’¹³ उन्होंने अपने शोकगीत ‘सरोज-स्मृति’ में भी इसका उल्लेख किया है—

मेरे ऐसा दहेज देकर
मैं मूर्ख बन्नू यह नहीं सुघर
बारात बुलाकर मिथ्या व्यय
मैं करूँ नहीं ऐसा सुसमय।¹⁴

इस उदाहरण में निराला ने जहाँ दहेज का विरोध किया, वहीं उनकी अर्थ-क्षमता का भी आभास होता है।

‘सरोज-स्मृति’ निराला की वृहद् शोकगीत रचना है, जिसमें समाज की अनेक रूढ़ियों का उल्लेख किया गया है। सभी वर्ण अपनी पुत्रियों का विवाह अपनी जाति के उच्च कुल में

करते थे। निराला कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, अतः उनका कथन है कि कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में एकता नहीं होती, अतः इनके घर पुत्री का विवाह अच्छा नहीं, इस रूढ़ि का खंडन करते हुए निराला ने अनामिका में लिखा है—

सोचा मन में बार-बार
ये कान्य-कुब्ज-कुल कुलांगार
खाकर पत्तल में करें छेद,
इनके घर कन्या, अर्थ खेद,
इस विषय-बेलि में विष ही फल
यह दग्ध मरुस्थल-नहीं सुजल।¹⁵

सदियों तक भारत के गुलाम रहने के कारण भारतीय समाज में असंख्य कुरीतियाँ आ चुकी थीं, लेकिन निराला ने उनसे भयभीत होने के बजाय उन कुरीतियों को दूर करने का कठिन प्रयास किया है। अपने काव्य 'तुलसीदास' में निराला जी ने ब्राह्मणों को चाटुकार, क्षत्रियों को रक्षा-कर्म से च्युत कहा है।

नारी-उत्थान-संबंधी दृष्टि :

कवि निराला ने नारी के प्रति दृष्टिकोण-परिवर्तन का सफल प्रयास किया। मध्ययुग की नारी वासना की पुतली-मात्र थी। वह केवल मायाविनी रह गई थी, जो पुरुष को अपनी माया में बाँध सकती थी, तभी नारी कहलाने की अधिकारी थी अन्यथा नहीं। हिंदी साहित्य के छायायुग के कवियों ने नारी को प्रेयसी का रूप प्रदान किया। उसे मन की गहराइयों में ला बिठाया, उसके हृदय की थाह ली।

हिंदी के क्षेत्र में निराला जी का आगमन ही नारी के रूप में उनकी पत्नी की प्रेरणा का फल था। माँ की तो उन्हें कुछ याद न थी। अतः पत्नी ने जो रूप दिखाया, जो पथ दर्शाया, वही उनके काव्य का आधार बना। पंत और निराला जी की नारी-भावना की विभिन्नता का मुख्य कारण यही है कि पंत को जीवन-भर नारी का साहचर्य प्राप्त नहीं हुआ। श्री गंगाप्रसाद पांडेय इस प्रसंग में लिखते हैं— 'माँ के रूप में ही मनुष्य को नारी का प्रथम परिचय प्राप्त होता है और संसार के सभी महापुरुषों के निर्माण में माँ का ममत्व बहुत बड़ा हाथ रखता है, किंतु शैशव में ही माँ की मृत्यु भी अपना विशेष महत्त्व रखती है। निराला को आगे चलकर पत्नी का पवित्र प्यार मिला है और पंत केवल भावी पत्नी की ही कल्पना करते रहे जबकि निराला उन्हें शक्ति की देवी, बलिदान, त्याग का जीवित रूप मानते हैं।'¹⁶ कवि की नारी-भावना से परिचित होने के लिए 'विधवा' कविता का एक उदाहरण दृष्टव्य है—

बिना अर्थ की-एक प्रेम ही अर्थ और निष्काम,
और बहाती हुई शांति-सुख की धारा अविराम।
उसमें कोई चाह नहीं,
विषय-वासना तुच्छ, उसे कोई परवाह नहीं है।
रहे देखते प्रिय को उसके नेत्र निमेष-विहीन
मधुर भाव की इस पूजा में वह रहती लीन।¹⁷

यह उस नारी का चित्रण है, जो लोभ-विहीन विषय-वासना की तुच्छता से परिचित

माया-मोह से दूर है। उस युवती का एकमात्र लक्ष्य पति-प्रेम है। निराला जी ने नारी को शक्तिस्वरूपा माना है। उन्होंने नारी को कहीं भी अबला स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने अपनी रचनाओं में उन्हें शिक्षित करने का प्रयास किया है, उन्हें धीर, गंभीर, साहसी और प्रबुद्ध स्वीकार किया। समाज में यत्र-तत्र यह देखने को मिलता है कि स्त्रियाँ पारिवारिक क्लेश या पति की यातना से ग्रसित होकर अपना पारिवारिक वातावरण छोड़कर अन्यत्र चली जाती हैं। निराला जी ने ऐसी नारी का चित्र प्रस्तुत किया है—

मगर निकलकर घर से तेज़ क़दम बढ़ा चला,
पिछली बातों का, अगली बातों ने घोटा गला,
दुःखिया ने सोचा इसके पीछे बिना पड़े भला,
बैठा ले दूसरा तो, सिंह से हूँ स्यार।¹⁸

यही नहीं घर की आपदा से ग्रस्त बालिकाएँ प्रायः असुविधा के कारण ऐसी वृत्ति अपनाती हैं, जो समाज के लिए, उनके लिए कलंक साबित होती हैं। जैसे— भिक्षा-याचना, वेश्यावृत्ति आदि। निराला इसमें नारियों का दोष न मानकर समाज को ही कोसते हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में जहाँ विधवा-समस्या की बात उठाई है, वहीं उन्हें शिक्षा तथा पुनर्विवाह का सुझाव देकर अच्छा समाधान भी प्रस्तुत किया है।

नारी के प्रति निराला के हृदय में सबसे अधिक सहानुभूति है। इसीलिए उनके उपन्यास और कहानी के नायक नारी-पात्र ही हैं। अपनी कविताओं में उन्होंने नारी का सुंदर और करुण रूप में वर्णन किया है। इन्होंने सड़क के किनारे किसी महिला को पत्थर तोड़ते देखा तो संवेदना को रोक नहीं पाए और लिखा—

वह तोड़ती पत्थर,
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर।
कोई न छायादार पेड़
वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार,
श्याम तन, भर बाधा यौवन,
नत-नयन प्रिया कर्मरत मन।'¹⁹

निराला जी देश, समाज और जाति का उत्थान चाहते थे। वे समतामूलक दृष्टि रखते थे, इसलिए किसी भिक्षुक विधवा और दीन को देखते थे तो उनका मन करुणा से भर जाता था। विधवा को देखा तो समाधान ढूँढ़ा और उसके स्वरूप को चित्रित कर दिया—

वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी
वह दीप-शिखा-सी शांत, भाव में लीन
वह क्रूर-काल तांडव की स्मृतिरेखा-सी
वह टूटे तरु की छूटी लता-सी दीन-
दलित, भारत की ही विधवा है।'²⁰

निराला नारी-उत्थान के प्रबल समर्थक थे। उनका मानना है कि शिक्षा के अभाव में नारियों का समाज में शोषण ही नहीं होता, वे विधवा होकर यावत् जीवन अश्रु बहाती हैं। निराला

जी ने 'राष्ट्र और नारी', 'बाहरी स्वाधीनता और स्त्रियाँ' तथा 'कला और देवियाँ' शीर्षक निबंधों में नारी-उत्थान की बात कहकर उनकी प्राण-प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया है।

संदर्भ सूची

1. डॉ० बच्चनसिंह, क्रांतिकारी कवि निराला, पृ० 138
2. डॉ० शंभूनाथ सिंह, प्रयोगवाद एवं नई कविता, पृ० 52
3. डॉ० रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना, पृ० 13
4. निराला, आराधना, पृ० 74
5. निराला, परिमल, पृ० 125
6. निराला, बेला, पृ० 46
7. निराला, परिमल, पृ० 140
8. निराला, अणिमा, पृ० 6
9. वही, पृ० 118
10. वही, पृ० 158
11. डॉ० बच्चनसिंह, क्रांतिकारी कवि निराला, पृ० 35
12. दूधनाथ सिंह, निराला आत्महंता आस्था, पृ० 157
13. डॉ० बच्चनसिंह, क्रांतिकारी कवि निराला, पृ० 8
14. निराला, अपरा, पृ० 154
15. निराला, अनामिका, पृ० 132-133
16. गंगाप्रसाद पांडेय, महाप्राण निराला, पृ० 24
17. निराला, परिमल, पृ० 110
18. निराला, अणिमा, पृ० 5
19. निराला, अपरा, पृ० 26
20. निराला, अपरा (विधवा), पृ० 55



साठोत्तरी हिंदी-कविता का विशिष्ट स्वर : मंत्र तथा अणुबंध मंत्र गीत/कविता डा. नीरू

सन् 1960 के पश्चात् विभिन्न आंदोलनों-वादों-नारों का शिकार हो रही हिंदी-कविता के अनेक तेवर देखने-सुनने को मिले, किंतु इन अनेकानेक तेवरों में से अपनी अनूठी ताज़गी और अमोघ संप्रेषण के कारण जिस तेवर ने सर्वाधिक चौंकाया, जिसने पाठकों को एक नई जीवन-दृष्टि से परिचित कराया। जिसने पाठकों का साक्षात्कार इतिहास-विज्ञान-कला-साहित्य-दर्शन के चौंका देनेवाले तथ्यों से कराया, जिसने भारतीयों को 'अपने' सबकुछ को 'अपनी' ही दृष्टि से परखने का संस्कार दिया और उनमें उस 'अपने' के प्रति गौरव का भाव जगाया; वह तेवर सचमुच निराला ही है, वह स्वर निःसंदेह अपनी दृढ़ता और गरिमा के कारण अपूर्व है, पुण्यभूमि पंजाब से उठा वह स्वर है— मंत्र कविता/ अणुबंध मंत्र कविता और गीत का। ऋत पर आधारित भारतीय प्रगतिशीलता के इस मंत्रस्वर को डा० गणपतिचंद्र गुप्त, डा० मनमोहन सहगल, डा० हुकुमचंद्र राजपाल, डा० शशिभूषण शीतांशु जैसे अनेक विद्वान रेखांकित कर चुके हैं। यह स्वर जिस कवि की लेखनी द्वारा साकार हुआ, वह है—सुरेशचंद्र वात्स्यायन।

स्वतंत्र भारत की अनेकानेक विसंगतियों में से एक थी— राजनीतिक स्वतंत्रता-प्राप्त भारतीयों की मानसिक दासता। प्रतीच्य मनीषियों द्वारा दी गई प्रत्येक स्थापना को अपने परिवेश के संदर्भ में परखे बिना ही वेदवाक्य मान लेना, इसी परतंत्रतावृत्ति का सूचक था। हिंदी-कविता भी उसका अपवाद न थी। किंतु सन् 1960 के बाद मंत्र-कविता और अणुबंध मंत्र कविता के रूप में हिंदी-कविता ने परतंत्रता के इस लबादे को उतार फेंका। पहली बार हिंदी-कविता धर्म और विज्ञान की संधि में खिले एक स्वस्थ परिवेश में स्पंदित होने लगी। एक प्रकार से यह पश्चिम के संदर्भ में भारतीयों का मोहभंग था, जिसे प्रख्यात विद्वान डा० जयप्रकाश ने मंत्र-कविता के प्रस्तोता कवि सुरेश के दूसरे काव्य-संकलन 'प्रवाल' की कविताओं की समीक्षा के माध्यम से इस प्रकार रेखांकित किया है—

'मोहभंग की जिन स्थितियों ने साठोत्तरी हिंदी-कविता में 'युयुत्सा' और 'अजनबीपन' को उभारा था, ... उन्हीं मोहभंगीय परिस्थितियों के दबाव में प्रवाल का कवि 'नेशन' के निषेध व राष्ट्र की वैदिक स्थापना के साथ अतीत को वर्तमान से जोड़ता है, वेदांत की मार्क्सवाद से संगति बैठाता है तथा राष्ट्रीय मुक्ति की अर्थवत्ता की तलाश अपने प्रगतिशील अस्तित्व-दर्शन में करता है।'

वस्तुतः यह विशुद्ध भारतीय चिंतन ही मंत्र-कविता/ अणुबंध मंत्र-कविता तथा उसकी समकालीन कविताओं के मध्य विभाजक-रेखा खींचता है। यही नहीं, 'मंत्र' तथा 'अणु' जैसे शब्दों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि परंपरा और प्रगति की सार्थक संधि इस कविता में हुई ऋचाओं की

परंपरा से जुड़ी है, वहीं अपने शिल्प-पक्ष में अणुबंध शैली का अनुकरण कर यह एक सर्वथा नई लीक उलीकती है। स्वयं मंत्र-कविता के उद्गाता के शब्दों में— ‘कृषियुगीन प्रबंधशैली के विकल्प रूप में मशीनयुगीन अणुबंध शैली को हिंदी-काव्यशास्त्र के विकास की एक अभिनव भंगिमा के रूप में विकसित पाकर मैं स्वयं विस्मित हूँ।’ सचमुच मानवी चेतना कब किस दिशा में विकसित होती चली जाएगी। कौन पूर्वानुमान कर सकता है? कौन यह जानता था कि हिंदी-कविता ‘अणुबंध मंत्र-कविता’ के रूप में प्रबंध का विकल्प होकर एक स्वस्थ दिशा का चयन करेगी?

अणुबंध मंत्र-कविता के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए आवश्यक है कि उसे परंपरागत प्रबंधकाव्य के विकल्प-रूप में परखा जाए, क्योंकि अपने कथ्य और शिल्प दोनों स्तरों पर यह कविता पारंपरिक प्रबंधकाव्य का सहज विकास होकर भी एक सर्वथा नवीन काव्य-रूप है। प्रबंधकाव्य की रूपरेखा आधिकारिक व प्रासंगिक कथाओं के ताने-बाने से तैयार की जाती है, परंतु अणुबंध मंत्र-कविता में कथ्य का विभाजन आधिकारिक व प्रासंगिक कथाओं के रूप में नहीं होता। उसमें निहित कथा के प्रसंग में यह कहना अधिक समीचीन है कि अणुबंध मंत्र-कविता कथा से नहीं, वरन् कथा-सूत्रों से निर्मित होती है। इन कथा-सूत्रों के पृष्ठदेश में चिंतन और मनन के हिमाद्रि से निःसृत स्वस्थ वैचारिकता की पुण्यसलिला भागीरथी निरंतर प्रवहमान रहती है। यह वैचारिकता प्रतीच्य मनीषियों द्वारा उलीकी गई लीकों का अंधानुकरण-मात्र नहीं है, वरन् प्राच्य मनीषी द्वारा उलीकी गई उस नई लीक की साक्षी है, जो पौराणिकता की रूढ़ि के प्रति निर्मम और उसकी वैज्ञानिकता के प्रति निवेदित है—

प्रबंध और मुक्तक की संधि में
काव्यगत अभिनव की संधि में
मंत्र-कविता है छंदमयी, कहीं स्वच्छंद,
स्वीकार को स्वीकारती मथती
अनुभव को अनुभवती
‘करोति’ और ‘याति’ को करती ‘जाती’
नए से नया और नया
भाषा यह पनीरी है, पौध भी आर्किड
हिंदी के भावी विकास की दशा और दिशा... ⁴

हिंदी के भावी विकास की सूत्रधार इस अणुबंध मंत्र-कविता में गर्भित विज्ञान-दर्शन-कला-साहित्य-इतिहास के शत-शत संदर्भ उसे ‘अजनबीकरण के चालू फैशन का अस्वीकार’ सिद्ध करते हैं। ये संदर्भ ही वास्तव में वे कथा-सूत्र हैं, जो अणुबंध मंत्र-कविता को रूप और आकार प्रदान करते हैं। इन सूत्रों की ओर संकेत करनेवाली कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

साम्य की दिशा में
आस्तिकता योग यज्ञ याग की वाणी
जाल फैलाती मकड़ियों
कुएँ के मेढकों की भेंट कैसे हो गई,
किसी आसुरी अनिष्ट दुरभिसंधि के कुचक्र से

मंत्रलीक यह ऋषि सृष्टि की
केलेंडर पर दुबके कोने लगे
शक विक्रम की दुर्गति हो गई... ⁵
इतिहासगत आसुरी दुरभिसंधियों के कुचक्र को अनावृत करने का प्रयास कर रही
अणुबंध मंत्र-कविता इस संदर्भ में एक 'प्रकृत अभिलेख' बन जाती है—
युगों-युगों की परिणतियों के इस इतिहास का
प्रकृत अभिलेख एक....
कथा एक ऐसी यथार्थ जिसका अब विस्मृत,
स्वाधीन होकर भी देश नहीं जिसके प्रति जागरूक
जगत जिससे अपरिचित,
ऋत-सत्य आत्म जिसका परमार्थ
'निज' के लिए आज भी वह नहीं अनावृता। ⁶

यथार्थ के परमार्थ का अनावरण करनेवाली अणुबंध मंत्र-कविता दर्शन-विज्ञान के शत-शत संदर्भों के संप्रेषण के लिए सपाटबयानी को आधार बनाती है, किंतु इस सपाटबयानी का तात्पर्य कवित्व-शक्ति का अभाव नहीं है; यथाप्रसंग प्रतीक व बिंब-शैली का सार्थक उपयोग भी इस काव्य में होता है। प्रतीकात्मक शैली व सपाटबयानी की संधि में प्रस्फुटित इस अणुबंध मंत्र-कविता में शब्दों का चयन व संयोजन भी अपूर्व है। अर्थ के अनेकानेक संदर्भों को अपने में समेटनेवाले इन अग्निगर्भा शब्दों में देश-काल की अपेक्षाओं के अनुसार अर्थों का उन्मीलन-निमीलन होता रहता है। वस्तुतः अपने कलेवर में लघु होते हुए भी अणुबंध मंत्र-कविता की शक्ति अपरिमित है, उस 'अणु' की तरह, जो आकार में सूक्ष्म होते हुए भी समस्त जैवी हलचल का सूत्रधार है।

हिंदी-कविता के साज पर अणुबंध मंत्र-कविता की सरगम छेड़ने का श्रेय कवि सुरेश को है। 1978 ई. में पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला (पंजाब) की पत्रिका 'साहित्य-मार्ग' में कवि सुरेश विरचित हिंदी की पहली अणुबंध मंत्र-कविता का प्रकाशन वस्तुतः हिंदी-कविता के संदर्भ की सभी प्रवृत्तियों की पहचान करा जाती है। संपूर्ण कविता कवि की शोधपरक दृष्टि की परिचायिका है। कविता एक नए युग का सूत्रपात था। कविता का शीर्षक है— 'टेप अ-तिथि परि-वर्तन की।' ⁷ अपने कथ्य और शिल्प में इस कविता 'अणुबंध मंत्र-कविता' में बिखरे कथा-सूत्र अत्यंत सूक्ष्म हैं। दिसंबर माह की एक रात्रि-बेला में कवि अपने सारस्वत-कर्म में जुटा है। निकट ही उसकी सहचरी निद्रा-मग्न है। कमरे में एक ओर दसवीं कक्षा का छात्र गायत्री अध्ययनरत है या अध्ययनरत दिखने का प्रयास कर रहा है। बस, व्यावहारिक यथार्थ पर आधारित इसी स्थूल-से कथा-सूत्र के माध्यम से कवि का प्रौढ़ चिंतन एक सूक्ष्म तारतम्य में संक्रांत तथा संप्रेषित हुआ है। कवि-कर्म में जुटे कवि की दृष्टि एक बजे अनायास घड़ी के डायल पर टिक जाती है और वह देखता है कि तिथि बदल चुकी है। कवि की चेतना स्वतः उस एक पल में केंद्रित हो जाती है, जो तिथि बदलने का पल रहा होगा। कवि उस पल को अपनी कलम की नोक पर सजा लेता है और उसी पल को अपने सामने फैले पृष्ठों पर उकेरने लगता है, कलम की स्याही के माध्यम से, बूँद-बूँद। उसी एक पल के इतिहास और दर्शन में डूबता-उतराता कवि जिस सत्य का साक्षात्कार करता है, उसे पाकर वह स्वयं विमुग्ध हो उठता

है। तिथि बदलने का वह पल देशकाल के पृथक्-पृथक् संदर्भों में अपने परिवर्तन (सभी ओर संचार) के कारण विराट् रूप धारण कर अ-तिथि (तिथि से मुक्त) हो जाता है। पल के संदर्भ में इस नए अर्थ की पहचान कराने के लिए कवि ने शब्दों में जुड़े उपसर्गों (अ तथा परि) को योजक चिह्न के साथ लिखकर एक नई परंपरा का सूत्रपात किया है—

गूँजता घड़ी की सरगम में
 नहीं केवल तिथि का परिवर्तन
 गूँजता परिवर्तन का पूर्व और अपर भी,
 अंतरिक्ष में धरती करती 'परि'-क्रमा
 डायल पर उसके गूँजता जो
 पल का 'परि'-तः वर्तन
 वह ही अ-तिथि परि-वर्तन... ⁸

कविता के सूक्ष्म कथा-सूत्रों के माध्यम से कवि ने अपनी जिन स्थापनाओं को वाणी दी है, वे कविता को मंत्रात्मक स्वरूप प्रदान करती हैं। कलम के घिसने की तुलना काया से करके कवि ने कवि-कर्म के प्रति अपनी ईमानदारी व प्रामाणिकता को तो सिद्ध किया ही है, उन सुविधाभोगी कवियों से भी अपने को पृथक् सिद्ध किया है, जिनके लिए कविता वाणी का विलास या बौद्धिक व्यायाम-मात्र है या फिर अपने अहं की तुष्टि का एक साधन है। कविता के इसी अंश में कवि की 'आत्म' व 'निज' विषयक प्रतिपत्तियाँ भी अभिव्यक्त हुई हैं। कविता में कवि का बयान है—

कलम जैसे मेरी ही घिसती काया
 और स्याही जैसे वह अंतश्चेतना
 जिसमें मेरा ही मैं
 रहा प्रतिपल घुल! ⁹

'मैं' के घुलकर, पिघलकर कागज़ पर उभरने की यह स्थिति वस्तुतः 'निज' में 'आत्म' के उन्मीलन की स्थिति है। इस 'आत्म' और 'निज' के विषय में कवि ने स्वयं ही लिखा है— 'जो निश्शेष है, सर्वव्यापक है, वह आत्म है। निज जहाँ देश और काल के अनुशासन में बँधा है, वहाँ आत्म इस अनुशासन से अतीत है। निज में तमस का निवारण, रजस का प्रशमन और सत्त्व का संधान ही आत्म का उन्मीलन है। इस उन्मीलन की वाणी मंत्र है।' ¹⁰ हिंदी की यह पहली अणुबंध मंत्र-कविता इसी मंत्र की लिपि है।

पल के पिघलने की अवस्था अपने में कवि की बहुत-सी प्रतिपत्तियों को समेटे है। अस्ति के भूति में विपरिगमन की स्थिति, अकुल शिव के कुलाशक्ति के रूप में स्पंदित होने की स्थिति, आत्म के निज में उन्मीलन की स्थिति, निस्पंद ब्रह्म के स्पंदित होने की स्थिति, सत्य के ऋत बनने की स्थिति या फिर संहति के ऊर्जा में विखंडन की स्थिति। कवि ने विज्ञान, दर्शन व इतिहास के गहन मंथन के पश्चात् जिस अमृत-तत्त्व को प्राप्त किया, वही इन विभिन्न प्रतिपत्तियों के माध्यम से उसकी कविता के मंत्रात्मक स्वरूप में खिलता है। कलम की नोक पर जमा 'पल' मानो वह 'अस्ति' है, जिसके अंतरंग 'काल' की पंखुरियों के न जाने कितने रंग खिल व मुरझा रहे हैं। खिलने की यह प्रक्रिया ही इस 'अस्ति' का 'भूति' है,

जिसकी 'काल' से सापेक्षता स्वयंसिद्ध है, क्योंकि यही एक पल 'धरती पर कहीं आधी रात है, कहीं ब्रह्म मुहूर्त है, कहीं उषाकाल है, कहीं दोपहर दिन है, कहीं ढल रही साँझ है तो कहीं रात का दुकता पहर है।¹¹

धरती की सीमाओं को भेदकर कवि की अतिक्रामी या संक्रामी दृष्टि समूचे अंतरिक्ष में इस पल की स्थिति की भी पहचान करती है। अंतरिक्ष के विभिन्न ज्योति-पिंडों के संदर्भ में इस पल की वही स्थिति नहीं रह जाती, जो धरती पर हम मानवों ने अपनी काल-गणना के अनुसार निर्धारित की है। कवि अंतरिक्ष के संदर्भ में इस पल की तुलना उषा से उदित प्रकाश की पुनीत रेखा से करता है—

अंतरिक्ष में ग्रह-गण की तरह चकराती धरती
वक्ष पर धरती के चकराता यह पल
हर उषा से उदित/ प्रकाश की उस रेखा का
पसार है, खिंचाव है...¹²

कवि इस सत्य को पाकर विस्मित हो उठता है कि उषा सुंदरी की प्रत्येक भंगिमा अर्थात् प्रकाश की प्रत्येक किरण अनेक प्रकाश-वर्षों का समय तय कर हम तक पहुँचती है। अंतरिक्ष के विभिन्न ज्योतिपिंडों के इस 'मेक्रो' कालमान में हमारी धरती के भौतिक कालमान का पल कितना 'माइक्रो' सिद्ध हो जाता है। उसी 'माइक्रो' की पकड़ का एक सार्थक प्रयास प्रस्तुत अणुबंध मंत्र-कविता है—

माइक्रो है जो सूक्ष्म इक डायल पर
वही अन्य डायल पर मेक्रो है विराट् ...
मेरी कविता यह/ पल की सरगम
अ-तिथि परि-वर्तन का मंत्र है...

अणुबंध मंत्र-कविता की एक विशेषता विशुद्ध भारतीय चिंतन की अभिव्यक्ति है। भारतीय चिंतन ने धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष को पुरुषार्थ चतुष्टय मानते हुए भी सदा अर्थ और काम को धर्म और मोक्ष से शासित रखा है, किंतु समकालीन भारतीय ही नहीं अपितु विश्व-समाज में अर्थ और काम ही व्यष्टि व समष्टि के सभी संबंधों का निर्धारण करता है, उसके जीवन को गति और दिशा देता है। यहाँ तक कि शिक्षा (जिसे वेद के छः अंगों में से एक माना गया है) के केंद्र भी अर्थ की दासता स्वीकार कर चुके हैं। शिक्षा देनेवाले तथा शिक्षा लेनेवाले—दोनों ही वर्तमान शिक्षा की व्यर्थता से परिचित हो चुके हैं, इसीलिए उसके प्रति एक मौन आक्रोश का भाव, एक कठोर उपेक्षा का भाव प्रदर्शित करते हैं। कवि इस स्थिति से विक्षुब्ध है और उसका यही विक्षोभ कविता में इस रूप में प्रकट हुआ है—

और कभी/ कालेज प्राध्यापन में
महाजनी प्रभुता के अनुभव की कटुता
पतझड़ में बेबस झड़ते
भुरभुरे पत्तों के औघड़ खड़-खड़ की तरह
उसके सुकुमार कंदूरी अधरों पर/ बुड़बुड़ा उठती है।
जबकि मौज में है गायत्री

जैसे फूहड़ विलासी राजनीति का मुहरा
हड़ताल लोलुप छात्र/ मूँद लेता है आँख
बेकार की पढ़ाई/ और व्यर्थ की परीक्षा के पाश से।¹⁴

समकालीन जीवन का एक और रंग भी कविता में सूक्ष्म किंतु गहन रूप में उभरा है और वह है— मशीनी सभ्यता के वंशजों में जीवन जीने के 'आनंदमूलक' उत्साह का अभाव। कवि ने ज़िंदगी की तुलना उस रेलगाड़ी से की है, जो रिलती, बकझक करती भी द्रव्यों की पटरी पर दौड़ती जाती है। ज़िंदगी आज वो रह गई है, जो हमें जीनी पड़ती है, वह नहीं, जिसे हम जीना चाहते हैं। इस रिलती बकझक करती ज़िंदगी में हर कोई मौक़े की तलाश में, ऐसा मौक़ा जिसमें दूसरों को नीचे गिराकर उसके सहारे खुद ऊपर उठने का प्रयास किया जाता है।

दिसंबर की उस रात में तिथि बदलने के पल को स्याही के माध्यम से कागज़ पर उकेरते हुए कवि की सोच उस बिंदु पर आकर पुनः गहन हो उठती है, जब वह उन भिन्नप्रकृति व्यक्तियों पर विचार करता है, जो रात्रि की इस बेला में अपने-अपने उद्देश्यों से रात्रि-जागरण कर रहे हैं। उसकी सोच इन शब्दों में मुखरित हो उठती है—

जो जागते/ सभ्यता के योग
पशुता के भोग/ या तीखे वाक् के लिए ...¹⁵

'सभ्यता के योग हित' जागनेवाले लोग वस्तुतः उस ऊर्ध्वगा वृत्ति के प्रतिनिधि हैं, जो धर्म और मोक्ष के निवेदित अर्थ और काम की अभिभाषक हैं; ये लोग ज्ञान-विज्ञानमय कोष के जीव हैं। इसके विपरीत पशुता के भोग या तीखे वाक् के लिए जागनेवाले लोग, वस्तुतः उस निम्नगावृत्ति की हलचल हैं, जो अर्थ और काम से शासित धर्म और मोक्ष की परिणति हैं। ये प्राणी अन्नमय कोष के जीव हैं।¹⁶ प्राणीमात्र के कल्याण के लिए कवि ने कामना और संभावना तो यही व्यक्त की है कि ऊर्ध्वगा वृत्तियाँ निम्नगा शक्तियों पर अभिभावक होंगी ही।

पल के परिवर्तन की सरगम को अपनी कविता में टेप करता हुआ यह कवि अपनी कविता के माध्यम से चेतन, अवचेतन और उपचेतन में डूबी-खोई 'मानसी पद्मा अर्थकुमारी' के साक्षात्कार के लिए व्याकुल हो उठता है। इस 'अर्थकुमारी' के साक्षात्कार के लिए वह अंतर्मुखी होकर अवचेतन और उपचेतन में तो गहरे उतरता ही है, बहिर्मुखी होकर धरती से अंतरिक्ष तक और पुनः अंतरिक्ष से धरती तक की सारस्वत यात्रा करता है। इस यात्रा के परिणामस्वरूप उसे इस सत्य का भान होता है कि यह 'अर्थकुमारी' देश-काल की सापेक्षता के सीखचों में बंद नहीं रह सकती। न ही यह वी.आई.पी. दंभों के हाथ आ सकती है—

लेकिन नव वय वाली नायिका पद्मिनी
मुग्धा अर्थकुमारी वह मानसी
समेटकर अपने आँचल का सम्मोहन
मानस में गहरे दूर कहीं/ डूब-उतर जाती है
मछली ज्यों जल में/ दिन डूबे गहराती है,
गहरे में खोई यह/ वी.आई.पी. दंभों के हाथ नहीं आती है!¹⁷

इस 'अर्थकुमारी' के साक्षात्कार के लिए कवि कला और साहित्य के साधकों का आह्वान करता है कि वे नए माध्यम की तलाश करें—

चित्रकार, तुम तूली अपनी बदल लो
 संगीतकार, तुम वाद्य नया साध लो
 अरे ओ शब्द के शिल्पी/ कंठ के पारदर्शी बनो ना।
 विश्वमंदिर में ध्वनित
 धर्म के विज्ञान/ और विज्ञान के धर्म की अरी ओ धुन
 कूटनीति-मुक्त राजनीति बनो ना...¹⁸

राजनीति का धर्म से संधिच्छेद और कूटनीति से ग्रंथिबंधन जिन विकृतियों को जन्म दे रहा है, कवि उनके विनाश की कामना करता है, ताकि धर्म और राजनीति की संधि में नए 'राजर्षियों' का जन्म हो—

ऋषि से राजा का संधिच्छेद, जो आज विश्व में फलीभूत
 वह चंड-मुंड, वह दुश्शासन, वह रक्तबीज, वह शुक्नि द्यूत;
 इस संधिच्छेद की अप्सरियों, मानव-विकृति की रंगरलियों
 प्रह्लाद प्रकट तुमसे होगा, जो मिथक मात्र है अब नृसिंह
 वह पुनः प्रकट तुमसे होगा, तुम नहीं रहोगे हिरण्याक्ष
 नारायण ही फिर प्रकटेगा वह नर का सखा शरण नर की
 राजर्षि रूप फिर प्रकटेगा!

मानव-विकृति के नाश का अभिलाषी यह कवि अपनी काव्य-साधना के दौरान प्रकृति को भी सर्वथा नए परिप्रेक्ष्य में देखता है। वह संपूर्ण धरा को एक घड़ी का रूप दे देता है और पल को इस घड़ी की सरगम (आवाज़) मानता है। धरावासी मनुष्य की इच्छा और प्राप्ति को कवि ने क्रमशः इस घड़ी की बड़ी और छोटी सुई माना है—

...पल की इस सरगम को/ नहीं देखता कोई
 धरती की घड़ी पर मुखर/ पल की सरगम के रूप में...
 तेज़ है चाव की सुई बड़ी
 मंद है छोटी सुई उपलब्धि की
 फिर भी दोनों का/ यह कैसा संबंध है
 डायल पर प्रकृति के/ यह कैसा प्रबंध है!

'चाव' और 'उपलब्धि' के इस अंतःसंबंध को सर्वथा नवीन रूप में साग्रह रेखांकित करनेवाला यह साठोत्तरी कवि अनायास 'ज्ञान-इच्छा और क्रिया' के समन्वय-सूत्रों को पिरोनेवाले महान् छायावादी कवि 'प्रसाद' की स्मृति को ताज़ा कर देता है। 'प्रसाद' से 'सुरेश' तक हिंदी-कविता की यह प्रगति-यात्रा विशेष अध्ययन की माँग करती है।

अणुबंध मंत्र-कविता के शिल्प-पक्ष के विषय में कवि सुरेश का वक्तव्य है—

'प्रेषणीयता की दृष्टि से माइक्रो तथा मेक्रो बोध की अभिव्यक्ति का अमोघ माध्यम है— सपाटबयानी, लेकिन इसका मतलब बिंब-योजना की प्रतीक में परिणति की प्रक्रिया से एकदम किनाराकशी भी नहीं। यथाक्रम दोनों शैलियों की संधि संपाद्य है।' ¹⁹

'टेप अ-तिथि परि-वर्तन की' कविता में दोनों शैलियों की संधि स्पष्ट परिलक्षित होती है। कविता का प्रारंभ ही सपाटबयानी का एक श्रेष्ठ उदाहरण कहा जा सकता है—

पाया है/ घड़ी के डायल पर
कि बदल चुकी तिथि/ क्रिस्तान केलेंडर की,
कहने को/ बाईस दिसंबर की सुबह का
एक बज चुका है
लेकिन तिथि बदलने का पल
टिककर जमकर/ मेरी कलम की नोक पर
सज चुका है !

कविता में बिंब-योजना भी सर्वथा नवीन और सार्थक है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—
कालेज-प्राध्यापन में
महाजनी प्रभुता के अनुभव की कटुता
पतझड़ में बेबस झड़ते
भुरभुरे पत्तों के औघड़ खड़-खड़ की तरह
उसके सुकुमार कंदूरी अधरों पर
बुड़बुड़ा उठती है!

इन पंक्तियों में वर्णित 'कंदूरी अधर' एक ऐसा दृश्य बिंब है, जो कवि की 'लोक' में पैठ को रेखांकित करता है। पक जाने पर करेला (जो कडुवा तो होता ही है) भीतर से लालिमायुक्त हो जाता है, किंतु यह लालिमा भी कडुवेपन से शून्य नहीं होती। महाजनी प्रभुता के अनुभव की कटुता बड़बड़ाहट के रूप में लाल अधरों पर बिखर जाती है। कटुता और लालिमा के सम्मिश्रण के लिए 'कंदूरी अधर' प्रयोग एकदम ताज़ा और सटीक है।

वस्तुतः 'बोध और बयान' दोनों स्तरों पर यह अणुबंध मंत्र-कविता 'अंतरिक्ष यात्रा के युग में अस्तित्व और साम्य-दर्शन से एक पग आगे बढ़कर तीसरी दुनिया की ओर से मानव-दर्शन की नई दिशा की तलाश है।'

पल की सरगम को टेप करनेवाले इस मंत्र-कवि की कलम ने हिंदी-गीत के संदर्भ में भी नया इतिहास रचा है। 1983 ई. में 'जागृति' पत्रिका के पृ. 24-25 पर कवि सुरेश विरचित जिस अणुबंध मंत्र-गीत का प्रकाशन हुआ था, उसे हिंदी का प्रथम अणुबंध मंत्र-गीत कहा जा सकता है। मंत्र के स्वरों को संगीत के साज़ पर छेड़ने का यह प्रयास दुर्लभ तो है ही, स्तुत्य भी है, क्योंकि छायावादी कवियों के पश्चात् हिंदी-गीत या नवगीत के संदर्भ में यह अत्यंत गंभीर प्रयास है। इस अणुबंध मंत्र-गीत की जो विशिष्टता पाठकों के आकर्षण का केंद्र बनती है, वह है—नेशन के निषेध के साथ-साथ कवि के प्रखर राष्ट्रवाद की गीत में अभिव्यक्ति और उसकी मानववाद में परिणति। ध्यातव्य है कि उसने अपने राष्ट्र को 'नदी का द्वीप' नहीं बनने दिया है वरन् अंतरिक्ष परिवार के एक अभिन्न सदस्य के रूप में उसकी प्रतिष्ठा की है। भारतीयों का पारंपरिक चिंतन 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना के जिस पड़ाव तक पहुँचा था, वहाँ से आगे की यात्रा तय करता हुआ यह भारतीय कवि 'अंतरिक्षेव कुटुंबकम्' तक प्रगति कर गया है। विकासवादी परंपरा के संदर्भ में इस तथ्य का साक्षात्कार रोमांचकारी है। गीत के 'स्थाई' में यही साक्षात्कार मुखरित हुआ है—

ताराओं के गाँव अनेकों गति करते जिसमें अविरत

अंबर के इस महादेश में अपना भी इक गाँव है.
देखते आँखों वाले ही आँखों का तारा गाँव है
प्राणों से प्यारा गाँव है! ²¹

इसी गाँव की गली एक उजियारा जिसका वेश है
तारे की वह किरन एक यह मेरा भारत देश है।

अन्य ज्योतिपिंडों के साथ धरा के इसी संबंध को कवि ने 'प्रवाल' की अपनी बहुचर्चित भूमिका 'प्ररोह' में इस रूप में वाणी दी है— 'चंद्रमा का परिक्रमण पार्थिव मंडल में है, पृथ्वी का परिक्रमण सौरमंडल में, सौरमंडल का पुनः आकाशगंगा और आकाशगंगा का आगे पुनः उससे भी व्यापक डहरनिकर मंडल में। प्रत्येक मंडल अपने में विशिष्ट इकाई होते हुए भी किसी इतर बृहत्तर मंडल का अंतर्वर्ती सदस्य है।' ²²

अपने राष्ट्र के स्तवन में कवि का इतिहास-बोध विशिष्ट रंग व गंध के साथ खिला है। भारत की संस्कृति और इस संस्कृति के पुरोध कवि के लिए गर्व का विषय बनते हैं—

इसी गली में घर मेरा
छवि जीवन की हर ढाब की
जननी संत सिपाही की
भू वीर प्रसू पंजाब की!

वहीं इसी संस्कृति पर विषधर की तरह फन फैलाए बैठी पाश्चात्यानुकरण और अविद्या की व्यवस्था उसके हृदय को कचोट भी डालती है—

कितना है निर्माण यहाँ कितना दर्दिला नाश है
बन पाँखी की बगिया पर विषधर का दुर्धर पाश है।

पंजाब के संत सिपाही के स्तवन के साथ-साथ अमरनाथ-वैष्णवदेवी-बदरी-काशी-गया-हरिद्वार की ज्योतिर्मयी भूमि का वंदन, ब्रज-अवध की पुण्यभूमि का यशोगान, कोलकाता के रामकृष्ण परमहंस का अभिनंदन, चित्तौड़ की सतीशिरोमणि की पद-रज का अर्चन, मध्यप्रदेश में खजुराहो की चित्रकला का दर्शन, गुजरात की मोहन-भू पर सोमनाथ की नवल कथा का वाचन, महाराष्ट्र के छत्रपति शिवाजी की शौर्य-गीता का गायन, दक्षिण की विवेकानंद-शिला का पूजन, परशुराम के तप की प्रतीक पावन गोमंतक भूमि का सादर स्मरण, इस अणुबंध मंत्र-गीत के आरोही-अवरोही स्वर हैं। मंत्र-गीत के माध्यम से पाठकों को बहुधा विवाचस, नाना धर्मा भारत की संस्कृति-यात्रा कराता हुआ यह कवि ध्रुव, प्रह्लाद, श्रीनाथ के साथ-साथ दीवाली, ओणम, पोंगल, गरबा, पोला, जातरा व दुर्गा माँ के जागरण से भी उसे परिचित कराता है। उत्तर भारत के वृंदावन की तरह ही दक्षिण में भी वृंदावन नाम की रमणीय स्थली का अस्तित्व उसे भारत की सहज आंतरिक एकता का स्मरण करा देता है। आर्यभट्ट, भास्कर आदि उपग्रह इस भारत की अंतरिक्ष-विजय के अभियान का सार्थक कदम बनते हैं।

परंपरा और प्रगति की संधि में खिली भारतीय संस्कृति का स्तवन जहाँ इस अणुबंध मंत्र-गीत का विशिष्ट स्वर है, वहीं इस संस्कृति पर विषधर की तरह फन फैलाए बैठी पाश्चात्यानुकरण और अविद्या की व्यवस्था के मर्दन की कामना इसका एक अन्य स्वर है। इसी विषधर के दुर्धर पाश से भारतीयों को सावधान करते हुए कवि का आह्वान व्यंग्य-रूप धारण

कर गया है— 'क्लब-होटल के बानी ठेकेदार जहाँ संस्कृति और सभ्यता के श्रृंगार बनते हैं, वहाँ छल-छद्म, दंभ-प्रपंच व्यक्ति की स्वाधीनता के वाचक बनकर दशानन को पालागन करते हैं। भेद-भाव एवं वैषम्य की इन्हीं रूढ़ियों के माध्यम से यदि कोई संस्कृति की संजीवनी जुटाने का स्वप्न ले तो उसके विवेक को क्या कहा जाए? स्वाधीनता के अर्थ का अनर्थ करके राष्ट्रीयता का नारा लगाना वस्तुतः विकृति को ही वाणी देना है।' ²³ इस विकृति के परिहार और स्वस्थ प्रकृति की स्थापना के लिए कवि कृतसंकल्प है और आशावान भी है—

अर्थकाम से शोषित के हित खोज नए इक तंत्र की
नई सुबह की नई उषा के नव आवाहन मंत्र की !

स्वतंत्र भारत में लड़े जा रहे इस देवासुर संग्राम में कवि दैवीपक्ष ग्रहण करने का शिवसंकल्प ले चुका है। समाज को एक नई दिशा देने के लिए उसके पाँव एक नई राह पर आगे बढ़ रहे हैं। वह जानता है कि यही स्वस्थ दिशा भारतीयता की वाचक हो सकती है—

धर्ममोक्षयुत अर्थ काम के
दिशाबोध के चिह्न छोड़ता आगे बढ़ता पाँव है।

वस्तुतः इस स्वस्थ दिशा का चयन करनेवाला कवि ही मानव-मात्र के ऐक्य की बात कर सकता है और यही इस कवि ने किया भी है। विभिन्न आकाशीय ज्योतिर्पिंडों से घिरी इस पृथ्वी को कवि उपनिषद् के अनुकरण पर पीपल के एक पेड़ की संज्ञा देता है। यही नहीं, वह भारतवर्ष को इस पेड़ की एक डाल मानता है—

पत्तों में जिसके पलती हर नई हवा की छेड़ है
ताराओं से सिंचित यह पृथ्वी इक पीपल पेड़ है!
जो अनगिन पत्तों वाली उपशाखाओं का जाल है
धरती मेरे भारत की इस पीपल की ज्यों डाल है!

मानव की निरंतर गतिशीलता जिस 'ऋत' शब्द से वाचित है, उस 'ऋत' को कवि इस पीपल के पत्तों की मधुर ध्वनि कहता है। इस 'ऋत' को समाज-हित के लिए अर्पित करनेवाले ऋषि-कुल के प्रति भी वह अपनी निष्ठा दोहराता है—

बजता रहता पत्तों में ऋषि-कुल का ऋत-संगीत है
वादी-अनुवादी हर स्वर इस राग एक का मीत है।

पृथ्वी पर हर पल होनेवाला परिवर्तन वस्तुतः वह मारुत है, जो इस पीपल के लिए कभी बहार, तो कभी पतझर का संदेश लेकर आता है। उपनिषद् की ही शैली में कवि इस पीपल के पेड़ पर नीड़ बनाकर रहनेवाले 'द्वा सुपर्णा' का उल्लेख भी करता है—

इसी डाल पर पीपल की इक द्वा सुपर्णा का नीड़ है
प्राण वायु की वेद ऋचा वह नाद कंप का मीड़ है।

इस औपनिषदिक रूपक की विज्ञान-संगत व्याख्या करने का स्तुत्य प्रयास भी कवि ने किया है— '(पीपल का) वृक्ष यदि परमाणु की नाभि-संहति है तो दोनों पक्षी क्रमशः क्षर-अक्षर प्रकृतिस्थ पुरुष (धन एवं ऋण विद्युदणु) के ही वाचक हैं। स्वाद से पीपल का उपभोग ही सुख-दुःख का वह भोक्तृत्व है, जिसका हेतु प्रकृतिस्थ पुरुष है— ²⁴

कार्य-कारण कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते

पुरुषः सुख दुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।²⁵

अपने अणुबंध मंत्र-गीत में वैज्ञानिकता का पुट देता हुआ यह विज्ञानधर्मा कवि पृथ्वी रूपी गाँव के अर्धभाग में रात्रि और अर्धभाग में दिवस का उल्लेख करता है—

आधा गाँव मचलता है आधे में रहती नींद है

आधी खिली कली में ज्यों खिलती आधी उम्मीद है!

अपने गाँव को सुंदर बनाने की अभिलाषा करनेवाला यह कवि वस्तुतः रंग-भेद, जाति-भेद की समस्त संकीर्णताओं को छिन्न-भिन्न कर डालना चाहता है। यही नहीं, धरती पर हुई प्रगति को वह अन्य ज्योतिष्पिंडों के संदर्भ में आकलित करना चाहता है, क्योंकि वास्तव में यही 'इतिहास को गति देना' है—

सुंदरता के हित जल तप जीवन में हुए विकास को

गाँव-गाँव में ले जाना गति देना है इतिहास को।

यद्यपि आज तक अंतरिक्ष के रहस्यों का जो अनावरण हुआ है, उससे अन्य आकाशीय पिंडों पर जैवी हलचल के कोई संकेत नहीं मिले हैं तथापि भविष्य अपने गर्भ में किन रहस्यों को छिपाए है, कौन जानता है?

है भी जीवन और कहीं या चाँद सभी वीरान हैं

जाने क्या कल चले पता अब तक तो सब हैरान हैं।

इस समूचे अंतरिक्ष को प्राच्य ज्योतिर्विदों ने 'ब्रह्मांड' क्यों कहा? जगत् गतिशील कैसे है? यति, युति, गति, स्थिति क्या है?— ये कुछ ऐसे शाश्वत प्रश्न हैं, जो हर कालजयी कवि के मानस में निरंतर आविर्भूत होते रहते हैं। वह यह भी जानता है कि ये प्रश्न अनुत्तरित नहीं हैं—

बादल की हलचल जैसे अनुभव के प्रश्न अनेक हैं

हवा, बूँद, बिजली जैसे उत्तर भी प्रकट अनेक हैं।

संस्कृत की बृंहि धातु (गत्यर्थक) से बना ब्रह्म शब्द शून्य अतल निरंतर वर्धमान अंतरिक्ष का वाचक क्यों है? यह सहज ही बोध्य है। जल की हिम में परिणति और पुनः हिम का जल में द्रवण जिस तरह एक सत्य है, वैसे ही निस्पंद ब्रह्म का कुला-शक्ति के रूप में स्पंदन भी एक सत्य है। संहति का ऊर्जा में विखंडन इसी सत्य की एक और अभिव्यक्ति है—

बूँदें ताल तलैयों में हिम में चल जल में भी घुलीं

गर्भित हर हरियाली में वे ओस कणों में भी खुलीं।

अंतरिक्ष के विभिन्न ज्योतिष्पिंडों का अपनी-अपनी कक्षा में निरंतर परिक्रमण ही वास्तव में निरंतर गतिशील, ऊर्ध्वगावृत्ति के परिचायक ऋषिकुल के ऋषिकर्म की एक वैज्ञानिक भांगिमा है। 'मानस के हंस' ये ऋषि ही वास्तव में 'ज्योतिष ग्रह-धर्म' के प्रतीक हैं। 'सः' और 'अहं' तथा पुनः 'अहं' और 'सः' की संधि में खिला 'हंस' शब्द जिस 'हंसवृत्ति' की ओर संकेत करता है, वह ही इस समूची सृष्टि के आवर्तन-विवर्तन, उन्मीलन-निमीलन की सूचक है। प्रकृति की वाचक इस 'हंसवृत्ति' के साथ-साथ विकृति की वाचक 'काग-वृत्ति' का इस सृष्टि में उन्मीलन-निमीलन ही सृष्टि की गति का एक मुख्य आधार है—

बनता सोऽहं हंस जहाँ पर

और जहाँ पर करता रहता कागदल काँव-काँव है।

विश्वकाव्य में तंत्र व यंत्र की विकृति के निमीलन और मंत्र की अणुबंध प्रकृति के उन्मीलन का शिवसंकल्प ले चुकी हिंदी की अणुबंध मंत्र-कविता भावी मानव और भावी हिंदी-कविता की प्रगति के नए क्षितिज रचती जा रही है— यही विश्वास है, यही अभीष्ट है।

संदर्भ

1. द्रष्टव्य, पंजाब-सौरभ, भाषा विभाग, पंजाब की साहित्यिक पत्रिका का सुरेशचंद्र वात्स्यायन विशेषांक, फरवरी-अप्रैल 1997, पृ० 102-103
2. सुरेश: मुकुल शैलानी, होशिआरपुर : हिंदी-साहित्य वितान संस्थान, 1984 (आवरण-पृष्ठ के भीतरी मोड़ पर प्रकाशित प्रतिक्रियाओं में से)
3. पूर्वोक्त, पृ. 15 ('शैलानी संकल्प' से)
4. पूर्वोक्त, पृ. 28
5. पूर्वोक्त, पृ. 26
6. पूर्वोक्त, पृ. 27
7. साहित्य-मार्ग, (पत्रिका), पटियाला: पंजाबी यूनिवर्सिटी, 1978 (पंजाब-कविता-विशेषांक)
8. पूर्वोक्त, पंक्ति-263-269
9. पूर्वोक्त
10. सुरेश : मुकुल शैलानी, पृ. 15 ('शैलानी संकल्प' से)। राँची की साहित्य-संस्था 'सुरभि' द्वारा 9 मई, 1989 को आयोजित समारोह में 'प्रगतिशील भारतीय चिंतन का प्रतिनिधि मंत्र और हिंदी-काव्य में उसकी प्रतिष्ठा' विषय पर वाचित शोध-पत्र में कवि सुरेश ने अपनी इस संकल्पना को वाणी दी कि 'निज' जब 'आत्म' की दिशा में उन्मुख होता है, तब कविता में उसकी लिपि मंत्र में ढलने लगती है।॥१११
11. टेप : अ-तिथि परि-वर्तन की, पंक्ति 131-148
12. पूर्वोक्त
13. पूर्वोक्त
14. पूर्वोक्त
15. पूर्वोक्त
16. सुरेश : प्रवाल, होशिआरपुर : प्राच्य भारती प्रकाशन संस्थान, 1966, पृ. 22-26 ('प्ररोह' शीर्षक भूमिका से)
17. टेप : अ-तिथि परि-वर्तन की, पूर्वोक्त
18. पूर्वोक्त
19. साहित्य-मार्ग, (पंजाब कविता विशेषांक), पटियाला: पंजाबी यूनिवर्सिटी, 1978
20. जागृति (पत्रिका), पंजाब : लोक-संपर्क विभाग, 1983 (स्वाधीनता विशेषांक)
21. पूर्वोक्त
22. सुरेश : प्रवाल, पृ. 8 ('प्ररोह' शीर्षक भूमिका से)
23. पूर्वोक्त, पृ. 30
24. पूर्वोक्त, पृ. 14 ('भूमिका' से)
25. पूर्वोक्त, पृ. 14 पर उद्धृत

□ ई-1/13 पंजाब विश्वविद्यालय परिसर, सेक्टर-14
चंडीगढ़ (पंजाब)

भोजपुरी सभ्यता एवं संस्कृति

समरबहादुर यादव

डा० ग्रियर्सन ने भोजपुरी को एक कर्मठ जाति की व्यावहारिक भाषा कहा है, जिसका प्रभाव संपूर्ण भारत में अनुभव किया गया। यह परिस्थितियों के अनुकूल अपने-आपको ढालने के लिए सदैव तैयार रहती है। उन्होंने लिखा है कि हिंदुस्तान को जाग्रत करनेवाली भाषा मुख्य रूप से दो हैं— बंगाली और भोजपुरी। इनमें प्रथम ने अपनी कलम से और दूसरे ने अपनी लाठी से काम पूरा किया।

भोजपुरी क्षेत्र के लोगों का स्वभाव बन गया है कि 'वे सबकुछ सहन कर सकते हैं, परंतु देश की अखंडता पर जब भी खतरा नज़र आता है तो वे सर्वस्व निछावर कर उसकी रक्षा में जुट जाते हैं। अपनी भाषा से जितना अगाध प्रेम भोजपुरी बोलनेवालों का है, किसी अन्य भाषा-भाषी को नहीं। डा० राजबली पांडेय ने कहा कि 'भोजपुरी क्षेत्र के लोगों में एक और विशेषता है, 'जब राष्ट्र और संस्कृति के विकास और समृद्धि के लिए कोई महान प्रयत्न होता है तो वे उसके सामने अपना सर्वस्व निछावर करने को तैयार रहते हैं।'

जब एक संस्कृति दूसरी संस्कृति के संपर्क में जाती है तो वे एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। प्रत्येक संस्कृति का अपना एक विशेष चरित्र होता है, जिसके कारण एक संस्कृति दूसरी संस्कृति से भिन्न होती है। मनुष्य अपनी संस्कृति से भावनात्मक रूप से जुड़ा रहता है। इसी विशिष्ट चरित्र के कारण उसे अपने ऊपर आरोपित महसूस करता है, जिसका वह प्रतिरोध भी करता है। दूसरी संस्कृति में वैविध्यपूर्ण एवं जटिल तत्त्वों के साथ-साथ सकारात्मक एवं विकसित तत्त्व भी समाविष्ट हो सकते हैं, लेकिन अपने ऊपर आरोपित अनुभव करने के कारण मनुष्य उसके सकारात्मक पक्ष को भी ग्रहण नहीं करता।

अपनी संस्कृति के प्रति जागरूक, सचेत एवं अस्थावान वह समुन्नत जाति दूसरी संस्कृति के प्रभाव से कम प्रभावित होती है, जिसे अपनी सभ्यता और संस्कृति का पूर्णतया बोध होता है। अपनी संस्कृति में गहरी निष्ठा समझकर और गर्व के अभाव में ही शासक वर्ग की सभ्यता और संस्कृति से तत्कालीन जनसमुदाय प्रभावित होता है। विजित जाति के लोग यह सोचने के लिए बाध्य हो जाते हैं। शासक जाति की संस्कृति में निश्चय ही ऐसे गुण विद्यमान हैं, जिससे हमारी सभ्यता और संस्कृति परे है और वह इसीलिए जीत सकी है। ऐसी स्थिति में दूसरी संस्कृति के प्रभाव की उस क्षेत्र में वृद्धि होती है। विजित जनसमुदाय कुंठाग्रस्त हो जाता है। उसकी बुद्धि तर्कहीन हो जाती है और वह अंधानुकरण का शिकार हो जाता है।

मुसलमानों के बाद अँग्रेजों की सभ्यता और संस्कृति का गहरा प्रभाव भारतवर्ष पर पड़ा। इसलिए नहीं कि अँग्रेजी जाति पढ़ी-लिखी और सभ्य थी वरन् उसने भारत की सभी परिस्थितियों का गहरा अध्ययन किया, चाहे सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक हो या आर्थिक।

इस कारण अँग्रेजों ने शांति-व्यवस्था बनाने में सफलता हासिल की। अँग्रेजों के धर्म एवं संस्कृति का प्रभाव मुख्य रूप से कुलीन, संपन्न एवं शिक्षित वर्ग पर पड़ा। जो शोषण करने में अँग्रेजों का साथ देते थे। आम जनता पर उनकी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रभाव नहीं पड़ा। डा० कृष्णदेव अपाध्याय के अनुसार—‘भारत की संस्कृति मुख्य रूप से सुरुचि-संपन्न, मानवतावादी और आनंददायिनी है। यह सभी संस्कृति के तत्त्वों, पर्व, त्योहार, संस्कार, श्रम-संबंधी कर्म, धार्मिक अनुष्ठान और रीति-रिवाज में दृष्टव्य है। यहाँ का कोई त्योहार ऐसा नहीं, जिसमें शोकानुभूति होती हो। सारे तत्त्व भोजपुरी संस्कृति में भी समाविष्ट हैं।

आराध्य देवों में शिव आते हैं। शिव का मंदिर भी प्रत्येक गाँव में पाया जाता है, जो शिव के गुणों, आख्यान भोजपुरी लोककथाएँ, शिव की ओर ध्यान आकृष्ट करने, श्रद्धा जगाने, भक्तों के अंदर भक्ति-भाव पैदा करने में सहायक होता है। यहाँ प्रचलित लोककथाओं में शिव ही एक ऐसे देवता हैं, जो सभी समस्याओं से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। कथा-पात्रों से द्रवित होकर उन्हें वाँछित फल प्रदान करते हैं। भोजपुरी क्षेत्रवासी ‘भोलानाथ शिवशंकर के विवाह को अपनी मातृभाषा में कुछ ऐसे कहते हैं—

कैलाश में बास करीले ज्ञानी। बम जिओ महादेव शिवध्यानी।
शिव के जटा से गंगा बहेली। ओहि में असनान कइली पारवती।
माता के तरलीं गौरी पिता के तरलीं। चारों भुअन के देशवा तरलीं,
गौरी जोग वर ना मिललन। माता बहिनिया घर में नाहीं।
माथा तिलकवा चढ़त नाहीं। बिना बतवले घर मिलत नाहीं।
गौरी जोग वर ना पवलेन। बम जिओ महादेव शिव ध्यानी।
कैलाश में बास करीले ज्ञानी।

शिव के बाद हनुमानजी का भोजपुरी-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे महत्त्वपूर्ण आराध्यदेवों में हैं। वे बल प्रदान कर भय से मुक्ति दिलाने का कार्य करते हैं। भूतपिशाच इनका नाम लेने से कोसों दूर भाग जाते हैं। भय और भूत से मुक्ति के लिए हनुमान जी का नाम इस प्रकार पुकारा जाता है— भूत-पिशाच निकट नहि आवे, महावीर जब नाम सुनावे।

इनके बाद राम और कृष्ण प्रमुख देवों में आते हैं। हरिकीर्तन करते समय एकेश्वरवाद की झलक लोकगीतों में दिखाई देती है। भोजपुरिया लोग भगवान श्री कृष्ण के द्वारा गोपियों को भेजे गए संदेश को भी लोकगीत, भजन के रूप में इस प्रकार गाते हैं—

साम के संदेसा ऊधो पाती ले के अइले जी।
गोकुला से पाती अइले छाती से लगवली जी।
घूँघट के नीचे-नीचे उधो से बचवली जी।
साम के संदेसा ऊधो पाती ले के अइले जी।
पतिया लिखत उनका लाजो न लागे जी।
अपना पवरूसवा के भसम कइसे कइली जी।
साम के संदेसा ऊधो पाती ले के अइले जी।

भोजपुरी लोग लोकगीत के रूप में श्रीराम और लक्ष्मण के वनगमन को इस प्रकार गाते सुन जाते हैं—

सखी होई दूनो बालक ना बन जोग ।
 कइसन ह्वें तोर मातु पिता हो,
 कइसन ह्वें तोरा नगर के लोग।
 कइसे लियेले तोर मातु पिता हो,
 कइसे जियेले अजोधिया के लोग।
 तुलसीदास प्रभु आस चरन के,
 हरि के चरन पर होई अवलीन।
 सखी होई दूनो बालक ना बन जोग।

आपसी वैमनस्यता, विभेद, द्वंद्व और कटुताओं को भुलाकर लोग विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं, जिससे जन-मानस आह्लादित होता है। इस प्रकार ये चित्त की प्रसन्नता, स्वस्थ नागरिक बनने में महायोगदान देते हैं। उनमें रागात्मक तथा भावात्मक प्रेमपरक संबंध स्थापित होते हैं। जाति-पाति, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, छोटे-बड़े का भेद ईश्वर की मान्यता देकर समाप्त करते हैं। भोजपुरी क्षेत्रवासी ईश्वर को आधार मानकर लोकगीत गाते हैं, जिसको लोग बड़े चाव से सुनते हैं—

प्रेम मोर एक ही आधार दूजा कोई नहीं।

देखली इजम निसार यार दूजा कोई नहीं।

भोजपुरी लोग अपने लोग-गीतों के माध्यम से महत्ता, गुणवत्ता और व्यापकता का इतना सजीव चित्रण कर देते हैं कि परमात्मा संसार का एकमात्र आधार है, दूसरा नहीं और आत्मा का परमात्मा के सिवा कौन हो सकता है उसके बिना जगत् तत्त्वविहीन है। भोजपुरी बोली बोलेजाने वाले क्षेत्र में घर-घर 'गीता' का पाठ किया जाता है। हिंदू लोग सबसे अधिक यदि किसी धर्म-पुस्तक से प्रभावित हैं, तो वह 'गीता' ही है। प्रातः और सायंकाल शुद्धिकरण के पश्चात् धूप-दीप, नेवैद्य संयुक्त होकर भोजपुरी स्त्री-पुरुष 'गीता' का मूल पाठ किया करते हैं। इनका विश्वास है कि इसका पाठ करने से ऐहिक और पारलौकिक दोनों का कल्याण होगा।

भोजपुरी क्षेत्र के निवासी भाग्य की अपेक्षा अपने पुरुषार्थ पर अधिक विश्वास करते हैं। वे कर्मनिष्ठ तथा कर्तव्यपरायण होते हैं। पूजा-अर्चना के साथ ही अपने सम्मुख आई कठिन-से-कठिन परिस्थितियों का धैर्य एवं साहस के साथ सामना करते हैं। वे कभी भी सांस्कृतिक लोक से हटकर बाह्याडंबरों और दिखावे में आस्था नहीं रखते हैं। लोक-जीवन में समाविष्ट इस बहुदेववाद के मूल में सर्वात्मवाद और अद्वैतवाद की प्रेरणा ही विद्यमान है। अपने आस-पास की सारी वस्तुओं में इन भोले-भाले व्यक्तियों को ईश्वर के अस्तित्व का आभास मिलता है, इसलिए प्रत्येक वस्तु उनके लिए पूज्य होती है। 'अनेकत्व की उपासना के माध्यम से उनकी वृत्ति उस एक अखंड अविनाशी, विराट् शक्ति की ओर उन्मुख रहती है, जो सृष्टि के प्रत्येक कार्य-व्यापार में अपने-आप को प्रकट करता रहता है और जो सर्वत्र विद्यमान है। इनकी कर्म के प्रति निष्ठा और स्वाभिमानी भावना होती है। भोजपुरी जनता दूसरे के दरवाजे के सुंदर ढंग से सजा होने से अच्छा अपने दरवाजे पर बिछा पुआल ही समझती है।

गरीबी, अज्ञान और शिक्षा की कमी होने के कारण यहाँ के लोगों में अंधविश्वास जड़ रूप में विद्यमान है। इस क्षेत्र के लोग अपनी गरीबी के कारण झाड़ू-फूँक, जादू-टोना,

गंडा-ताबीज़, शकुन-अपशकुन आदि लोकविश्वासों में आस्था रखते हैं, जो इनकी संस्कृति में समाविष्ट है। सोखा-ओझा, साधु-फकीर नामक लोग इनके अज्ञान का अनुचित लाभ उठाते हैं। भोजपुरी जनता अपनी निश्छलता के कारण सहज ही इन समाज-विरोधी लोगों के चंगुल में फँस जाती है और शोषण का शिकार हो जाती है।

भोजपुरी क्षेत्र के लोग लोकोक्तियों का व्यवहार करते हैं, जो सांस्कृतिक संदर्भ में कहीं व्यंग्य का काम करती हैं, तो कहीं शिक्षा का। भोजपुरी क्षेत्र में व्यवहृत एवं प्रचारित लोकोक्ति, लोकगीतों और लोककथाओं में यहाँ की संस्कृति की अपनी अलग पहचान है। वे अन्य किसी भाषा में बातचीत नहीं करते। भोजपुरी लोगों की वेशभूषा सीधी-सादी होती है। ऊँची धोती, धोती से ऊपर कुर्ता, सिर पर पगड़ी और पाँवों में सादा जूते इनका पहनावा है।

भोजपुरी लोगों का भोजन भी सादा ही होता है, अधिकांश लोग शाकाहारी होते हैं। कुछ मांस-मछली और मदिरा का भी सेवन करते हैं। मुख्य रूप से ये लोग भोजन में चावल, रोटी, दाल, सब्जी, दही, दूध, घी, सत्तू आदि को प्रमुख स्थान देते हैं। भोजन की सात्विकता ही इनके स्वस्थ एवं बलिष्ठ होने का रहस्य है। भूख लगने पर रास्ते में उचित स्थान देखकर सत्तू की गहरी खोली और बर्तन भी नहीं ढूँढ़ते बल्कि अपने गमछे में ही सानकर अपनी भूख शांत कर मंजिल की ओर प्रस्थान करते हैं। सत्तू को 'तुरंता' भी कहा जाता है।

भोजपुरी क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से अति पिछड़ा हुआ है। गरीबी, भुखमरी, अशिक्षा, बेरोज़गारी के शिकार होने के कारण भोजपुरी क्षेत्र के लोग देश के कोने-कोने में तथा विदेशों में अपनी जीविकोपार्जन के लिए जाने को बाध्य हो जाते हैं। यह घर से दूर होने के कारण भी अपनी संस्कृति और भाषा की रक्षा अंत तक करते हैं। अपनी-अपनी संस्कृति के अनुरूप होरी-चैता आदि का गान भी करते हैं।

एक-दूसरे के सुख-दुख में शामिल होते हैं। इनका आपसी भाईचारा और प्रेम देखकर दूसरे क्षेत्र के लोग चकित हो जाते हैं। भोजपुरी क्षेत्र के लोगों की शान एवं पहचान उनकी मूँछ से होती है जिसे बार-बार ऊपर को ऐंठते रहते हैं। भोजपुरी क्षेत्र के लोग कितने ही बड़े अफसर क्यों न हों, जब दो लोग मिलते हैं तो अपनी संस्कृति को नहीं भूलते और भोजपुरी भाषा में ही बातचीत करते हैं।

भोजपुरी क्षेत्र के लोग धार्मिक-सामाजिक और आज्ञादी की लड़ाई का नेतृत्व आगे बढ़कर करते हैं। वे मूलतः निर्भीक, सहज, स्वभाव और तेजस्वी हुआ करते हैं। इसी क्षेत्र में भगवान महावीर, गौतम बुद्ध, तुलसी, कबीर, रैदास और पलटूदास आदि ने अवतार लेकर देश को नयी दिशा देने का कार्य अपने उपदेशों और नीतिवचनों से किया। इस देश के लोगों ने देश की स्वतंत्रता के लिए भी संघर्षों में नेतृत्व प्रदान किया। 1857 की क्रांति में मंगल पांडेय, कुँवरसिंह तथा 1842 में डा० राजेंद्रप्रसाद और जयप्रकाश नारायण आदि ने अग्रणी बनकर भाग लिया।

भोजपुरी समाज पुरुष-प्रधान है। यहाँ कन्या का जन्म दुर्भाग्यपूर्ण माना जाता है। यह संस्कृति का नकारात्मक पहलू है तथा पुत्र का जन्म शुभ माना जाता है जिसके कारण हर्ष, उल्लास छा जाता है। भोजपुरी धर्म का यह नकारात्मक पहलू समस्या बना हुआ है। इसका मुख्य कारण सामाजिक, आर्थिक, मानसिक पिछड़ापन ही है। कन्या के पिता के सामने उसके विवाह

की सबसे बड़ी समस्या होती है। सुयोग्य वर की तलाश में पिता की भूख-प्यास और नींद उड़ जाती है। उपयुक्त वर मिलने की समस्या के समाधान की संभावना, दहेज रूपी दानव का आहार बन जाती है। हर एक पिता अपनी बेटी को सुखी-संपन्न परिवार में अपने घर से विदा करना चाहता है। शादी के उपरांत नारी को पुरुष के समान अधिकार प्राप्त नहीं हैं। मानसिक रूप से नारी शोषित एवं प्रताड़ित की जाती रही है। बंध्या नारी का सामने आना अपशकुन माना जाता है। विधवा होना अभिशाप है एवं इसे सामाजिक, मानसिक यंत्रणा भोगनी पड़ती हैं। दूसरी शादी नहीं होती है और नारी को जिंदा लाश बनकर शेष जीवन गुज़ारना पड़ता है।

भोजपुरी समाज में 'माँ' का स्थान सर्वोच्च माना गया है। वह अपने बेटे को कहानी सुनाकर, शिक्षित एवं कल्पनाशील बनाती है। परिवार की एकता, मान-प्रतिष्ठा तथा भोजपुरी संस्कृति की रक्षार्थ माँ की भूमिका का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर देखा जा सकता है कि भोजपुरी संस्कृति कर्म-प्रधान और बहुदेववादी है। वह भाग्य एवं पुरुषार्थ में समन्वय स्थापित करने एवं राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने में अमूल्य योगदान देती रही है।

□ मकान नं० 1297, विवेकानंद नगर
सीतापुर आँख अस्पताल के पीछे, सुल्तानपुर (उ०प्र०)

हिंदी में हास्य बाल नाटक

डा० सुरेंद्र विक्रम

अंतर्राष्ट्रीय बाल वर्ष सन् 1979 में 'बच्चों के सौ नाटक' ग्रंथ का संपादन करते हुए सुप्रसिद्ध बाल साहित्यकार एवं 'पराग' के यशस्वी संपादक डा० हरिकृष्ण देवसरे ने लिखा था कि—'बच्चों के लिए हास्य-एकांकी लिखना टेढ़ी खीर माना जाता है। कारण यह है कि हास्य-चरित्रों की कल्पना, उनके लिए ऐसी परिस्थितियों की कल्पना, जिसमें हास्य उत्पन्न हो और फिर अभिनय की कुशलता— इन सबका संगम कुशलतापूर्वक प्रस्तुत कर पाना काफी कठिन है।'

आज से लगभग 28 वर्षों पूर्व लिखा गया डा० देवसरे का यह संपादकीय उस समय की अपेक्षा आज और भी अधिक प्रासंगिक तथा चुनौतीपूर्ण है। जहाँ बड़ों के लिए लिखे जा रहे नाटकों में हास्य और व्यंग्य का पैनापन आज कहीं अधिक है, वहीं बच्चों के लिए हास्य-नाटकों का लगभग टोटा है। इस दिशा में छिटपुट प्रयास हो रहे हैं, परंतु बच्चों की जनसंख्या को देखते हुए इसे न तो उत्साहजनक कहा जा सकता है और न ही इसे पर्याप्त की संज्ञा दी जा सकती है।

बच्चों के लिखे गए हास्य-नाटकों/एकांकियों की जब भी चर्चा चलेगी, इसका प्रारंभ भारतेंदु हरिश्चन्द्र के अंधेरनगरी से ही होगा। सन् 1881 में लिखा गया यह एकांकी जहाँ बड़ों की संवेदना को झकझोरता है, वहीं बच्चों का भरपूर मनोरंजन करता है। इसमें भारतेंदु जी ने व्यंग्य और विनोद का ऐसा मिश्रण किया है कि उसमें अनेक विडंबनात्मक चित्र उभरकर सामने आ गए हैं।

बाल-नाटकों का विकास प्रमुख रूप से स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हुआ। हास्य बाल-नाटक छठवें दशक में लिखे गए। सन् 1964 में प्रकाशित भानु मेहता का बाल नाटक 'वे सपनों के देश से लौट आए' हास्य से भरपूर है। दो अंकों के इस नाटक में विद्यालय के अध्यापक और माता-पिता के डर से भागे हुए तीन बच्चों की हास्य से परिपूर्ण गाथा है, जो परिलोक की सैर करने के बाद घर की याद सताने पर वहाँ से भाग खड़े होते हैं। सन् 1965 में प्रकाशित नाटक 'अधिकार का रक्षक' (उपेंद्रनाथ 'अशक') नेताओं पर करारा व्यंग्य है।

सन् 1965 में ही योगेंद्रकुमार लल्ला के संपादन में प्रकाशित हास्य एकांकी अपने ढंग का अभिनव प्रयोग था। इसमें कुल 11 एकांकी संकलित किए गए हैं। इनके लेखक हैं—आनंदप्रकाश जैन, चिरंजीत, देवराज 'दिनेश', मंगल सक्सेना, मनोहर वर्मा, मस्तराम कपूर, विष्णु प्रभाकर, वेद राही, स्वदेश कुमार, सत्येंद्र शरत और श्रीकृष्ण। इस संग्रह ने बाल-साहित्य के क्षेत्र में एक मानक स्थापित किया। बच्चों के आसपास के चरित्र को लेकर लिखे गए ये एकांकी जहाँ एक ओर उनका भरपूर मनोरंजन करते हैं, वहीं दूसरी ओर कोई-न-कोई संदेश देने में भी सक्षम हैं।

सन् 1966 में प्रकाशित हरिकृष्ण दासगुप्त के हास्य बाल-नाटक 'निरीक्षण' में अध्यापकों की कर्तव्यहीनता पर व्यंग्य तथा छात्रों की सत्यनिष्ठा का जयघोष किया गया है। सन् 1971 में प्रकाशित श्रीकृष्ण का हास्य बाल-एकांकी 'हिरण्यकश्यप मर्डर केस' बच्चों को हँसा-हँसाकर लोटपोट कर देता है। हिरण्यकश्यप को मारनेवाले नरसिंह अवतार भगवान विष्णु पर मुकदमा चलता है। वकील के रूप में नारद की प्रस्तुति एकांकी में चार चाँद लगा देती है। सरकारी वकील अपने तर्कों से भगवान विष्णु को खूनी सिद्ध कर देता है। जज फैसला सुनाते हैं—'गले में रस्सी का फंदा डालकर लटकाए रखा जाए— जब तक दम न निकल जाए।' (बच्चों के सौ नाटक : पृ० 456) इसी बीच भगवान विष्णु बना लड़का भाग खड़ा होता है तथा पार्श्व में नारद की 'नारायण-नारायण' ध्वनि सुनाई पड़ती है।

सातवें दशक में हास्य बाल-नाटक कम लिखे गए परंतु आठवें दशक में 'पराग' ने नाटक प्रतियोगिता आयोजित करके बच्चों के लिए विशेष रूप से नाटक लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। इस काल में 'पराग' में नाटक लिखने के लिए होड़ लग गई, परिणामस्वरूप के०पी० सक्सेना, केशव दुबे, विनोद रस्तोगी, मनोहर वर्मा, डा० मस्तराम कपूर 'उर्मिल', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आदि के कई हास्य-नाटक समय-समय पर प्रकाशित हुए।

बच्चों के लिए हास्य-नाटक लिखने में के०पी० सक्सेना को सर्वाधिक सफलता मिली। उनके हास्य बाल-नाटकों का सफलतापूर्वक मंचन किया गया। उनके हास्य बाल-एकांकी जो प्रमुख रूप से चर्चित रहे, उनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं— 'फुकनूस गोज टू स्कूल', 'तलाश अर्जुन की', 'चोंचू नवाब', 'दस पैसे के तानसेन', 'खामोश पढ़ाई जारी है', 'लालटेन की वापसी', 'अपने-अपने छक्के', 'मूँछ घड़ी' आदि। हास्यरस की चाशनी में पागे गए इन एकांकियों का स्वाद पाठक/दर्शक बहुत देर तक महसूस करते हैं। के०पी० सक्सेना की संवाद-अदायगी ने इन एकांकियों को अविस्मरणीय बना दिया है।

इसके अतिरिक्त गोविंद शर्मा का 'डाक्टर चुनमुन', केशव दुबे का 'जादूगर जो नहीं हो सका', 'डामे की दुकान', मनोहर वर्मा का 'नाटक से पहले', मंगल सक्सेना का 'आदत सुधार दवाखाना' आदि हास्य बाल-एकांकियों ने बच्चों के बीच में अच्छी पैठ बनाई। बाल-नाटकों को बच्चों तक पहुँचाने के लिए श्रीमती रेखा जैन ने जो अभूतपूर्व प्रयास किया, उसे भुलाया नहीं जा सकता है। उन्होंने बालरंगमंच को प्रतिष्ठा दिलाने के लिए न केवल बाल-नाटकों का लेखन किया, अपितु उनके मंचन की सारी जिम्मेदारी अपने सिर पर ओढ़ ली। पूरे दिल्ली में उन्होंने बाल-नाटकों के मंचन को एक अभियान के रूप में चलाया।

आठवें दशक के अंत तक हास्य बाल-नाटकों ने अपना एक मुहावरा गढ़ लिया था। अंतर्राष्ट्रीय बाल वर्ष में पूरे साल बाल-साहित्य की धूम रही। हास्य बाल-नाटक भी इससे अछूते नहीं रहे।

नवें दशक में प्रकाशित राधेश्याम उपाध्याय का बाल एकांकी 'पासा पलट गया' में छात्राएँ अपनी अटपटी माँगें मनवाने के लिए हड़ताल करती हैं। उनकी अटपटी माँगों में निम्नलिखित नई प्रार्थना भी शामिल है—

प्रभु दो इतने वरदान हमें। अच्छे-अच्छे पकवान हमें।

नमकीन समोसा पपड़ी दो। रसगुल्ला, वर्फी, रबड़ी दो।

दो एक सुनहरी कार हमें। नौकर-चाकर दो-चार हमें।
कालेज में अपनी शान रहे। कक्षा हरदम सुनसान रहे।
प्रभु इतनी माँगें मानो तुम। या अपनी शामत जानो तुम।

जब छात्राओं को पता चलता है कि उन्हीं की तर्ज पर रसोई में भी चूल्हाबंद हड़ताल है, तब उन्हें अपनी ग़लती का अहसास होता है, और शशि, नजमा, सुजाता, दलजीत तथा पूनम यह निर्णय लेती हैं— 'बहनो! अब हड़ताल नहीं होगी, नहीं होगी, अब हड़ताल नहीं होगी।'

प्रमोद जोशी का एकांकी 'गुमशुदा' पात्रों के नामों से ही हास्य उत्पन्न करता है। नवाब दंबूक अली, मिर्जा घड़ौची, नवाब चोंचपुरी और इंस्पेक्टर जुम्मन... एकांकी में नवाब दंबूक अली का हसन गुम हो जाता है। चुटीले संवादों के बीच अंत में जब पता चलता है कि हसन नवाब का बेटा नहीं बल्कि बकरा है तो तीनों पात्र कुर्सियों पर बैठे-बैठे बेहोश हो जाते हैं। एकांकी की भाषा चटपटी है, इसे आसानी से मंच पर खेला जा सकता है।

विश्वबंधु का बाल एकांकी 'संतरासिंह की होली' नामों की चमत्कारपूर्ण गाथा है। होली के अवसर पर संतरासिंह, मौसमीबाई के स्वागत में नीबू, चीकू, लीची सभी से जोरदार तैयारियाँ कराते हैं। संतरासिंह बेसब्री से मौसमी का इंतज़ार करते हैं। एकांकी के अंत में रमेश अपने कुछ साथियों के साथ एक पैकेट लेकर गुनगुनाते हुए प्रवेश करता है—

बहारो फूल बरसाओ
कि संतरा चाचा से मिलने
मौसमी बाई आती हैं।

संतरासिंह के सामने रमेश पैकेट खोलकर एक मौसमी निकालता है। मौसमी देखकर संतरासिंह अपना सिर पकड़कर बैठ जाते हैं। ठहाकों के साथ एकांकी यहीं समाप्त हो जाता है।

वीणा गुप्त का एकांकी 'तीसरा कौन?' हास्य के साथ सीख लिए हुए है। सियार का मोती और टिंगु से यह कहना कि जब कभी तुम दोनों में किसी बात पर मतभेद हो तो उसे सदा आपस में ही निपटा लेना, किसी तीसरे को कभी बीच में मत डालना। जो कोई भी तुम्हारा फैसला करेगा, वह सदा अपना स्वार्थ ही देखेगा, लाख टके की सलाह है। इसे माननेवाला कभी धोखा नहीं खा सकता है।

मुहावरों और कहावतों को केंद्र में रखकर कई हास्य एकांकी बच्चों के लिए लिखे गए हैं। राजेश शारदा का एकांकी 'पहचान असली जीरे की' ऊँट के मुँह में जीरा कहावत पर आधारित है। राजबनिया घासीराम, काशीराम का जीरा जब सरकारी ऊँट नहीं खाता है तो महाराज अपना बेबाक निर्णय सुनाते हैं, जो पाठकों/दर्शकों के मुख पर अनायास हँसी बिखेर देता है—

'बड़े-बूढ़े कह गए हैं— ऊँट के मुँह में जीरा अर्थात् ऊँट ही असली जीरे की पहचान कर सकता है। ऊँट ने जीरा मुँह में नहीं लिया, इसलिए तुम्हारा जीरा एकदम नकली है। अतः नकली माल बेचने के अपराध में तुम्हें दंड दिया जाएगा। जीरे का तुम्हारा स्टाक जब्त किया जाता है और तुम्हें राज्य में जीरे का होलसेलर इस शर्त पर बनाया जाता है कि तुम उसी जीरे का व्यापार कर सकोगे, जिसे सरकारी ऊँट ने चखकर असली प्रमाणित कर दिया हो।'

विश्वबंधु का एकांकी 'सिक्स स्टार होटल' बबलू की घर को होटल बनाने की सनक

पर आधारित है। उसकी इस सनक से परेशान पापा अपने मित्र खन्ना से संपर्क करते हैं। मि० खन्ना हँसी-हँसी में इसका समाधान खोज लेते हैं— 'जहाँ तक बच्चों की ज़िद का सवाल है, वह फूले हुए गुब्बारों की तरह होती है, जिसे एक पिन से पिचकाया जा सकता है।'

मिस्टर खन्ना जैसे ही घर बने होटल के रजिस्टर पर प्रिंसिपल साहब का नाम लिखते हैं, बबलू की सारी सनक हवा हो जाती है।

'होली की मिठाई' डा० प्रेमचंद गोस्वामी का ऐसा हास्य-एकांकी है, जिसमें पहलवान पकौड़ीमल मुन्नू के बिछाए जाल में फँस जाता है। बच्चों से कभी भी होली न खेलकर उन पर रोब झाड़नेवाले पकौड़ीमल पर मुन्नू की बनावटी आवाज़ का ऐसा असर होता है कि वे उसे भगवान का असली आदेश मान बैठते हैं। एकांकी के अंत में जब रहस्य खुलता है तो पहलवान गिरता-पड़ता हुआ बच्चों के पीछे भागता है और बच्चे उसका मज़ाक बनाते हुए हुड़दंग करते हैं।

'ट्यूशन' हरिश्चंद्र पाठक का हँसा-हँसाकर लोटपोट कर देनेवाला एकांकी है, जिसमें बंटी मास्टर साहब द्वारा सिखाए गए स्वर-व्यंजन की न केवल अपने ढंग से व्याख्या करता है अपितु अँग्रेज़ी की 'स्पेलिंग' की भी टाँग खींचने से बाज नहीं आता है। एकांकी के अंत में बंटी और मास्टर साहब का संवाद मनोरंजक है—

मास्टर साहब : यह किसने सिखाया?

बंटी : बी आर ओ टी एच ई आर—ब्रदर ने।

मास्टर साहब : कहाँ है वह?

बंटी : एम ए आर के ई टी—मार्केट गया है।

मास्टर साहब : मगर तुम्हें यह क्या हो गया है?

बंटी : एस पी ई एल एल आई एन जी—स्पेलिंग—सहित अँग्रेज़ी की जानकारी का शौक।

मास्टर साहब : क्यों?

बंटी : टी यू टी आई ओ एन—ट्यूशन पढ़ने से।

(बाल भारती : मई 1986 : पृ० 15)

घमंडीलाल अग्रवाल का हास्य-एकांकी 'चाचाजी का अतिथि सत्कार' एक लोककथा पर आधारित है, जिसमें कंजूस चाचाजी अनचाहे मेहमान बच्चों का सत्कार गंगाजल पिलाकर करते हैं— 'गंगाजल की तरह शुद्ध, ठीक है हमें नहीं लेना मलाई-वलाई। हम तो अपने मेहमानों को तीर्थराज प्रयाग का लाया हुआ गंगाजल ही पिलाएँगे।' (बाल भारती : मई 1992 : पृ० 43)

प्रेम भटनागर के हास्य बाल-एकांकी 'एक संसद यह भी' में सरकारी कामकाज की नीतियों का मज़ाक उड़ाया गया है। योजनागत निर्णयों के अभाव में फलते-फूलते भ्रष्टाचार के लिए शिक्षामंत्री के इस संवाद की एक झलक ही काफी है—

'मैं सदन को बताना चाहूँगा कि बस्ते का आकार छोटा करना राष्ट्रीय हित में नहीं है, क्योंकि इसका कपड़े के व्यवसाय पर सीधा प्रभाव पड़ेगा।' (बालहंस : 2 जून 1994, पृ० 22)

इसी प्रकार विद्यालय में ठेके पर कैंटीन चलानेवाले घोंचूमल का मिलावटी और बासी सामान बेचना राष्ट्रीय मुद्दे से जुड़ जाता है। इसे खाद्य-मंत्री का क़ानून-व्यवस्था से जोड़ना

कितना हास्यास्पद है— 'ठेके की समाप्ति बेकारी की एक समस्या बढ़ जाएगी। दूसरा यदि घोंचूमल बाज़ार में ठेला लगाते हैं तो उनके बासी समोसे, पकौड़े और चाट उलट दिए जाएँगे, जिससे राष्ट्रीय संपत्ति का नुकसान होगा। तीसरा बासी सामान बेचने से मारपीट की नौबत आने से कानून और व्यवस्था की नई समस्या अलग से पैदा होगी।' (बालहंस : 2 जून 1994, पृ० 25)

डा० सत्य जायसवाल का एकांकी 'भुलक्कड़' शीर्षक से ही स्पष्ट है कि यह भूलने की घटना पर आधारित है। रामू पापा के लिए लिखा पोस्टकार्ड लैटर बाक्स में डालकर, अपना जूता तथा एक रुपए का सिक्का मोची को देकर भूल जाता है। विद्यालय में रामू का हंगामा प्रधानाचार्य को हैरत में डाल देता है। तभी डाकिया रामू का पत्र और मोची जूता लेकर उपस्थित होते हैं। इसी के साथ ही बड़ी जोर का ठहाका गूँजता है और प्राचार्य-सहित सभी के चेहरों पर हँसी की लहर दौड़ जाती है।

शेषनाथ मिश्र के हास्य बाल-एकांकी 'लाख रोग की एक दवा' में भोले-भाले बच्चों को ठगनेवाले गुरु के पास सभी बीमारियों का इलाज था। बच्चों की लंबाई बढ़ाने का, आँखों से चश्मा उतारने का, मोटापा कम करने का परंतु मुँहों को बड़ा करने का इलाज उसके पास नहीं था। इसी कारण उसे हवालात की सैर करनी पड़ी। ऐसे एकांकी जागरूकता अभियान की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी हैं।

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में बाल-नाटकों को लेकर फिर से चिंतन की शुरुआत हुई है। इसी कालखंड में प्रकाशित डा० गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा लिखित 'बच्चों के हास्य-नाटक' पुस्तक में कुल 16 नाटक संकलित किए गए हैं। इनके शीर्षक हैं— 'आधा सेर रबड़ी', 'एक चोरी ऐसी भी', 'मैं धनकलाल हूँ, धनकू नहीं', 'अति की भली न तोंदवा', 'यमराज की भूल', 'चुटकुला प्रतियोगिता', 'मक्खीमार से वार्तालाप', 'रिश्वतफंड', 'किस्सा एक अपराधी का', 'जीवन का प्रमाण', 'ठलुए कवि', 'दूधियों से इंटरव्यू', 'दो ठग', 'आग का तमाशा', 'मुंडन' तथा 'हाँ, मैं चौकीदार हूँ'।

बकौल नाटककार इन नाटकों का मूल मंतव्य है— 'विद्यालयों में प्रतिवर्ष सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं। इन अवसरों पर बच्चे नाटकों का भी अभिनय करते हैं, तब बच्चों की भाषा में लिखे गए सरल नाटकों की खोज होती है। ये हास्यनाटक विशेष रूप से विद्यालयों में पढ़नेवाले बच्चों को ध्यान में रखकर लिखे गए हैं। ये सरल भी हैं और मनोरंजक भी।'

'आधा सेर रबड़ी' नाटक में मुख्य प्रबंधक, रसोइया, कम्मो, निरीक्षक सब मिलकर रंगीले शाह को मूर्ख बनाते हैं तथा सारी रबड़ी चट कर जाते हैं। इसमें सही अर्थों में नाटककार ने यह बताया है कि जब राजा सो जाता है तो कोतवाल भ्रष्ट हो जाता है तथा मालिक के बेखबर होने पर बाड़ खेत को खाने लगती है।

'एक चोरी ऐसी भी' नाटक में चोर अपनी मूर्खता के कारण पकड़ा जाता है। 'मैं धनकलाल हूँ, धनकू नहीं' नाटक जहाँ नौकरों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाता है, वहीं उनकी जीवनशैली का जीवंत चित्र भी प्रस्तुत करता है। 'यमराज की भूल' नाटक में हास्य कम शिक्षा अधिक है। यमराज द्वारा व्यक्ति को दी गई तीनों नोटिस नाटक की असली जान हैं। 'चुटकुला प्रतियोगिता' बच्चों का स्वस्थ मनोरंजन करता है। 'मक्खीमार से वार्तालाप' सामान्य

नाटक है, जबकि 'रिश्वतफंड' में पूरी शारीरिक संरचना का बड़े कौशल से विवेचन किया गया है।

'जीवन का प्रमाण' एकांकी पढ़ते हुए हरिशंकर परसाई की कहानी 'भोलाराम का जीव' याद आ गई। यह एकांकी प्रशासनिक व्यवस्था पर करारा व्यंग्य है। 'ठलुए कवि' नाटक का उद्देश्य यह है कि खाली दिमाग़ शैतान का घर होता है, इसलिए व्यक्ति को कभी खाली नहीं बैठना चाहिए। 'दूधियों से इंटरव्यू' नाटक में इस बात का खुलासा किया गया है कि दूधवाले कहीं-न-कहीं मालिक की जेब पर डाका अवश्य डालते हैं— कहीं पानी मिलाकर, कहीं कम तौलकर, कहीं यूरिया मिलाकर, कहीं पंचमेल दूध बनाकर।

'दो ठग' नाटक में दोनों ठग एक-दूसरे को बेवकूफ़ बनाकर पहले तो खूब प्रसन्न होते हैं, बाद में दोनों को जेल की हवा खानी पड़ती है। 'आग का तमाशा' नाटक हास्य का बेहतरीन उदाहरण है। बच्चे इसे मंच पर आसानी से अभिनीत कर सकते हैं तथा दर्शक भी हँसते-हँसते लोटपोट हो जाएँगे। 'मुंडन' राजनीतिक व्यवस्था की पोल खोलता हुआ एक सफल नाटक है। अंतिम नाटक हॉ, 'मैं चौकीदार हूँ' में चौकीदार झंडासिंह की असलियत जब सामने आती है तो खाँ साहब ठगे रह जाते हैं। उन्हें चौकीदार की लाठी और कुर्ता का मतलब साफ़-साफ़ समझ में आने लगता है।

सन् 1999 में डा० रोहिताश्व अस्थाना के संपादन में 'चुने हुए बाल एकांकी' शीर्षक से दो भागों में 59 एकांकियों का संग्रह प्रकाशित हुआ। लेखकों के अकारादि क्रम से प्रकाशित इस संग्रह में कई हास्य बाल-एकांकी संकलित किए गए हैं— 'फलों की चौपाल' (अखिलेश श्रीवास्तव 'चमन') 'फुकनुस गोज टु स्कूल' (के०पी० सक्सेना) 'सेहत का नुस्खा' (घमंडीलाल अग्रवाल) 'फिर इंस्पेक्टर साहब मुआयना करने आए' (नारायण भक्त) 'दाँतों की चोरी' (नारायणलाल परमार)। रंगमंच की दृष्टि से ये सभी एकांकी मंच पर आसानी से खेले जा सकते हैं।

सन् 2003 में 'तीस बाल नाटक' शीर्षक से जाकिर अली 'रजनीश' के संपादन में प्रकाशित संग्रह के दस नाटक पूर्व प्रकाशित संग्रहों 'बच्चों के सौ नाटक', 'चुने हुए बाल एकांकी', 'प्रतिनिधि बाल-नाटक' से लिए गए हैं। मात्र संख्या बढ़ाने के लिए संपादक ने इन नाटकों का इस्तेमाल किया है। अच्छा होता कि संपादक ने पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे हुए बाल-नाटकों को खोजने का प्रयास किया होता। उन्हीं नाटकों को बार-बार संकलित करने से इस बात को बल मिलता है कि हिंदी में बाल-नाटक हैं ही नहीं।

हाल ही में जो अच्छे हास्य बाल-नाटक प्रकाशित हुए हैं, उनमें 'पहलवान की खाट' (ऋषिमोहन श्रीवास्तव) 'धूर्ताचार्य का औषधालय' (अखिलेश श्रीवास्तव 'चमन') 'सोने का मकान' (राधेलाल 'नवचक्र') 'नीम हकीम' (योगेशचंद्र शर्मा) 'मेरी भी सुनिए' (मौहम्मद फहीम) 'सेर को सवा सेर' (डा० हरीश निगम) आदि उल्लेखनीय हैं।

हास्य बाल-नाटकों के इस पूरे परिदृश्य को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कमोबेश बच्चों के लिए हास्य-नाटक लिखे तो गए हैं, परंतु उन्हें संकलित/संपादित करके सामने लाने का प्रयास कम हुआ है। 'पराग', 'मेला', 'बाल-मेला', 'बालहंस', 'धर्मयुग', 'हिंदुस्तान' की पुरानी फाइलों में अच्छे हास्य-एकांकी जरूर मिलेंगे।

मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि आज हास्य बाल-नाटक बहुत कम लिखे जा रहे हैं। इसके लिए लेखक के साथ पत्र-पत्रिकाएँ भी समान रूप से दोषी हैं। 'बालहंस', 'वाटिका' को छोड़कर कोई भी बाल-पत्रिका ऐसी नहीं है, जो बाल-नाटक प्रकाशित करती हो। बड़ों की पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाले बाल-स्तंभ बिल्कुल समाप्त हो गए हैं। एकाध को छोड़कर समाचारपत्रों ने बाल-साहित्य ही छापना बंद कर दिया है आज हास्य बाल-नाटकों की बड़ी आवश्यकता है। आज जब बाल-पत्रिकाओं का अकाल है, ऐसे में बाल-साहित्यकारों की जिम्मेदारी ज्यादा बढ़ जाती है कि वे संकलनों के माध्यम से ही बाल-नाटकों का सृजन करें। निदा फ़ाजली के स्वर में स्वर मिलाते हुए मैं भी कहना चाहता हूँ—

घर से मस्जिद है बहुत दूर चलो यों कर लें।
किसी रोते हुए बच्चे को हँसाया जाए।

संदर्भ ग्रंथ

1. बच्चों के सौ नाटक, सं० डा० हरिकृष्ण देवसरे, शकुन प्रकाशन, नई दिल्ली
2. बाल-साहित्य, रचना और समीक्षा, डा० हरिकृष्ण देवसरे, शकुन प्रकाशन, नई दिल्ली
3. आधुनिक हिंदी में बाल-साहित्य का विकास, डा० विजयलक्ष्मी सिन्हा, साहित्यवाणी प्रकाशन, इलाहाबाद
4. चुने हुए बाल-एकांकी (दो भाग), सं० डा० रोहिताश्व अस्थाना, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
5. प्रतिनिधि बाल नाटक, सं० डा० हरिकृष्ण देवसरे, उ०प्र० हिंदी संस्थान, लखनऊ
6. तीस बाल नाटक, सं० जाकिर अली 'रजनीश', यश पब्लिकेशंस, मुंबई
7. बच्चों के हास्य नाटक, डा० गिरिराजशरण अग्रवाल, हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर, उ०प्र०
8. हिंदी बाल-साहित्य, परंपरा और प्रयोग, सं० डा० ओम्प्रकाश सिंहल, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली
9. हिंदी बाल-साहित्य, विविध परिदृश्य, डा० सुरेंद्र विक्रम, अनुभूति प्रकाशन, इलाहाबाद
10. समकालीन बाल-साहित्य, परख और पहचान, डा० सुरेंद्र विक्रम, लहर प्रकाशन, इलाहाबाद पत्र-पत्रिकाएँ :
'बालभारती', 'पराग', 'बालहंस', 'बालमेला', 'बालवाटिका', 'मेला', 'बालदर्शन' आदि।

□ सी-1245, एम०आई०जी०
राजाजीपुरम्, लखनऊ (उ०प्र०)

जन-जनक-जानकी

नलिनकांत उपमन्यु

शोध छात्र

डा० राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद

यह कृति 'एक असाधारण यात्रा-वृतांत' है, उस यात्रा का जो 'वत्सलनिधि' के तत्त्वावधान में आयोजित एवं संपादित की गई थी। 'वत्सलनिधि' के न्यासी डा० कर्णसिंह के अनुसार, 'जन जनक जानकी' एक असाधारण पुस्तक है। यात्रा की परंपरा भारत में अत्यंत प्राचीनकाल से चली आती है और देशाटन को कवि की शिक्षा का भी अनिवार्य अंग माना जाता रहा है। पर 'जन, जनक, जानकी' जिस 'जानकी जीवनयात्रा' की स्मारिका है, न तो वह यात्रा पारंपरिक तीर्थ-यात्रा की परिधि में रखी जा सकती है, न ही जो साहित्यसर्जक और कलाकार उसमें सम्मिलित हुए, उनका प्रशिक्षण ही उसका उद्देश्य था। निःसंदेह सभी ने यात्रा में और यात्रा से सीखा और जाना बहुत-कुछ, निःसंदेह इस अनुभव और ज्ञान का प्रभाव उनके रचनाकर्म पर भी होगा और इस प्रकार उस समाज तक पहुँचेगा, जिस तक पहुँचना कवि-कर्म का एक लक्ष्य होता है। लेकिन 'जानकी-जीवन-यात्रा' इस अर्थ में भी एक असाधारण यात्रा थी कि यात्रा के उद्देश्य की खोज भी यात्रा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य था।¹ इस यात्रा के संबंध में कृति-संपादक 'अज्ञेय' जी का उद्देश्य एवं अभिमत ध्यातव्य एवं रेखांकनीय है, 'हमने रामकथा का आधार इसलिए अपनाया कि इस कथा से साक्षर और निरक्षर सब परिचित हैं। यह युग अनास्था का है, लेकिन इसमें हम अपने को आस्था के साथ जोड़ते हैं। मैं अपने को यायावर मानता हूँ, लेकिन केवल भटकनेवाला नहीं। नर और नारायण के दुःख को समझने का प्रयास करता हूँ।'²

'हम न तो रामकथा-संबंधित स्थलों की ऐतिहासिकता जाँचने चले हैं, न भक्तों की तरह तीर्थयात्रा करने और न ही पर्यटकों की तरह रम्य स्थलियों का आनंद लेने। हम इन स्थलों से अपने को जोड़कर कुछ नया सर्जन करने निकले हैं। वह सर्जन क्या होगा, कैसा होगा— यह सब उसी राम की प्रेरणा पर निर्भर है।'³

'साहित्यकारों का यह दल कुछ टटोलने जा रहा है— जो समग्र और स्थायी है, पूरा और आख्यानमय है, वस्तु और शिल्प है, कथ्य और तथ्य है और इस यात्रा की सबसे बड़ी उपलब्धि होगी— एक सहरचना जो समग्रता के साथ होगी।'⁴

'ऐसी खोज समकालीन साहित्यकार के लिए कई नई-नई चुनौतियाँ प्रस्तुत करेगी, अपने वास्तविक पाठक अथवा ग्रहीता-समाज से उसका नया साक्षात्कार कराएगी, कदाचित् रामायण के संदर्भ उघाड़ती हुई पुराण-वस्तु को फिर एक नई प्राणवत्ता के साथ हमारे जीवन में उतारेगी।'⁵

इस यात्रा के शुभारंभ के पूर्व अज्ञेय जी ने स्थानीय पत्रकारों एवं बुद्धिजीवियों से अनौपचारिक बातचीत करते हुए घोषणा की कि, 'आज भी राष्ट्र और मनुष्यमात्र की भावनात्मक एकता को शाश्वत सांस्कृतिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने के लिए महाकाव्य-चेतना की अंतर्निहित शक्ति की पुनः खोज करनी पड़ेगी। 'सियराममय पथ पर' अग्रसर होने का सामूहिक संकल्प इसी दिशा में प्रगति का एक विनम्र प्रयास है।' ⁶

यह 'जानकी जीवन-यात्रा' सीता की जन्मभूमि सीतामढ़ी से शुरू होकर पुनौरा, सीता की स्वयंवर भूमि जनकपुर, निर्वासन-भूमि वाल्मीकिनगर, रामजन्मभूमि अयोध्या, भरतसाधना-भूमि नंदिग्राम केवटभूमि शृंगवेरपुर, भारद्वाज भूमि प्रयाग प्रयाग होती हुई ऋषि-भूमि चित्रकूट में समाप्त हुई थी। लेकिन मात्रा के पड़ाव में इतने ही स्थल नहीं थे। यात्रा-मार्ग में पड़ने वाली महावीर की जन्मभूमि वैशाली, गौतम की जन्मभूमि लुंबिनी, बुद्ध की निर्वाणभूमि कुशीनगर (अज्ञेयजी की जन्मभूमि और बुद्ध की निर्वाणभूमि एक ही है- 'कुशीनगर'), गोरखनाथ की साधनाभूमि गोरखपुर, कबीर की मृत्युभूमि मगहर, तुलसी की भूमि राजापुर भी विश्राम एवं पड़ाव-स्थल बने।

यह यात्रा 'वत्सलनिधि' के संस्थापक अज्ञेयजी की योजना, सहमति एवं भावभावना के आधार पर की गई थी। एक तरह से यह एक साहित्यिक यात्रा थी बल्कि यह कहें कि 'साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक परिवेश में परिभ्रमण का अभिनव प्रयोग और प्रयास था। देश में शायद इससे पहले कभी भी एक साथ इतने साहित्यकारों, कलाकारों का दल इस प्रकार इतनी बड़ी यात्रा पर नहीं निकला था।' ⁷

इसी साहित्य-यात्रा की स्मारिका है: 'जन जनक जानकी' कृति, जिसका संपादन 'अज्ञेय' जी ने किया है। इस यात्रा में अज्ञेय जी के साथ सत्रह साहित्यकार- जितेंद्रसिंह, बुद्धिनाथ मिश्र, इला डालमिया, गिरिराज किशोर, देवकुमार मिश्र, शंकरदयाल सिंह, भगवतीशरण सिंह, लक्ष्मीकांत वर्मा, अमृतलाल नागर, नरेश मेहता, विद्यानिवास मिश्र, रामकमल राय, रामस्वरूप चतुर्वेदी, उषाकिरण खान तथा विद्याबिंदु सिंह- और दो अन्य कलाकार रणवीर सिंह विष्ट तथा ओमप्रकाश शर्मा- सम्मिलित हुए थे। नरेश मेहता और डा० विद्यानिवास मिश्र अयोध्या से तथा डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी एवं डा० रामकमल राय यात्रा के द्वितीय चरण में प्रयाग से सम्मिलित हुए थे। 'जहाँ साहित्यकारों में कुछ ऐसे थे जिनकी कुछ अन्य कलाओं में भी रुचि और कुछ गति थी, वहाँ दोनों कलाकार भी साहित्य में रुचि और गति रखनेवाले थे।'

यह यात्रा दो चरणों में संपन्न हुई थी। प्रथम चरण में 23 जनवरी से 5 फरवरी तक (सीतामढ़ी से वाल्मीकिनगर तक या यह कहें पटना से लेकर मगहर तक) तथा द्वितीय चरण में 11 मार्च तक (अयोध्या से लेकर चित्रकूट तक); 22 जनवरी, 1983 ई० को संपूर्ण यात्री दल पटना में इकट्ठा हुआ था। 23 जनवरी को यात्री-दल पटना से गंगा पार करते हुए वैशाली होकर सीतामढ़ी पहुँचा और वहीं से 24 जनवरी को यह साहित्यिक एवं अविस्मरणीय यात्रा शुरू हुई। 23 जनवरी को पटना से प्रस्थान करते समय श्री गंगाशरण सिंह ने सबको तिलक लगाकर यात्रा की मंगलमय कामना के साथ जो आशीर्वचन दिया, वह इस प्रकार है:

'यह यात्रा भारतीय सांस्कृतिक क्षेत्र में एक अभूतपूर्व और स्तुत्य प्रयास है। मुझे विश्वास है कि यह यात्रा भारतीय साहित्यिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में एक नई परंपरा, नई प्रेरणा

प्रदान कर आज के नीरस जनजीवन को अधिक सरस, अधिक जीवंत और प्राणमय बनाने में समर्थ होगी। यह प्रयास अनुकरणीय और प्रशंसनीय है, मैं आदरणीय अज्ञेयजी के प्रति नतमस्तक हूँ कि उन्होंने इसकी कल्पना कर इसे आकार प्रदान किया। अस्वस्थता के चलते मैं इस यात्रा में सम्मिलित नहीं हो सका यह दुःख और पश्चाताप बराबर बना रहेगा। सभी यात्रियों के प्रति सादर नमन के साथ मैं उन्हें इस यात्रा के शुभारंभ में मुझे यह अवसर देने के लिए आभार प्रकट करता हूँ। यह यात्रा सभी तरह से सफल हो यह मेरी हार्दिक कामना और प्रार्थना है।⁸

प्रथम चरण में यात्री-दल ने सीतगढ़ी से शुरू करके जनकपुर, रक्सौल, मोतीहारी (पश्चिमी चंपारण), बेतिया (पूर्वी चंपारण), बगहा, वाल्मीकिनगर, कुशीनगर, गोरखपुर, मगहर तथा इनके आस-पास के स्थलों का भ्रमण करते हुए अयोध्या तक की यात्रा पूरी की। द्वितीय चरण में अयोध्या से शुरू करके नदिग्राम (भरतकुंड), कालाकाँकर, शृंगवेरपुर, कड़ा (मानिकपुर), प्रयाग तथा इनके आसपास के स्थानों का परिभ्रमण करते हुए यात्रीदल की यह यात्रा चित्रकूट में समाप्त हुई। यात्रा में उपस्थित जितेंद्र सिंह इस 'सीयराममय यात्रा' पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि :

'अज्ञेय द्वारा 'वत्सलनिधि' की ओर से कल्पित और सुनियोजित 'सीयराममय पथ पर' साहित्य-सर्जकों की यह 'जानकी-जीवन-यात्रा' साहित्य-संस्कृति की सार्थक परंपरा से जुड़ने की प्रासंगिकता तथा नित नई राहों के अन्वेषी चिंतकों और रचनाकारों के व्यक्तित्व को रेखांकित करती है। इसीलिए देश-विदेश में भारतीय साहित्य और संस्कृति की रचनात्मक शोध-प्रक्रिया में रुचि रखनेवाले सभी मनीषियों ने इस अभूतपूर्व मानव-यात्रा की कल्पना और संभावनाओं का बड़ी ललक से स्वागत-अभिनंदन किया।'⁹

इस यात्रा की पूर्णाहुति के रूप में 'पुस्तक-प्रकाशन' की योजना भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। 'जानकी-जीवन यात्रा' जहाँ आरंभ से ही स्वयं अपने रूप को और अपने लक्ष्यों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करती रही, वहीं उसके दौरान लगातार इस प्रश्न पर भी विचार होता रहा कि ऐसी यात्रा में से क्या ऐसी कोई पुस्तक भी निकल सकती है, जिसमें सबका रचनात्मक योगदान हो।'¹⁰

शंकरदयाल सिंह को विश्वास है कि, 'यात्रा-पथ पर ये यात्री निकल पड़े हैं, अर्हर्निश एक ऐसी टोली, जिसमें 'अरे यायावर रहेगा याद' की मधुरिमा है, 'वार उतरि कहँ जइहों' की मेखला है, 'यह पथ बंधुआ' की उतावली है, 'कहीं सुबह कहीं शाम' की भटकन है, 'वन-पाहुन' की जिजीविषा है, कविता की स्वच्छंद प्रपद्यात्मक शैली बंध से लेकर समीक्षा, छवि और कुतूहल का अनुराग है।

जीवन की समग्रता को समेटने की नियति-गति को बाहुपाश में जकड़ने के लिए 'जानकी जीवन-यात्रा के पथिक 'छितवन की छाँह' बने कदम बढ़ा चुके हैं, जिसकी तरंगायित छवि आप तक अवश्य पहुँचेगी।'¹¹

यहाँ जितेंद्र सिंह का यह मानना भी बिलकुल सही-सटीक है कि:

'अनिवार्यतः जिस स्वतःस्फूर्त प्रेरणा से लक्ष्मीकांत वर्मा-जैसे नई कविता के समर्थ सर्जक और समीक्षक, गिरिराज किशोर-जैसे प्रतिभाशाली कथाकार, देवकुमार मिश्र और प्रभाकर द्विवेदी जैसे यात्रागाथाशिल्पी, शंकरदयाल सिंह-जैसे तेजस्वी पत्रकार-लेखक, बुद्धि मिश्र-जैसे

सरस गीतकार और भाई ओमप्रकाश शर्मा जैसे विश्वविख्यात छायाकार, 'वत्सलनिधि के आमंत्रण पर सहज-स्नेह से 'जानकी जीवन-यात्रा' के सहयोगी के रूप में पाटलिपुत्र में एकत्र हुए, उसकी साहित्यिक निष्पत्ति भी निश्चय ही एक सद्भावपूर्ण सामूहिक संरचना में होनी चाहिए। हाँ प्रतिभाशाली रचनाकारों के निजी शिल्प-स्तवक में अपने-अपने रंग के कुसुम होंगे, जो सामूहिक संरचना को इंद्रधनुषी छवि प्रदान करेंगे।' ¹²

तो यह 'जन जनक जानकी' कृति उसी साहित्य-यात्रा की पुस्तकाकार उपलब्धि एवं 'तरंगायित छवि' है, जिसके लेखों में प्रतिभाशाली रचनाकारों के 'अपने-अपने रंग' भी हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि इस यात्रा और इस कृति दोनों का संपादन-संयोजन 'अज्ञेय' जी ने ही किया कि : कौन-कौन इस यात्रा-दल में शामिल होगा, कहाँ-कहाँ से होकर यात्री-दल गुजरेगा, यात्रा का उद्देश्य और स्वरूप क्या होगा और कौन सहयात्री किस विषय पर लिखेगा। यह बात लक्ष्मीकांत वर्मा तथा बुद्धिनाथ मिश्र की निम्नलिखित पंक्तियों से प्रमाणित है :

'यात्रा के दौरान संपादक ने शायद मेरी इस मनःस्थिति को भाँप लिया था, इसलिए मुझ जैसे सगुण उपासक को कबीर और मगहर जैसे निर्गुण विषय को दिया।' ¹³ (लक्ष्मीकांत वर्मा)। ...

'क्या अज्ञेय जी की आकल्पना के अनुसार सामूहिक रूप से ग्रंथ लिखा जा सकेगा? प्रस्तावित ग्रंथ का स्वरूप क्या होगा? वह उपन्यास होगा या यात्रावृत्तांत या कुछ और? वस्तुतः अज्ञेय जी की योजना अभी तक सहयोगियों के समक्ष स्पष्ट नहीं हो पाई थी।' ¹⁴ (बुद्धिनाथ मिश्र)

23 जनवरी, 1983 को यात्री-दल पटना से लालगंज, वैशाली होते हुए सीतामढ़ी पहुँचा था। इस इतनी दूर की यात्रा का वृत्त जितेंद्रसिंह ने 'सीयराममय यात्रा : पूर्वरंग' शीर्षक से लिपिबद्ध किया है। यहाँ तक की यात्रा में जो बिंदु उभरे उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं: पटना से चलने के बाद यात्रियों का 'प्रथम सारस्वत पड़ाव' शारदा सदन लालगंज था। लालगंज का यह विशाल शारदा-सदन अपने देश के ग्रामीण अंचलों में, आधुनिक पुस्तकालयों में अग्रणी पुस्तकालय एवं वाचनालय के रूप में प्रतिष्ठित है। सन् 1914 में स्थापित 'हिंदू हितैषिणी सभा' के अभिन्न अंग के रूप में संचालित शारदा-सदन पुस्तकालय में पुस्तकों की संख्या 1980-81 में ही चौंसठ हजार तीन सौ अट्ठावन हो गई थी, जिनमें सत्तावन हजार से भी अधिक पुस्तकें राष्ट्रभाषा हिंदी में थीं। भला ऐसे प्रतिष्ठित सारस्वत पुस्तकालय (मंदिर) में कृति अज्ञेय और उनका यात्रीदल कैसे न रुकता? 'तथागत की साधना-भूमि और वर्द्धमान महावीर की जन्मभूमि वैशाली के परिपार्श्व में विद्वत्-पूजा के प्रतीक रूप में, वैशाली जनपद के प्राचीन इतिहास के अधिकारी-विद्वान और पटना विश्वविद्यालय के भूतपूर्व अध्यक्ष डा० योगेंद्र मिश्रा ने आदरणीय अज्ञेय को तीरभुक्ति की विस्मृत राजधानी श्वेतपुर की खोज पर आधारित अपना बहुचर्चित नया शोध-ग्रंथ समर्पित किया। भेंट देनेवाले दोनों विद्वानों की विनम्रता देखते ही बनती थी।'¹⁵ इतिहासज्ञ और पुरातत्ववेत्ता पिता की संतान एवं खंडहर खुदाई-शिविर में जनमें अज्ञेय जी से अधिक भेंट-सम्मान का पात्र ही भला कौन हो सकता था? लालगंज में ही अवधबिहारी सिंह महाविद्यालय में यात्री-दल का स्वागत-समारोह आयोजित था। वहाँ 'प्रायः मौन रहनेवाले अज्ञेय ने सहज नम्र उल्लास से तथागत की करुणा और आंबपाली के चरम त्याग की पावन धरती पर

उच्चतम बौद्धभाव से प्रेरित अपनी एक अमर रचना 'सम्राज्ञी का नैवेद्यदान' स्वयं आग्रहपूर्वक सुनाई।'¹⁶ उस परिवेश और उस भूमि पर 'अज्ञेय' जी की इससे अधिक अच्छी, सामयिक एवं भावसंपन्न भला और कौनसी रचना हो सकती थी? वहाँ महाविद्यालय-प्रांगण में अज्ञेय और उनके सहयात्रियों ने 'सीताशोक' के बिरवे भी लगाए, जो पल्लवित होकर भविष्य में भी वैशाली जनपद के लोकमानस में 'जानकी-जीवन यात्रा' की स्मृति को जगाए रखेंगे।'¹⁷ महाविद्यालय की स्वागत-सभा में आयोजकों के प्रति विनम्र आभार व्यक्त करते हुए सहयात्रियों की तरफ से लक्ष्मीकांत वर्मा ने जो उद्गार व्यक्त किया, वह भी कम महत्पूर्ण नहीं है।

'बड़े भाई अज्ञेय जी की आजीवन यायावरी वृत्ति हमें भी यहाँ खींच लाई, नई अनुभूतियों की तलाश में। तथागत और आंबपाली के आध्यात्मिक साक्षात्कार की इस सुरभि-पावन भूमि से हमारी दृष्टि आगे टिकी है- सीतामढ़ी पर, जहाँ से हमारी 'जानकी-जीवन यात्रा' विधिवत् शुरू होगी। हमें देखना, जानना और जगाना है उस सीता-शक्ति को जिसने हजारों साल तक सारे देश को एक सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बाँधे रखा। आखिर, राम-सीता की कथा में कौनसे सूक्ष्म तत्त्व हैं, जिनसे पूरे देश को बाँध रखनेवाली युगांतकारी लोकशक्ति का उदय हुआ? संभवतः मानस-रचनाकार तुलसीदास इसी मूल्यगत तलाश में इस सुरम्य ग्राम्य प्रांतर में भटके हों।'¹⁸ लालगंज से चलकर यात्रीदल वैशाली पहुँचा और वहाँ 'अभिषेक पुष्करिणी' से उत्तरपूर्व की ओर थोड़ी दूर पर अवस्थित 'बुद्धस्तूप' की परिक्रमा और कोल्हुआ के ऐतिहासिक अशोक-स्तंभ तथा उसके आसपास के शांत-मनोरम वातावरण का सम्यक् परिदर्शन करते हुए वैशाली की सांध्यकालीन शिव-आरती में सम्मिलित होने के उपरांत अज्ञेय के 'सीय राममय पथ' के शिल्पी-सहयात्रियों का दल सीतामढ़ी की ओर प्रस्थित हुआ। सीतामढ़ी की बाहरी सीमा पर स्थित विश्रामगृह में ही रात्रिनिवास की योजना थी। इस तरह 'सीय राममय पथ पर' यात्रा की पूर्व संध्या यानी 23 जनवरी की शाम महावीर वर्द्धमान की जन्मभूमि तथा लिच्छवी-नरेशों की कर्मभूमि वैशाली के जीर्णशीर्ण किंतु देदीप्यमान् अवशेषों में संस्कृत के रजतकणों को चुनते-बटोरते तथा साहित्यानुरागियों के सात्विक स्वागत-सत्कार को कृतज्ञतापूर्वक अंगीकार करते और सँभालते बीती। अज्ञेय का उस क्षेत्र में जाना वहाँ की जागरूक जनता के लिए एक ऐतिहासिक घटना थी। हर जगह पर हर व्यक्ति यही चाहता था कि इस युगस्रष्टा कवि को भर आँख देखें और भरपूर सुनें।'¹⁹

24 जनवरी की सुबह, फिर भी दस बजे ताकि पूरा दल आगे की यात्रा सीतामढ़ी-भ्रमण के लिए प्रस्थान-तत्पर हुआ। सीतामढ़ी के यात्रा-विवरण को बुद्धिनाथ मिश्र ने 'एक दिन उर्विजा की जन्मभूमि पर' शीर्षक से भावबद्ध किया है। सीतामढ़ी के ऐतिहासिक गौरव, किंतु इस समय उसकी विपन्न-जर्जर स्थिति पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं कि : 'सीतामढ़ी को यदि सांस्कृतिक दृष्टि से देखा जाए तो इस धरती का सबसे बड़ा तीर्थ है, वह पवित्र स्थल, जहाँ आद्याशक्ति 'धरती की पुत्री' के रूप में प्रकट हुई थीं। इस उर्वी का सारस्वत रूप सीता है, जो एक संकल्प लेकर धरती से प्रस्फुटित हुई, राजा विदेह के हाथों पली, दाशरथी राम के साथ वन-वन भटकी, समर-विजयी राम के समक्ष जिसने पवित्रता की अग्नि-परीक्षा दी, फिर भी संशय का वातावरण बने रहने पर आदिकवि बाल्मीकि के वात्सल्य का संबल लेकर राम-कथा के भविष्य को सँवारा किंतु अज्ञेय जी, इला जी, शंकर भाई, वर्मा जी और शर्मा जी सभी

अपने-अपने दृष्टिकोण से वहाँ के सारे परिवेश को परखते रहे, मगर समुद्र-मंथन में अनंत की प्राप्ति का परितोष किसी चेहरे पर दिखाई नहीं पड़ा। ... इन रचनाकारों को उस मंदिर में (जानकी-मंदिर में) आकर्षण का ऐसा कोई केंद्र नहीं मिल पाया, जहाँ थोड़ी देर के लिए मन ठहर सके। 'वत्सल-निधि' की सचिव इला जी अपनी भावनाओं को रोक नहीं पाती हैं— 'यहाँ आकर तो बड़ी निराशा हुई। कुछ भी तो ऐसा हो, जहाँ आस्था टिके।' वास्तव में जो जितने ही अधिक कल्पनाशील थे, उन्हें सीतामढ़ी से उतनी ही निराशा हुई। तभी शंकरदयाल सिंह आशा का दीप जलाते हैं : 'यहाँ से लगभग आठ किलोमीटर दूर पुनौरा यानी पुण्यारण्य है, कुछ लोगों के मत से सीता का वास्तविक उद्भव-स्थल वही है। अब वहाँ चला जाए।' निर्जन प्रांतर में पुनौरा में नव-निर्मित भव्य मंदिर दूर से ही आकृष्ट करता है। मंदिर के पास टूटा-फूटा तालाब-बताया जाता है, राजा जनक को हल जोतते समय नवजात कन्या के रूप में सीता यहीं प्राप्त हुई थीं। मंदिर के महंत इस तालाब के जल से यात्रियों का अभिषेक कर सबको माला पहनाकर इस साहित्यिक-सांस्कृतिक अभियान के सफल होने की मंगलकामना करते हैं। और यहीं से अज्ञेय जी वास्तविक यात्रा प्रारंभ होने की घोषणा करते हैं। वहाँ यात्री साहित्यकारों को विधिवत् विदाई देने और यथार्थतः अज्ञेय जी को देखने-सुनने के लिए नगर के बुद्धिजीवियों, छात्रों और नागरिकों का एक बड़ा जमघट लग गया था। विदाई-समारोह में उपस्थित वक्ताओं ने इस यात्रा को 'ऐतिहासिक सांस्कृतिक घटना' करार दिया और यात्रा की सफलता की कामना के साथ यह इच्छा भी व्यक्त की कि प्रस्तावित ग्रंथ का प्रकाशन होने पर उसका लोकार्पण-समारोह सीतामढ़ी में ही हो। वहाँ किसी सहयात्री ने यह टिप्पणी की कि, 'सीतामढ़ी के बजाय यदि इस मंदिर में आते तो कहीं ज्यादा 'आत्मसाक्षात्कार' हुआ होता। इसके बाद आगे की यात्रा शुरू हुई—जनकपुर की ओर, जो उस दिन का अंतिम पड़ाव था। सीतामढ़ी पीछे छूट गई थी, किंतु यात्रीदल के अंतर्मन में साथ-साथ चल रही सीतामढ़ी कहीं ज्यादा महिमामंडित और देदीप्यमान थी। यह अनुभूति भी काफ़ी स्फूर्तिदायक थी कि 'जिस पुण्यभूमि से अभी-अभी हम गुजरे हैं, वहीं-कहीं जगजननी जानकी का जन्म हुआ था, बचपन बीता था।' ²⁰

25 और 26 तारीख़ की यात्रा-कथा जो जनकपुर से जुड़ी है, का रेखांकन सुश्री इला डालमिया ने 'सीतासमारोपितवामभागम्' शीर्षक से किया है। उन्हीं के शब्दों में : सीतामढ़ी और पुनौरा होते हुए हमारी टोली 24 जनवरी, 1983 को जनकपुर पहुँची। ²¹

'जनकपुर हिंदुस्तान और नेपाल की सीमा पर बसा हुआ एक छोटा शहर है। यहाँ जनक की लाड़ली सीता का 'महल' है, जिसका पुनरुद्धार ओरछा की रानी श्री वृषभानु कुँवरि ने नौ लाख रुपए लगाकर किया था— सो इसे 'नौलखा मंदिर' भी कहते हैं। महारानी ने अयोध्या में ठीक इसी तरह का एक और मंदिर बनवाया था, जो 'कनक-मंदिर' कहलाता है।' जनकपुर में 'राम मंदिर' और उससे कुछ दूर पर 'जनक मंदिर' भी है। किंतु 'राजा जनक के एक छोटे-से और उस पर भी उपेक्षित मंदिर को देखकर मन उचाट हो गया' स्थानीय लोगों से संपर्क में जो भाव उभर-उभरकर सामने आया, उससे लगा कि 'जनकपुरवासी सीता की व्यथा और उसके प्रति किए गए अन्याय को कभी भूल नहीं पाते।' फिर भी, जिस भी स्थानीय व्यक्ति से परिचय हुआ, उसने बड़े स्नेह से स्वागत किया, 'आप तो अपने ननिहाल आए हैं।... हाँ सीता के घर, माँ के पीहर आए हैं तो ननिहाल ही तो हुआ।'

‘25 जनवरी को जनकपुर से बारह मील दूर धनुषा गए। राम ने शिव-धनुष को ध्वस्त किया तो उसका एक हिस्सा यहाँ गिरा।’ वहाँ कोई बस्ती नहीं है। एक दीर्घकाय पीपल के नीचे टेढ़े आकार की एक बीस फुटी शिला है। इसको शिव-धनुष का अंग माना जाता है।

कई सारी स्मृतियाँ-कल्पनाएँ मन में उमड़ने-घुमड़ने लगती हैं। जगजननी सीता, कैसी है उनकी कथा, उनकी ट्रैजेडी के आगे तो सारी ट्रैजेडी फीकी पड़ जाती है।... उनके शुद्ध मानवीय रूप से नाता जोड़ती चली जाती हूँ।... बच्ची सीता, लाड़ली राजकुमारी, कोई मामूली राजकुमार जिसका ‘योग्यवर’ नहीं बन सकता, सुकुमारी वधू, अग्नि-परीक्षा, निर्वासिता अनाथ सीता, आत्मबलीसीता जो अकेले दम लव-कुश को पालती-पोसती है। ‘जनकपुर के वासी सीता को वापिस ले जाने को आए थे, पर वह नहीं गई। क्यों? क्योंकि परित्यक्ता बेटी पीहर वापिस नहीं जाती।—उसने कहा था। उसी मिथिला के लोकमानस में यह बात है तभी तो आज भी लोग मार्गशीर्ष में शादी-ब्याह नहीं करते। सीता और राम का विवाह इसी महीने में हुआ था न इसलिए। पश्चिम में, अवध में अपनी बेटी आज भी देना नहीं चाहते। मंगलगीतों में सीता का नाम तो बार-बार आता है, पर राम का नाम नहीं आता। आखिर में एक पंक्ति गाई जाएगी कि ‘ऐसी सीता का ब्याह रघुकुल में हुआ।’ सोच कहाँ-से-कहाँ ले जाता है। ‘जानकी पृथ्वी का रूप है, जो करुणा, सहिष्णुता और क्षमा की प्रतीक हैं। वह कल्याणी हैं, अनुग्रहशीला हैं, वात्सल्यमयी हैं। उनके असंख्य गुण हैं। सीता सरस्वती नदी के समान हैं, जो राम से लुप्त होकर, गुप्त रूप से राम के ही कार्य को आगे बढ़ाती हैं... उन्हीं के यश को अपना यश मानती हैं। सीता अलौकिक हैं। उनका जन्म भी मानवीय ढंग से नहीं हुआ। वह अयोनिजा हैं। उनकी मृत्यु भी नहीं होती— वह पृथ्वी में प्रवेश कर जाती हैं।’²² सीता की व्यथा-कथा में डूबा मन यात्रीदल के साथ जनकपुर की सीताभूमि से निकलकर पहुँच जाता है रक्सौल।

आगे, जनकपुर से बीरगंज एवं रक्सौल होते हुए मोतीहारी तक के भ्रमणवृत्त को गिरिराज किशोर ने ‘यात्रा और मानुष-सत्य’ के रूप में प्रस्तुत किया है। बीरगंज नेपाल की सीमा का अंतिम छोर तथा रक्सौल भारतीय सीमा का प्रस्थान-बिंदु। परंतु मानसिकता की दृष्टि से एक छोर से दूसरे छोर तक निर्बाध बहते हैं। बड़े मजे की बात है कि रक्सौल से लोग अपनी खरीददारी करने बीरगंज जाते हैं और बीरगंज के लोग रक्सौल की बाजारों में अपनी जरूरतें पूरी करते हैं। यह आयात-निर्यात देशों का नहीं, व्यक्तियों का व्यक्तिगत स्तर पर है। अपने-आप में यह बड़ा ही आत्मीय और मनोरंजनकारी अनुभव है। रक्सौल से आगे मोतीहारी का वृत्त-विवेचन करते हुए वे लिखते हैं : मोतीहारी एक हरा-भरा इलाका है। मोतीहारी की हरियाली देखकर यही लगता है कि वह धानी रंग संपूर्ण बिहार में फैला है और उसे समृद्ध बना रहा है।... वहाँ ‘साहित्य के प्रति जो समर्पण देखने को मिला, वह भी अपने-आपमें एक अनुभव ही था। एक ऐसा अनुभव जो आकर जाता नहीं।’ ‘दरअसल, मोतीहारी हमारे नए इतिहास का पहला पड़ाव है। बेतिया जाते हुए रास्ते में एक गाँव पड़ता है ‘तुरकौलिया’। तुरकौलिया चंपारण में स्थित नील की 22 कोठियों का मुख्यालय था। 1917 में यहीं से नील की खेती करनेवाले मजदूरों ने गांधी जी के नेतृत्व में देश की आजादी का सूत्रपात किया था। इस स्थल को देखकर कैसी अनुभूति होती है, बिना यहाँ जाए और उस स्थल को देखे, समझना कठिन है। वास्तव में इस मुल्क की आजादी चंपारण के उन खेतिहर-मजदूरों की कुर्बानी का ही प्रतिफल है। भारत में मजदूरों के

माध्यम से ब्रिटिश हुकूमत की जड़ें हिलानेवाले अकेले महात्मा गांधी ही नज़र आते हैं।... मोतीहारी और तुरकौलिया अपने-अपने हृदयों में उन निरीह और बेसहारा किसानों की कहानी-सँजोए है।’²³

तुरकौलिया से आगे अरेराज (अरेराज-महादेव) होते हुए बेतिया तक की यात्रा का वर्णन देवकुमार मिश्र ने ‘अरेराज-यात्रा’ शीर्षक के अंतर्गत किया है। बेतिया से लेकर आगे बगहा होते हुए वाल्मीकिनगर तक की सारस्वत-यात्रा को शंकरदयाल सिंह ने ‘एक गुदगुदी का व्यथागीत’ के रूप में उपस्थित किया है। शंकरदयाल सिंह के शब्दों में :

‘बेतिया पहुँचते ही अनौपचारिक स्नेह, सौहार्द, प्रेम और साहित्यिक अनुभूतियों ने हमें सदा-सदा के लिए अपना बना लिया। वहाँ की सम्मान-गोष्ठी और भव्य साहित्यिक आयोजन ने इस सत्य को प्रतिपादित किया कि समाज में आज साहित्यकार तथा कलाकार की मान्यता किसी अन्य से बढ़कर है। आवश्यकता इस बात की है कि साहित्यकार और कलाकार बड़े नगरों के मोह को छोड़कर गाँवों-कस्बों-मेड़ों-खेतों-खलिहानों की ओर मुड़ें। भला हो अज्ञेय जी का जिनके मन में यह बात आयी: उनकी पुकार पर हम निकल पड़े। एक सारस्वत-पथ पर जो लोकमानस के अधिक समीप है, जाना-पहचाना है तथा जिस पर कभी राम और सीता चले थे। अनजाने पथिक कभी-कभी पहचाने पथ का सहारा लेकर कहाँ-से-कहाँ चले जाते हैं।’

‘बेतिया यानी चंपारण और इसी बेतिया के पास यानी 50 मील के फ़ासले पर सोनहा, तमसा और नारायणी के तट पर बाल्मीकि का आश्रम है, जहाँ निर्वासिता सीता की याद मथनी के समान किसी भी भावुक पथिक को मथती है। देश के कई हिस्सों में अनेक बाल्मीकि-आश्रमों की मान्यता है, यह स्थल भी उनमें एक है। अज्ञेय जी कहते हैं, हमें स्थल की खोज नहीं करनी है और न अपनी मान्यता सिद्ध करनी है, हम मान लेते हैं कि ऐसा ही कोई स्थल रहा होगा, जहाँ सीता रही होंगी, बाल्मीकि का आश्रम रहा होगा, लव और कुश रहे होंगे, अश्वमेध का घोड़ा रोका गया होगा, आदि-आदि।’²⁴ ‘राम की कथा जो बार-बार अनेक रूपों में मिलती है, उसमें कुछ नई बात, नई खोज दे सकें तो यह यात्रा सफल मानी जाएगी।’²⁵

यहाँ से हम विदा हुए लौरिया-नंदनगढ़ होते हुए बगहा के लिए। ‘जानकी-जीवन-यात्रा’ के यात्री नंदनगढ़ स्थल पर आकर मोहित हुए बिना नहीं रहे। उसकी भव्यता का अंदाज़ इसी से लगता है कि यहाँ बारह हज़ार बौद्ध-भिक्षुओं के रहने-ठहरने की व्यवस्था थी और यहाँ का परिवेश, मजबूती, ऊँचाई सब पुरातात्विक दृष्टि से भी इसे उल्लेख्य बनाते हैं। अज्ञेय जी की पुरातत्त्वान्वेषी दृष्टि इसके चारों ओर मँडराती रही और हम सभी इसकी विशालता का बोध करते रहे।’ यह एक बार देख लेने पर सदा के लिए दृष्टि में धँस जाने की वस्तु है।

नंदनगढ़ :

और कहीं-न-कहीं जानकी जी की भी आत्मा इन क्षेत्रों में ज़रूर विचर रही होगी, क्योंकि यह सारा क्षेत्र जानकी-करुणा का क्षेत्र रहा है। तभी तो ‘मौन रहकर भी इस क्षेत्र ने विचित्र बदला लिया है- पौराणिक इतिहास से। हर जगह गाँव-कस्बे में ‘श्री जानकी-मंदिर’ हैं, जहाँ राम और लक्ष्मण जी भी जानकी जी के साथ हैं, लेकिन नामकरण सीता के नाम पर ही है। मानो कहीं-न-कहीं से सीता का दर्द टीस मार रहा है जन-भावना के रूप में- कि राम, तुमने तो हमारी सीता को वनवास में नंगे पाँवों घुमाया, रावण तुम्हारे पुरुषार्थ को चुनौती देकर उन्हें हर

कर ले गया और जगजननी जब अग्नि को साक्षी देकर आयीं तो उन्हें तुमने निर्वासित कर दिया। हमारी बेटी, हमारी बहन के साथ अयोध्या ने यही सलूक किया। लेकिन हम हैं जो अपनी मर्यादा का ख्याल रखते हैं। तभी, हे राम! मूर्ति हम तुम्हारी भी रखेंगे, पूजा भी करेंगे, लेकिन मंदिर का नामकरण जानकी के नाम पर करेंगे और इसीलिए पूरे क्षेत्र में 'श्री जानकी-मंदिर' भरे पड़े हैं।'²⁶

वहाँ से हम आगे बढ़े बगहा की ओर, जो पश्चिमी चंपारण का एक महत्वपूर्ण कस्बा है। 'बगहा के साहित्यकारों का उत्साह देखने योग्य था।... तभी तो जाड़े की ठिठुरती रात में सैकड़ों लोग बैठे हैं, मुग्ध हो रहे हैं, आँखों में हमें बैठा लेना चाहते हैं। जिन अज्ञेय का नाम ही सुनते रहे थे, वह आज मेरे आँगन में आए हैं, हमारा सौभाग्य बरबस जग गया है— यही बार-बार सभी कह रहे हैं।' और अब! बगहा की सीमा पार कर हम सरपट बाल्मीकिनगर की ओर दौड़ रहे हैं। बगहा से बाल्मीकिनगर : जगह-जगह बेंत के जंगल इस बात को द्योतित कर रहे हैं कि संभवतः इन बेंतों के कारण ही इस क्षेत्र का नाम बेटिया पड़ा। चिंता है कि कैसे इस जंगल को पार कर बाल्मीकिनगर पहुँचें और इधर अज्ञेय जी की साध है कि कैसे जगह-जगह रुककर प्रकृति के इस अप्रतिम भंडार को समेट लें। वह रह-रहकर, हमारे काफिले को किसी झरने के पास, किसी नाले के पास, किसी भयानक जंगल-खंड में रोकने का आदेश दे देते हैं। वह स्वयं तो लग जाते हैं फूलों-पत्तों-लतागुल्मों से समीकरण करने और यहाँ ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की साँस नीचे।' बार-बार याद आता है, मार्गदर्शक ²⁷ की यह भावुक चेतावनी: 'लेकिन आप लोग जरा जल्दी कीजिए। अब यह स्थान डाकुओं का अड्डा हो गया है... कई बार लोग पिकनिक मनाने आए हैं और लुटकर चले गए हैं। सारे जंगल-क्षेत्र पर उनका अधिकार है... जल्दी चलिए, नहीं तो यहाँ किसी वक्त भी कुछ भी हो सकता है।' ²⁸

और अब बाल्मीकिनगर :

'सीतामढ़ी से चित्रकूट तक जितनी भी जगहें हैं, उनमें बाल्मीकिनगर से मनोरम और लुभावन कोई जगह नहीं है, जिसे एक बार देखने के बाद कोई भूल ही नहीं सकता। मैंने कोई ग़लत बात नहीं कही है— सोनहा, नारायणी और तमसा की त्रिवेणी का ही नाम है बाल्मीकिनगर। लेकिन ये बातें गौण हैं। बाल्मीकिनगर सही अर्थ में एक करुण अवसान है, जहाँ निर्वासिता सीता का दर्द आज भी कहीं सिसकियों में, तो कहीं कलंक-बोधों में साक्षीगोपाल के समान झलक जाता है। चाहे कहीं से भी कोई यात्री यहाँ क्षण-भर के लिए भी आए, उसकी चेतना सीता, लव-कुश, महर्षि बाल्मीकि, अश्वमेध यज्ञ, सीता माता की रसोई आदि के वृत्त में कैद हो जाती है।'²⁹

यात्रा के बीच 'बाल्मीकिनगर' ही इस यात्रीदल का सबसे लंबा पड़ाव था। यात्रीदल 31 जनवरी को बाल्मीकिनगर पहुँचा था और 3 फरवरी को कुशीनगर के लिए रवाना हुआ था। इस बीच की अवधि में बाल्मीकिनगर में ही भ्रमण होता रहा। वहाँ की स्थिति-परिस्थिति से जुड़ी घटनाओं का चित्रण सच्चिदानंद वात्स्यायन ने 'बनाश्रम नगर' शीर्षक से प्रस्तुत किया है। उन्हीं के शब्दों में 'यह नहीं कि हमने इसे प्रमाणित मान लिया था कि बाल्मीकि ऋषि का आश्रम वहीं रहा होगा। ...जिस स्थल का नाम 'भैंसालोटन' से बदलकर नई बसाई के साथ-साथ 'बाल्मीकिनगर' कर दिया गया, वह प्राकृतिक दृष्टि से अब भी सुंदर और सुरम्य है, घने वन से

जुड़ा है, एक बड़ी और दो छोटी नदियों का त्रिवेणी-संगम है, अर्थात् ऐसा है कि वहाँ अब भी इस कल्पना पर प्रतीति हो सके कि महर्षि बाल्मीकि का आश्रम वहीं नहीं तो वैसी ही किसी जगह रहा होगा। फिर बाल्मीकिनगर में नारायणी (गंडक) में जो दो छोटी नदियाँ मिलती हैं, उनमें एक का नाम तमसा है और इसके किनारे मंदिरों, कुटीरों और यज्ञ-यूपों के ऐसे कई अवशेष मिले हैं, जिन्होंने इस अनुमान को एक दृश्य आधार दे दिया है कि आश्रम वहीं रहा होगा।... यहाँ का वन सचमुच वैसा था जैसा कि कल्पना बाल्मीकि-आश्रम के लिए हम सभी बचपन से ही करते आए थे। केवल बाल्मीकि आश्रम ही क्यों, ऋषियों के आश्रमों बारे में जितना भी ब्यौरा हमें उपनिषदों-आरण्यकों से मिलता, रामायण-महाभारत से, श्रीमद्भागवत अथवा अन्य पुराणों से और संस्कृत काव्यों-नाटकों से मिलता, सभी का संस्कार ऐसा था कि हम बाल्मीकिनगर के पक्ष में एक पूर्वग्रह की जकड़ में आ जाए। बाल्मीकिनगर में तीन-चार दिन रहकर बार-बार इस वनस्थली को और उन पुराखंडों को देखकर तथा वहाँ बसनेवाली वन-जाति के कुछ लोगों से मिलकर यह पूर्वग्रह और दृढ़ ही हुआ।' ...' थारू जाति के लोगों ने हमें बाल्मीकि-आश्रम का एक-एक ब्यौरा मानो आँखों-देखे हाल की तरह सुना दिया: कि पगडंडी से होकर ऋषि हवन करने यज्ञ-यूप तक जाते थे, कहाँ सीतामाई की कुटिया थी और किस मार्ग से वह स्नान के लिए नदी तक जाती थी, किस स्थल पर लवकुश की शिक्षा होती थी। यहाँ तक कि एक पेड़ से तोड़कर कुछ पत्तियाँ भी दी गयीं— इसी 'सीतापत्ती' को खाकर सीतामैया अपनी भूख का शमन कर लेती थीं! प्रमाण?—पत्ती कुछ-कुछ खट्टी थी, उसे चबाने के बाद जल पीने पर जल मीठा लगता था। सीतामाई भी पत्ती खाकर जल पी लेती थीं और उसी मिठास के सहारे उनके दिन कट जाते थे।'³⁰

बाल्मीकिनगर से अयोध्या की ओर उन्मुख हमें पहले कुशीनगर जाना था: कुशीनगर का राम-कथा से कोई संबंध तो नहीं था, पर— मेरे लिए तो विशेष सुखद था— कुशीनगर तो इस संसार में मेरा पहला पड़ाव था।'³¹ कुशीनगर की यात्रा को भगवतीशरण सिंह ने 'कुशीनगर भी पहुँचे' शीर्षक से लिपिबद्ध किया है। कुशीनगर की यात्रा का औचित्य प्रमाणित करते हुए उन्होंने माना कि 'कुशीनगर का राम से अथवा सीता से कोई संबंध नहीं था। राम-कथा चाहे जिस भी कवि ने लिखी, उसमें कुशीनगर के बारे में कोई संकेत नहीं मिलता। पर कुशीनगर में भले ही राम-कथा की कोई महत्वपूर्ण या साधारण भी घटना न घटी हो, जिस कोशल राज्य या साम्राज्य के राजा राम या उनके पूर्वज थे, उस कोशल महाजनपद के अंतर्गत ही कुशीनगर भी था।'³²

यात्रीदल कुशीनगर एवं गोरखपुर से मगहर होते हुए अयोध्या पहुँचा था। कुशीनगर से मगहर तक की यात्रा का विवरण लक्ष्मीकांत वर्मा जी ने 'कबीर की दो समाधियों के बीच' शीर्षक से चित्रित किया है। वे अंत में निष्कर्ष देते हैं। कि 'बार-बार मन में जो बात उठती थी, वह यही कि यह यात्रा केवल 'जानकी-जीवन यात्रा' नहीं थी। यह जानकी-जीवन के माध्यम से संपूर्ण सांस्कृतिक प्रवाह से साक्षात्कार करने की यात्रा थी। इसमें श्रमण-संस्कृति, आर्य-परंपरा, पुराण-इतिहास, मिथक और भक्ति-आंदोलन तथा संत-आंदोलन, सगुण-निगुण सब-कुछ एक साथ एक संवेग में प्रवाहित था। यात्रा ने हम सबको धर्म, अध्यात्म, मिथक, परंपरा और उसकी अनेक अंतर्धाराओं में एक साथ छोड़ दिया और हम सब उसमें डूबते-उतरते अपने-आपको

तलाश भी करते रहे और उसमें डूबते भी रहे।³³

द्वितीय चरण की यात्रा जो अयोध्या से शुरू होकर चित्रकूट में समाप्त हुई थी, उसके लिए यात्रीदल 11 मार्च, 1983 को पुनः अयोध्या में एकत्र हुआ। 12 मार्च को इस दल ने अयोध्या से नंदिग्राम (भरतकुंड)– वह नंदिग्राम: जहाँ भरत ने तपस्या की या यह कहें कि पश्चात्ताप के चौदह वर्ष बिताए, की यात्रा की और पुनः लौटकर अयोध्या में ही रात्रि-निवास किया। इस दिन की यात्रा का वर्णन अमृतलाल नागर ने 'अयोध्या-नंदिग्राम' शीर्षक से किया है। उन्हीं के शब्दों में कहें तो–

अयोध्या : 'इतिहास-पुरातत्त्व के लिए पहली और महंतों-पंडों के वेश में डाकुओं की निवास-स्थली होने के बावजूद अयोध्या सिद्धभूमि भी है। यह सनातन योग-भूमि है। जैन, बौद्ध सभी के लिए पूज्य। पतंजलि का राजयोग भी यहीं रचा गया था।... सूफ़ी साधक, अयोध्या ही नहीं पूरे अवध को बड़ी पावन-भूमि मानते रहे। मुल्ला दारुद, कुतुबन, मंझन, जायसी आदि अनेक सूफ़ी कवियों ने हमारे तुलसी बाबा से पहले अवधी भाषा में रचना की है।... हजरत आदम के बड़े बेटे हजरत शीष पैगंबर, कहीं गायब हो गए थे, उनकी मज़ार अयोध्या में मौजूद है।'³⁴

भरतकुंड : 'भरत जी की साधना-स्थली। राज-काज में व्यस्त रहते हुए भी भरत ने जहाँ राममय चौदह वर्ष बिताए थे।... भरत का चरित्र अद्वितीय है। भरत एक ऐसा लंगर है, जिसके सहारे राम-सागर में पैठा जा सकता है।'³⁵ मस्तमौला गंगाशरणसिंह राजनीति के आदमी हैं। बोलते हैं : 'जब भरत जी यहाँ रहते रहे होंगे, तब बड़े-बड़े सेक्रेटरी, डिप्टी सेक्रेटरियों के रथ यहाँ क्यू लगाए खड़े रहते रहे होंगे।'... किंतु अब भरतकुंड– 'जलकुंभी से भरा मनहूस-सा लगनेवाला यह कुंड हमारे पर्यटन-विभाग की 'धर्मनिरपेक्षता' (?) का निर्बुद्ध और निर्लज्ज प्रमाण दे रहा है।' नंदिग्राम से अयोध्या वापस आ रात्रि अयोध्या में विश्राम कर यात्रीदल 13 मार्च को 'कालाकाँकर' के लिए रवाना हुआ। वहाँ यात्रीदल का स्वागत किया कुँवर सुरेशसिंह तथा उनकी पत्नी प्रकाशजी ने। रात्रि में कालाकाँकर राजभवन की 'मेहमानदारी' में यात्रीदल के ठहरने का प्रबंध था। कालाकाँकर-यात्रा की प्रस्तुति नरेश मेहता ने 'कालाकाँकर का पड़ाव' शीर्षक से की है। 'मैं तो इस स्थान का सौंदर्य देखकर हतप्रभ रह गया। गंगा अपने प्रातःकालीन ठंडे प्रवाह के साथ बड़े ही छोटे-छोटे चपल चरणों से चलती कामिनी लग रही थी।... कालाकाँकर अपनी बस्ती के लिए तो शायद ही कभी प्रसिद्ध रहा होगा, लेकिन यहाँ के राजवंश के देश-प्रेम तथा कला-प्रवृत्ति के लिए यह सदा से जाना जाता रहा है। साहित्यिक जगत् में यह सुमित्रानंदन पंत के निवास के कारण जाना जाता है– सन् 1930 से 1940 तक पंत जी यहाँ रहे थे। आज भी पंत जी का आवास 'नक्षत्र' अपने अकेलेपन और जीर्ण स्थिति के अस्तित्व के साथ प्रमाण-रूप में विद्यमान है। शायद बहुत जल्द ही यह स्थान भी ढह जाएगा। पत्रकारिता-जगत् में यह स्थान राजा रामपाल सिंह द्वारा प्रकाशित 'दैनिक हिंदुस्तान' के कारण जाना जाता है, जिसके संपादन के लिए महामना मदनमोहन मालवीय यहाँ रहे थे।'³⁶

कालाकाँकर रात्रि-निवास के बाद दूसरे दिन सबेरे यात्रीदल शृंगवेरपुर के लिए रवाना हुआ– शृंगवेरपुर निषादराज गुह की राजधानी। यहीं पर निषादराज ने श्रीराम को नाव से गंगा नदी पार कराई थी। शृंगवेरपुर से आगे बढ़ यात्रीदल 'कड़ा' नामक स्थान पर गंगा पार हुआ। बाबा

मलूकदास की समाधि का दर्शन किया और फिर पहुँचा प्रयागराज— ‘भारद्वाज आश्रम’, जहाँ भगवान राम का स्वागत-सत्कार हुआ था। आज ‘भारद्वाज आश्रम’ के नाम पर जो कुछ है, वह निपट अंधकार है— कोई भारद्वाज वंशधर नहीं। लेकिन ‘जानकी-जीवन-यात्रा’ वालों के लिए दो तीन दिन के लिए तो वह ‘भारद्वाज आश्रम’ ही हो गया था— यात्रीदल उस पथ का अनुसरण जो कर रहा था जो परंपरा से ‘रामवनगमनमार्ग’ माना जाता रहा है। इस इतने बीच की यात्रा-कथा को विद्यानिवास मिश्र ने ‘शृंगवेरपुर से प्रयाग’ शीर्षक से प्रस्तुत किया है।

अंततः प्रयाग से यात्रीदल चित्रकूट की ओर उन्मुख हुआ। इसकी यात्रा-कथा को रामकमल राय ने ‘प्रयाग-चित्रकूट’ शीर्षक से निबद्ध किया है। उन्हीं के शब्दों में : ‘चित्रकूट की उन वनस्थलियों में घूमते हुए हमारे मन काल की सीमाओं को तोड़ते हुए न जाने कहाँ-कहाँ घूमते रहे। बाल्मीकि का चित्रकूट, तुलसीदास का चित्रकूट, निराला का चित्रकूट, सभी बारी-बारी और परस्पर घुलमिल सामने आते रहे। चित्रकूट, जहाँ राम ने अपने चौदह वर्ष के अरण्य-वास का साढ़े ग्यारह वर्ष बिताया था, जहाँ संपूर्ण अयोध्यावासियों और राम का वह महामिलन घटित हुआ था, जिसमें भरत और राम के निगूढ़ व्यक्तित्व विलयित होते हैं, चित्रकूट, जहाँ कैकेयी अपने कलुष को धोकर फेंक देती है, चित्रकूट, जहाँ राम अपने परम सेवक-बंधु लक्ष्मण से भरत की महिमा का बखान करते हुए इतना ही नहीं कहते हैं कि ‘भरतहिं होहिं न राजमद विधि हरि हर पद पाई।’ बल्कि यह भी कह डालते हैं कि ‘होहिं न भुवन भरत सम भाई।’... वह चित्रकूट हम लोगों के मनो में तैरता रहा।’³⁷

18 मार्च, यात्रा का अंतिम दिन। यह यात्रा विसर्जित हुई— कामदगिरि के चरणों में। ‘विसर्जन के दिन यह तय हुआ कि ‘कामद पर्वत’ के मुख्य द्वार पर पहुँचकर ‘कामतानाथ जी’ के आगे मस्तक नवाकर यह यात्रा समाप्त की जाए, क्योंकि भगवान राम इसी पर्वत पर बारह वर्ष रहे थे, उसकी महिमा अपरंपार है। यह आवश्यक और उचित-सा लगा कि सीताजी जिस कुंड से उत्पन्न हुई थीं, उसका जल माथे पर छिड़ककर हमने यात्रा की शुरुआत की थी, तो इस पर्वत के पास पहुँचकर ही विसर्जन करें।’³⁸ इस तरह यह ‘जानकी-जीवन-यात्रा’ मकर संक्रांति के दिन सीता की जन्मभूमि सीतामढ़ी से प्रारंभ होकर शिवरात्रि के पावन अवसर पर राम की बनवास-भूमि चित्रकूट में समाप्त हुई। अंत में, वहाँ चित्रकूट में पूरी यात्रा को समाहित करने की दृष्टि से एक गोष्ठी हुई, अज्ञेय जी की इस परिकल्पना पर विचार करने के लिए कि : ‘यात्रा जहाँ यात्रियों को एक सांस्कृतिक समृद्धि प्रदान करेगी, वहीं वे कुछ ऐसा रचेंगे भी, जिससे गुज़रकर हिंदी-पाठक कुछ ऐसा उपलब्ध कर सकेगा, जो उसे भारतीय चेतना की अधिक सही पहचान करा सके।’

यात्रा समाप्त हुई। ‘यह कहना शायद अतिरंजना लगे कि इस पूरी ‘जानकी-जीवन-यात्रा’ में अज्ञेय अपने भीतर राम को जीते रहे, किंतु यात्रियों के मन में अवश्य राम की एक कल्पित प्रतिमा अज्ञेय की साक्षात् छवि के साथ परस्पर वलयित होती रही।’

इस कृति में रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा लिखित ‘चित्रकूट ! जा पर विपदा परति है’, रामकमल राय तथा रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा लिखित ‘एक महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट-राजापुर’ उषा किरण खान द्वारा विरचित ‘सीता जनम विरोगे गेल’ तथा विद्याबिंदु सिंह का लेख ‘सीता सुरुजवा के जोति’ भी अपनी गरिमा के साथ उपस्थित हैं।

एक सत्य यह भी :

जब-जब 'जन-जनक-जानकी' कृति का अध्ययन-वाचन ही नहीं, अपितु विहंगम दृष्टि से भी कोई अवलोकन करेगा, तब-तब ऐसा लगेगा कि वह 'जानकी जीवन यात्रा पथ पर' विचरण कर रहा है। इसलिए कि कृति के बीच-बीच में जो 52 फोटो-चित्र तथा आर०एस० विष्ट के 7 रेखाचित्र उपस्थित हैं, केवल उनके दृश्य-दर्शन के सहारे भी 'जानकी-जीवन यात्रा' की काल्पनिक, किंतु यथार्थ यात्रा की जा सकती है। दरअसल, उस यात्रा में 'अज्ञेय' जी तथा ओ०पी०शर्मा ने लगभग तीन हजार चित्र खींचे थे- एक-से-एक बढ़कर भावप्रवण स्थितियाँ, वनखंड, प्राकृतिक दृश्य, बोल-अबोल, स्मरणीय पात्र और यात्रा की यादें। उन्हीं में से 90 चित्र तथा आर०एस० विष्ट के बनाए लगभग 20 रेखाचित्रों की दिल्ली के 'हिमाचल प्रदेश आर्ट गैलरी' में एक सप्ताह के लिए प्रदर्शनी भी आयोजित की गई थी। कृति के संपादक अज्ञेय जी ने उन्हीं चित्रों-रेखाचित्रों में से कुछ को चुनकर कृति के बीच-बीच में संपादित करके कृति को और मूल्यवान प्राणवान एवं भावनामय बना दिया है। सचमुच 'ये चित्र तथा रेखाचित्र कालबोध बन गए हैं।' पाठक-द्रष्टा को बार-बार यही लगता है कि वह 'चित्रों के सहारे एक बार फिर यात्रा-पथ पर' है। वास्तव में ये चित्रमुद्राएँ 'केवल चित्रफलक की दृष्टि से ही नहीं, भावमुद्राओं के कारण भी चित्र-जगत् की अनमोल निधियाँ हो गई हैं।' यहाँ 'फोटो-पत्रकारिता' के उस सर्वविदित सिद्धांत का सायास या अनायास ही प्रयोग नज़र आता है, जिसके अंतर्गत कहा जाता है कि 'एक चित्र हजार शब्दों के बराबर होता है।' कहा जा सकता है कि इन चित्रों के माध्यम से अज्ञेय जी ने 'अमूर्त शब्दों' को सामने रखा है। लिखे हुए शब्दों से अर्थ की सीमा निर्धारित हो जाती है, परंतु चित्रों से उठनेवाले विचार हर पाठक के मन में एक जैसे नहीं होते, अलग-अलग पाठक अलग-अलग तरीके से सोचता है।

अस्तु, हिंदी-साहित्य-जगत् में अज्ञेय जी द्वारा 'वत्सलनिधि' के तत्त्वावधान में आयोजित 'जय जानकी-जीवन-यात्रा' तथा संपादित 'जन-जनक-जानकी' कृति स्मरणीय एवं ऐतिहासिक धरोहर है। शायद भारतीय साहित्य जगत में यह अपने किस्म का पहला प्रयोग और प्रयास है, जिसके लिए भी अज्ञेय जी सदैव याद किए जाएँगे। यह कृति अज्ञेय जी की कार्य-संयोजना एवं संस्कृति-संपादन का उत्कृष्ट प्रमाण है।

संदर्भ

1. जन-जनक-जानकी, भूमिका
2. वही, पृ० 54
3. वही, पृ० 27
4. शंकरदयाल सिंह, याद एक यायावर की, पृ० 64
5. वही, पृ० 114
6. वही, पृ० 15
7. याद एक यायावर की, पृ० 60
8. वही, पृ० 68-69
9. जन-जनक-जानकी, पृ० 15
10. वही, भूमिका

11. याद एक यायावर की, पृ० 62
12. जन-जनक-जानकी, पृ० 15
13. वही, पृ० 73
14. वही, पृ० 24
15. वही, पृ० 18-19
16. वही, पृ० 20
17. वही, पृ० 20
18. वही, पृ० 20
19. वही, पृ० 24
20. वही, पृ० 25-27
21. मिथिला की पुण्यभूमि जनकपुर में ढोल-मजीरे की वाद्य-धुन पर इस लोकगीत से स्वागत होता है—
अइले अवध के मेहमान मोरे मिथिला
अइले अजब मेहमान मोरे मिथिला। —याद एक यायावर की, पृ० 84
22. वही, पृ० 28-29
23. वही, पृ० 39-40
24. वही, पृ० 46-47
25. वही, पृ० 51
26. वही, पृ० 51-53
27. मार्गदर्शक का काम कर रहे थे श्री रमाकांत सिंह जी तथा श्री वीरेंद्र जी, दोनों मजिस्ट्रेट, वही, पृ० 46
28. वही, पृ० 45-46
29. वही, पृ० 56
30. वही, पृ० 58-62
31. वही, पृ० 62
32. वही, पृ० 66-67
33. वही, पृ० 82
34. वही, पृ० 88
35. वही, पृ० 89
36. वही, पृ० 94-98
37. वही, पृ० 107
38. याद एक यायावर की, पृ० 101



सौंदर्य : एक विवेचन

सुनील

सौंदर्य की अवधारणा :

मानव-मन जीव-जगत् में सौंदर्य की अनुभूति सार्वजनिक रूप में करता है। परंतु इस अनुभूति के बावजूद मनुष्य इदमित्यम् कहकर सौंदर्य का व्याख्यान नहीं कर पाता है। सौंदर्यानुभूति मनुष्य के मन को कुछ इस प्रकार अभिभूत कर देती है कि बुद्धि के द्वारा उसका संधान असंभव हो जाता है। वह ऐसी उलझन है, जिससे सुलझन रूठी हुई है।

(क) सौंदर्य : व्युत्पत्ति और परिभाषा :

‘सौंदर्य’ सुंदर की भाववाचक संज्ञा है। वाचस्पत्य कोश के अनुसार ‘सु’ उपसर्गपूर्वक ‘उन्द’ धातु में ‘अरन’ प्रत्यय जोड़कर ‘सुंदर’ की सिद्धि की गई है, जिसका अर्थ हुआ—अच्छी तरह से आर्द्र करनेवाला।¹ ‘संस्कृत-हिंदी कोश’ में सुंदर की व्युत्पत्ति सुंद+अर से की गई है।² ‘शब्द-कल्पद्रुम’ के अनुसार सुंदर का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—‘सुष्ठु उनन्ति आर्द्रो करोति चित्तमिति।’³ अर्थात् जो चित्त को भली प्रकार आर्द्र करता है। ‘सुंदर’ की एक और व्युत्पत्ति भी संभव है—सुंदराति इति सुंदरम्। ‘सुंद’ का अर्थ है कर्त्तनी अर्थात् जो कैची की तरह काट करनेवाला हो, उसको जो लाता हो, वह ‘सुंदर’ हुआ। सौंदर्य हृदय पर नेत्रों के द्वारा कैची की-सी काट करनेवाला पक्का प्रभाव करता ही है, यह कौन नहीं जानता?⁴ इसके अतिरिक्त ‘सुनर’ तथा ‘असून’ से भी सुंदर का संबंध जोड़ा गया है।⁵ परंतु ऐसी व्युत्पत्तियाँ कल्पना-क्रीड़ा मात्र हैं। यदि उपर्युक्त व्युत्पत्तियों पर गंभीरतापूर्वक चिंतन-मनन किया जाए तो यही कहा जा सकता है कि सौंदर्य का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है— प्रमाता के चित्त का भली प्रकार आर्द्रिकरण। इस संबंध में सुषमा भसीन का कथन उद्धृत करने योग्य है— ‘यह सौंदर्य के प्रभाव का सामान्य कथन-मात्र है। रस का भी वही धर्म है— मन का आर्द्रिकरण। सौंदर्य और रस के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी मन आर्द्र हो सकता है।’⁶ अतः व्युत्पत्ति की दृष्टि से सौंदर्य की प्रकृति और स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता है।

डा० फतहसिंह ने वैदिक संदर्भों में ‘सुंदर’ की अवस्थिति का संधान करते हुए बताया है कि ‘सुम’ शब्द ऋग्वेद के सु+ऊँ से मिलकर बना है, जिसका प्रयोग प्राचीनकाल में सुखद अनुभूति के लिए किया गया होगा। ‘फलस्वरूप जिस वस्तु के इंद्रिय-सन्निकर्ष होने पर उक्त ‘सुम’ नामक आनंदानुभूति होती थी, उसको सुंदर कहा जाता या सुम् देने की सामर्थ्य से युक्त।’⁷ व्यावहारिक दृष्टि से सौंदर्य का प्रयोग संदर्भानुसार अनेक अर्थों में होता है—

1. दर्शनीय वस्तु के रूप की विशेषता के अर्थ में।
2. वस्तु के विशिष्ट मूल्य के अर्थ में।
3. रूप-सौंदर्य के द्वारा प्राप्त विशिष्ट आनंद-अनुभूति के अर्थ में।
4. कला या साहित्य में भाव और कर्म की संवेद्य अभिव्यक्ति से प्राप्त आनंदानुभूति

के संबंध में।

5. साहित्य और कलाओं में निहित अभिव्यक्ति की मार्मिकता के अर्थ में आदि।

संस्कृत में सौंदर्य के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं। उनमें अधिकांश रूप की प्रशंसा या मन पर उसके प्रभाव के द्योतक हैं। यथा— साधु, मंजु, मनोहर आदि। कुछ ऐसे शब्द हैं, जो रूप और सौंदर्य के विशेष पहलुओं को व्यंजित करते हैं, जैसे— आभा, क्रांति, द्युति, रूप, लालित्य, रमणीयता, सौष्ठव, शोभा, सुषमा, लावण्य, छवि, श्री आदि। 'छवि' शब्द निर्दोष रूप को प्रकट करता है। यह सौंदर्य का विधायक धर्म है। छवि का सौंदर्य वस्तु के स्फुट अवयवों का नहीं, समग्रता की झांकी का सौंदर्य है। 'लावण्य' अंतःसौंदर्य का निरूपक है जो रूपगत तरल आभा द्वारा दर्शक में स्पर्श की चाह उत्पन्न करता है। रमणीय, चारु, रुचिर आदि शब्द अनुभूति की दृष्टि से सौंदर्य की व्याख्या करते हैं। रमणीय मन को रमानेवाला रूप है। रुचिर सौंदर्य की आस्वादनीयता का व्यंजक है। लालित्य, कोमलता, सौकुमार्य, शोभा, क्रांति, आभा आदि समष्टिगत रूप या अवयवों के आकर्षक धर्म हैं। इस प्रकार सौंदर्य के उपर्युक्त पर्यायवाची शब्द उनके आंतरिक और बाह्य धर्मों की व्यष्टि और समष्टि रूप की विशेषताओं को व्यंजित करते हैं। साथ ही इसमें सौंदर्य के समस्त पक्षों की ओर संकेत में भारतीय सौंदर्य-दर्शन की समग्रता भी प्रकट होती है। उल्लेख है, भारतीय चिंतन के इतिहास में सौंदर्यशास्त्र की पृथक् कल्पना नहीं की गई है, परंतु सौंदर्य की मर्मज्ञता को प्रकट करनेवाले अनेक विकीर्ण सूत्र उपलब्ध हो जाते हैं।

अंग्रेजी में सौंदर्य का पर्यायवाची शब्द है ब्यूटी (Beauty)। आक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार 'ब्यूटी' मानवीय सुख, रूप या इतर वस्तुओं में आकृति, अनुपात, रंग आदि गुणों का ऐसा संयोग है, जो नेत्रों को आनंद प्रदान करता है।⁸

सौंदर्य रूप (आकृति) का परम वैभव है, जो आश्रय के मन को आकृष्ट करता है। इसीलिए भारतीय दार्शनिक सिद्धांतों ने सृष्टि को माया तो घोषित किया किंतु उसके विपरीत अलौकिक ईश्वरीय लीला के अद्भुत सौंदर्य पर मुग्ध भी हुए। भागवतकार का कथन है—

तदैव रूपं रुचिर नव-नवं तदैव शाश्वन्मनसो महोत्सवम्।⁹

इस आकर्षण में ही सौंदर्य की सत्ता का बोध होता है। महाकवि माघ भी कहते हैं—
क्षण-क्षणं यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः।¹⁰

सौंदर्य जहाँ ऐंद्रिय धरातल पर मन को व्याकुल और उत्तेजित करता है, वहीं अनुभूति की चरम स्थिति पर यह आनंदप्रद हो जाता है। इस आनंदानुभूति के साथ-साथ उसकी रमणीयता में भी वृद्धि होती जाती है। तभी तो कीट्स कहते हैं—

"A thing of beauty is a joy ever its love eliness increses. Its will never pass into nothingness."¹¹

सौंदर्यानुभूति का लक्षण नित्य नवीनता ही हो सकता है। तभी तो महाकवि सूर कहते हैं— स्याम सो काहे की पहिचानि।

निमिष-निमिष वह रूप न वह छवि रति कीजै जिहि जानि।¹²

प्रतिक्षण परिवर्तनशीलता के कारण ही सौंदर्य का यथार्थ चित्रांकन संभव नहीं—

लिखन बैठि जाकी छवि गहि-गहि गरब गरूर।

भाए न केते जगत् के चतुर चितेरे कूर।¹³

कतिपय और विद्वानों के अभिमत द्रष्टव्य हैं। डा० संपूर्णानंद का विचार है, 'दुष्प्रिय वह है, जिनको देखकर हृदय में रस का संचार होता है। हम इन सबमें जो मनोहारिता पाते हैं, उसे सौंदर्य कहते हैं।'¹⁴ डा० रामविलास शर्मा कहते हैं, 'प्रकृति, मानव-जीवन तथा ललित कलाओं के आनंददायी गुणों का नाम सौंदर्य है।'¹⁵

महाकवि जयशंकर प्रसाद ने सौंदर्य को चेतना का उज्ज्वल वरदान कहा है—
उज्ज्वल वरदान चेतना का, सौंदर्य जिसे सब कहते हैं।

जिसमें अनंत अभिलाषाओं के सपने सब जगते रहते हैं।¹⁶

अच्छी प्रकार से प्रसन्न करने के अर्थ में भी 'सुंदर' शब्द प्रयुक्त है— 'सुष्ठु नंदयाति इति सुंदर।'¹⁷ संस्कृत कोशों में 'सुंदर' शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की गई है। वाचस्पत्य कोश के अनुसार 'सु' उपसर्गपूर्वक 'उन्द' धातु में 'अरन्' प्रत्यय के योग से 'सुंदर' शब्द उत्पन्न होता है, जिसका अर्थ है चित्त को द्रवीभूत करनेवाला।¹⁸

ऋग्वेद में 'रूप' शब्द का व्यवहार आकार-प्रकार के लिए हुआ है— 'विश्वा रूपाणि प्रतिभुञ्चयते—कविः। सुंदर का समानार्थी 'चारु' शब्द वैदिक साहित्य में कल्याण, रूप तथा प्रीतिकर अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में 'अप्सु' पेशस, 'सूनर' एवं सूनरी शब्दों का प्रयोग भी सुंदर के लिए हुआ है।¹⁹ डा० सुरेंद्रनाथ गुप्त का मानना है कि उपनिषद् में 'सुंदर' रूप, 'रस', प्रकाश तथा 'आनंद' से एकाकार होकर उपस्थित हुआ है।²⁰ महाभारत में सुंदर के लिए रम्य, रुचिर, सुरूप, चारु, कांत, प्रियदर्शन, शोभन, मनोरम, मनोज्ञ, सुभग आदि उन सभी पर्यायों का युक्त प्रयोग है।²¹

संस्कृत साहित्य में पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा देते हुए 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'²² कहा है। आचार्य वामन ने सौंदर्य और अलंकार को अभिन्न मानते हुए सौंदर्य को काव्य का प्राण माना है।²³

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है भारतीय वाङ्मय में सौंदर्य के लिए भिन्न-भिन्न सार्थक और पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ है। सौंदर्य को व्यक्त करनेवाला प्रत्येक शब्द, सुंदरता के प्रति प्रत्येक विद्वान, कवि अथवा समीक्षक की दृष्टि को व्यक्त करता है। ये शब्द वस्तु के लालित्य, मानव के रूप प्रकृति की उज्ज्वलता की ओर पाठक अथवा सामाजिक का ध्यान आकर्षित करते हैं।

(ख) सौंदर्य की विशेषताएँ²⁴

सौंदर्य के गुण, उसकी विशेषताएँ क्या हैं? प्राच्य मनीषियों ने इस पर अधिक विचार-आलोड़न नहीं किया है। पाश्चात्य चिंतकों की विशेषताएँ इस प्रकार रेखांकित की जा सकती हैं—

1. **आकर्षण** : यह सौंदर्य का प्राथमिक गुण है। चूँकि सौंदर्य आकर्षणमूलक होता है, इसलिए उसके प्रति मानव-मन में एक जिज्ञासा स्वतः उत्पन्न हो जाती है। यह खिंचाव की स्थिति आनंदात्मक होती है। अस्तु, यह आकर्षण अनुभावक को सहज संकर्षित करता है।

2. **अतृप्ति** : सौंदर्य-सुधारस का पान कर कोई भी व्यक्ति तृप्ति की अनुभूति नहीं कर सकता। सौंदर्य क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तमान तथा परिवर्धमान होता है। इस सतत चलायमानता के कारण मानसिक रागात्मिका जिज्ञासा और प्रखर हो जाती है। जिज्ञासा ही तो अतृप्ति की जननी है। इसीलिए तो सौंदर्य की उत्कट अभिलाषा सबके हृदय में विद्यमान रहती है।

3. **अखंडता** : सौंदर्य एक अंग-विशेष नहीं, वह अंगों का एक समवाय है। वह खंड नहीं, अखंड है। वस्तुतः वह तो किसी का एक समग्र अस्तित्व ही होता है। सौंदर्य की जिस आनंदमयी मूर्ति का निर्माण अंगों के सम-समान अधिष्ठान में होता है, वह अंग-विशेष में संभव नहीं। सौंदर्य का पूर्ण दर्शन समग्रता में ही संभव है। अवयवों का अवयवी से निस्तारण उसे कुरूपता प्रदान करता है। जैसे आभूषणों का बिलगाव सौंदर्य-विरहित होता है, लेकिन जब उसका मनोज्ञ अवधारण कोई रमणी कर लेती है, तब सौंदर्य की अपूर्व रसधारा प्रप्रवित होने लगती है।

4. **लौकिकता** : सामान्यतः जनमानस में यह मिथ्या धारणा विद्यमान है कि सौंदर्य-रस का आनंद अलौकिक होता है। लेकिन यह धारणा समीचीन नहीं है क्योंकि, जैसे आधार के बिना आधेय की कल्पना नहीं की जा सकती, वैसे ही लोकजीवन से निरपेक्ष सौंदर्य की भी। सौंदर्य लोकजीवन का सापेक्षी होता है। इस संदर्भ में डा० श्यामसुंदरदास जी का यह कथन उचित ही है कि— 'इस प्रसंग में यह भ्रम न होना चाहिए कि जिन भावों के सहारे रस का आस्वादन मिलता है, वे हमारे लोक में नहीं हैं। वे भाव सर्वथा हमारे लोक के हैं। वे अतींद्रिय, पारलौकिक अथवा लोकबाह्य नहीं होते। वे अलौकिक केवल इसीलिए कहे जाते हैं कि उनका अनुभव प्रत्यक्ष लोक में मधुमती भूमिका में होता है और अनुभावक के कार्य-कारण साधारण और लौकिक नहीं होते।' (साहित्यालोचन, पृ० 234-35)

5. **प्रेम-प्रगाढ़ता और रागिक सांद्रता** : प्रेम और अनुराग जीवन के नियामक तत्त्व हैं। बाह्य-सौंदर्य के प्रति आकर्षण होता है और अंतरिक सौंदर्य के प्रति अनुराग। आकर्षण वैयक्तिक सीमा में आबद्ध होता है, जबकि अनुराग तादात्म्यीकरण पर निर्भर होता है। अस्तु, सौंदर्य यदि देह है तो प्रेम या अनुराग उसकी आत्मा।

6. **पवित्रता** : सौंदर्य का पवित्रता, निर्मलता, दिव्यता से नित्य संबंध है। सौंदर्य में पाप, असत्य, दुराचार नहीं होता। बल्कि इन अनर्थों को शमित करने की इसमें शक्ति भी होती है। (यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः - कुमारसंभव, 5/36)

7. **कांतता** : 'कांता' स्त्री-बोधक शब्द है। नारी अपनी रूपराशि के लिए विख्यात रही है। कंचन और कामिनी (कांता) युग-युग से सभी को आकर्षित करते रहे हैं। सौंदर्य की वर्ण-दीप्ति तथा गुण-प्रतीति के आधार पर कांतता सौंदर्य का एक प्रमुख लक्षण सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त आसक्ता, प्रिय को रिझाने की अतुलित शक्ति, चित्त को निर्मल करने का स्वभाव, आदरभाव और विस्मयाविष्टता, नित्यनवता तथा अध्यात्मव्यंजना सौंदर्य की कतिपय अनिवार्य विशेषताएँ हैं।

उक्त विशेषताओं के आधार पर यह निरूपित किया जा सकता है कि सौंदर्य सुधासिक्त एक ऐसी सरिता है, जिसमें आकर्षणीयत्व की तहें उच्छलित-विच्छलित होती रहती हैं। उसकी सरस धारा-प्रवाहिकता की मनोज्ञ त्वरा में विद्युल्लता की चकाचौंध की व्यक्तित्ता, वसंतकालिक मादकता, सुमन की मौन साधना, प्रातः एवं सायं दिशाओं की क्षण-क्षण परिवर्तमानता, रमणी की रमणीयता, लता की क्षीण-कायिकता तथा कोमलता आदि का सच्चा दर्शन होता है। (डा० रामेश्वरलाल खंडेलवाल : आधुनिक हिंदी कविता में प्रेम और सौंदर्य, पृ० 173)

(ग) **सौंदर्य और साहित्य** :

मानव की यह स्वभावगत विशेषता है कि वह हर पल कुछ-न-कुछ करता रहता है। वह

सदैव अन्वेषण के द्वारा उन्नति की ओर उन्मुख होना चाहता है। उन्नति की ओर अग्रसर होनेवाला मानव चिरकाल से सौंदर्य का उपासक रहा है। वह प्रतिपल सुंदर वस्तुएँ ही देखना चाहता है। उसे किसी भी वस्तु में कुरूपता सहन नहीं। सृष्टि की समस्त वस्तुओं को समझने-परखने का दृष्टिकोण प्रत्येक व्यक्ति का भिन्न होता है। अपनी भावना या कल्पना के आधार पर ही उसे जिस वस्तु में सौंदर्य परिलक्षित होता है, उस पर उसकी दृष्टि केंद्रित हो जाती है। इस सौंदर्य की अनुभूति से उसे आनंद की प्राप्ति होती है। वह आनंद जब भावनात्मक उत्तेजना की सीमा पर पहुँच जाता है, तब मनुष्य का हृदय भाव-विभोर हो छलक उठता है। उसके भाव मन में न समाकर लेखनी द्वारा कागज़ पर उतर आने के लिए मचल उठते हैं। वह अपने आनंद को लेखबद्ध रूप में या मूर्त रूप में संपूर्ण विश्व में प्रसरित कर देना चाहता है या दूसरे शब्दों में वह अपना आनंद प्रत्येक का आनंद बना देना चाहता है। चूँकि यह सौंदर्य मानव में अंतस् की वास्तविक अनुभूतियों से युक्त होता है, अतः वह सत्य, शिव और सुंदर का रूप होता है।²⁵ साहित्य जीवन की ललित अभिव्यक्ति है। इसलिए जीवन के मूल में जो प्रेरणाएँ गतिशील हैं, वही साहित्य-चेतना की जनक हैं। जीवन प्राणों की धारा का रसमय विलास है। जीवन के मूल में व्याप्त अनंत सत्ता के ताल-ताल पर नर्तन करती हुई यह धारा अनादिकाल से प्रवाहित होती आ रही है। इस गति के मूल की खोज दर्शन को चिरंतन साध रही है और उसके लास्य पर मुग्ध होकर उसे वाणी देना साहित्यकार की साधना। दोनों के प्रस्थान भिन्न हैं, किंतु लक्ष्य एक। बुद्धि द्वारा जगत् और जीवन को समझने का प्रयास दर्शन है और प्रतिभा और अनुभूति द्वारा जगत् और जीवन के रहस्य को हृदयंगम करने का नाम कविता है। इस प्रकार दर्शन हमारी बुद्धि को संतुष्ट करता है और साहित्य हमारी कल्पना और आत्मा के लिए मधुमय भोजन प्रस्तुत करता है।²⁶ 'सौंदर्यानुभूति के क्षणों में हमारी आत्मा में आनंद का जो स्रोत आविर्भूत होता है, उसी का उच्छलन कविता है।'²⁷

सौंदर्य वह परम वैभव है, जो मन को आकृष्ट करता है। भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतकों ने इसको परिभाषित करने का उपक्रम अवश्य किया है। मगर यह एक जटिल कार्य है, जिस पर कोई सर्वसम्मत राय व्यक्त करना संभव नहीं है। भारतीय सौंदर्य-दृष्टि व्यंजना-प्रधान है। यह वस्तु या रूप को ही सबकुछ नहीं मानती। रूप या वस्तु तो उस सौंदर्य के वाहक-मात्र हैं। रूप के माध्यम से अरूप की व्यंजना करने में ही इसकी सार्थकता है। पाश्चात्य मतानुसार सौंदर्य पदार्थ नहीं, पदार्थ का गुण है। किंतु वह भौतिक तत्त्व अथवा भौतिक तत्त्वों का संश्लेषण न होकर पदार्थ का प्रतीयमान या गोचर रूप है, जिसका आविर्भाव प्रमाता की चेतना के सन्निकर्ष से होता है। इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य सौंदर्य दृष्टि में मूलअंतर रूप और अरूप को लेकर है। पाश्चात्य दृष्टि में रूप ही सब कुद है और भारतीय मत में रूप से व्यंजित होने वाला अरूप। वहाँ सौंदर्य संतुलन और समानुपात की वस्तु है और हमारे यहाँ आंतरिक सामंजस्य की। सौंदर्य-संबंधी वस्तुगत या आत्मगत धारणाएँ एकांगी हैं।

सौंदर्य नित्य नूतन चिररमणीय महाचेतना शक्ति का पवित्र वरदान है। वह सभी अवस्थाओं में आकर्षण संपन्न रहता है। उसे प्रकृति और जीवन की वास्तविकता के परिपश्य में ही समझा जा सकता है। यद्यपि सौंदर्य की कोटियाँ या प्रकार नहीं किए जा सकते, तथापि विवेचन की सुविधा के लिए उसके चार रूप निर्धारित किए गए— मानवीय सौंदर्य, प्रकृति-सौंदर्य, वस्तुगत-सौंदर्य तथा कलागत-सौंदर्य। सौंदर्य के सभी रूप आह्लादक होते हैं। इसकी अनुभूति

से हमारी चेतना और गतिशील हो उठती है।

जीवन साहित्य का मूलाधार है। जीवन की मूल प्रेरणाएँ ही साहित्य की मूल प्रेरणाएँ हैं। जीवन की मूल प्रेरणा आनंद है। इस आनंद की अभिव्यक्ति रूप से होती है। सौंदर्य का भावन आनंदमय होता है या यों कहें कि आनंद का रूपमय विलास ही सौंदर्य है। इसलिए यह कहना सभी प्रकार उचित है कि सारी कलात्मक सर्जना के मूल में सौंदर्य ही गतिशील है।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि साहित्य में विश्व का प्रत्येक कण सौंदर्य एवं प्रेम से आपूर्ण होता है। तभी वह सहृदय को अपूर्व रसानंद से आप्लावित करता है।²⁸

संदर्भ

1. वाचस्पत्यम् कोश, पृ० 5314
2. वामन शिवराम आप्टे संस्कृत हिंदी कोश, पृ०1115
3. शब्द कल्पद्रुम, खंड-5, पृ० 373
4. डा० रामेश्वरदयाल खंडेलवाल, जयशंकर प्रसाद : वस्तु और कला, पृ० 288
5. डा० लालताप्रसाद सक्सेना, मंझन का सौंदर्य-दर्शन, पृ० 18
6. सौंदर्यशास्त्र (मेरठ विश्वविद्यालय हिंदी परिषद् शोध पत्रिका का विशेषांक, 1979, पृ०19-20)
7. डा० फतहसिंह, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका, पृ० 7
8. The Concise Oxford Dictionary : Beauty, P. 162
9. श्रीमद्भागवत् द्वादश स्कंध, अध्याय 12, श्लोक 49
10. शिशुपाल वध, 8197
11. Jhon Keats, Endvimion, Book-1, Lines,1-3
12. सं० आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, सूरसागर (भाग-2), पद संख्या 247
13. बिहारी रत्नाकर, दोहा संख्या 347
14. डा० संपूर्णानंद, चिद्विलास, पृ० 209
15. समालोचक का सौंदर्यशास्त्र विशेषांक, पृ० 176
16. कामायनी, लज्जा सर्ग, पृ०102
17. डा० हरिशंकर मिश्र, सौंदर्यशास्त्र : स्वरूप एवं संभावनाएँ, पृ० 2
20. डा० सुरेंद्रनाथ गुप्त, सौंदर्य-तत्त्व, पृ० 38
21. डा० नगेंद्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका, पृ० 48
22. पंडितराज जगन्नाथ
23. आचार्य वामन, काव्यालंकार सूत्रवृत्ति
24. अनुसंधानिका-1, सं० डा० रामशंकर त्रिपाठी, पृ० 20-21
25. अनुसंधानिका-1, सं० डा० रामशंकर त्रिपाठी, पृ० 29
26. डा० हर नारायण सिंह, छायावाद : काव्य तथा दर्शन, पृ० 24
27. डा० नगेंद्र, आस्था के चरण, पृ० 108-110
28. अनुसंधानिका-1, सं० डा० रामशंकर त्रिपाठी, पृ० 38

□ द्वारा श्री नरेशकुमार

मं० नं० 2085, सैक्टर-1, रोहतक-124001 (हरियाणा)

श्री नरेश मेहता का काव्य-संसार

सुनील शर्मा

आधुनिक भारतीय साहित्य की विशाल सृजनधारा पर जो कुछ विशिष्टतम व्यक्तित्व अंकुरित, पल्लवित एवं विकसित हुए तथा अपनी गंध एवं संपदा से जिन्होंने हिंदी-साहित्य को परितृप्त एवं परिपूर्ण किया, उनमें एक विशिष्ट नाम श्री नरेश मेहता का है।

नरेश मेहता आधुनिक हिंदी-कविता के यशस्वी रचनाकार हैं। इस बीच प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता, नवगीत, साठोत्तरी कविता, सहज कविता, जनगीत आदि अनेक प्रवृत्तियाँ काव्यमंच पर आंदोलनों के रूप में उभरीं और अपनी उपलब्धियों का लेख-जोखा छोड़कर आगे बढ़ गईं। नरेश मेहता इन काव्य आंदोलनों से प्रायः निर्लिप्त रहकर छायावादोत्तर प्रवाह में अपनी प्रतिबद्धता के अनुरूप चलते रहे, सर्जना करते रहे।

सन् 1951 में प्रकाशित 'द्वितीय तार सप्तक' में उनकी दस कविताएँ हैं, जिनमें 'चाहता मन' और 'समय देवता' कुछ ऐसी कविताएँ थीं, जो उनकी काव्य-यात्रा की दो इकाईयाँ बनकर अवतरित हुईं। एक में प्रगीत कवि की चेतना थी और दूसरी में थी समय की आवाज़। ये दसों कविताएँ नरेश की प्रकृति-चेतना, प्रेमिल भावना और सांस्कृतिक भूमिका पर कवि की विश्व मानवतावादी दृष्टि की उद्बोधक हैं। ये कविताएँ प्रकृति के संश्लिष्ट, अलंकृत व वस्तुबिंबों से सजी हुई हैं। दूसरे सप्तक की रचनाएँ नरेश मेहता जी की प्रारंभिक कवि के रूप में पहचान कराती हुई भी, भावी कवि का संकेत देती हैं। 'वनपाखी सुनो' नरेश मेहता का स्वतंत्र रूप से प्रकाशित प्रथम कविता-संग्रह है। इसमें सत्ताईस कविताएँ हैं। प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में विचरते हुए कवि की दृष्टि कभी बदलियों की ओर जाती है, कभी मेघों की ओर, तो कभी संध्या की ओर। इस तरह प्रकृति सौंदर्य, मानवीय पीड़ा और सदाशयता के मूल मंत्र पहले संकलन की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं, जो प्रकृति-चेतना, ठोस भावोत्तेजक क्षणों की अनुभूतियों एवं जीवन के विविध स्वरों की परिचायक हैं। 'मेरा समर्पित एकांत' संग्रह दो खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में उन्नीस कविताएँ और द्वितीय खंड में 'समय देवता' नामक लंबी रचना है। कवि का समर्पित एकांत अकेले उनका न होकर मानवमात्र का एकांत है। इसमें कवि ने जिस सांस्कृतिक वातावरण की सृष्टि की है, उसमें आध्यात्मिक एवं भक्तिभावपूर्ण सौरभ व्याप्त है। इसमें कवि का भावबोध और शिल्पबोध दोनों ही कवि की स्वस्थ प्रयोगशीलता को स्पष्ट करते हैं।

'उत्सवा' संग्रह में चौबीस कविताएँ हैं। इस संग्रह की सभी कविताएँ प्रकृति की सांस्कृतिक सुषमा और वैभव की उदात्ता को प्रस्तुत करती हैं। 'तुम मेरा मौन हो' काव्य-संकलन कवि श्री नरेश मेहता की अब तक की रचनाओं से अलग हटकर 'प्रेम-कविताओं' का संकलन है। सैंतालीस कविताओं का यह काव्य-संकलन कवि के मनोभावों का द्योतक है। इस काव्य-संग्रह में कवि ने प्रेमी के आंतरिक सुंदर मनोभावों को बड़ी सूक्ष्मता से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस काव्य-संकलन में कवि का प्रगाढ़ भाव-बोध, शिल्प-समृद्धि के योग से अत्यंत प्रभावशाली एवं

सक्षम बन गया है। 'अरण्या' नरेश जी की फुटकल रचनाओं का संग्रह है। इस संग्रह के लिए 20 फरवरी, 1989 को साहित्य अकादमी का पुरस्कार प्राप्त हुआ। युगसत्य को 'पक्षी-पंडित' कविता में कवि ने अन्योक्ति के माध्यम से व्यक्त किया है। 'आखिर समुद्र से तात्पर्य' संकलन में इक्यावन कविताएँ कवि के रचनात्मक विकास को रेखांकित करती हैं। 'आखिर समुद्र से तात्पर्य', 'आधी रात में', 'सूचनापट', सहज लंबी कविताएँ हैं। संकलन की समग्र कविताओं में कवि का चिंतन, सौंदर्य-चेतना और शिल्पगत नवीनता विशेष आकर्षक है। 'पिछले दिनों नंगे पैरों' संकलन की कविताएँ इतिहास पुरुषों और शक्तियों को नहीं, बल्कि उस काल की अमानवीय मानसिकता को व्यंजित करती हैं। अमूर्त प्रतीकों और धारदार बिंबों में काव्य प्रस्तुति इसकी विशिष्टता है। 'पिछले दिनों नंगे पैरों' की काव्य-रचनाएँ नए आयाम और एक नई सोच की बोधक हैं।

'संशय की एक रात' में कवि ने पौराणिक आख्यान के माध्यम से व्यष्टि और समष्टि तथा युद्ध की समस्या पर विचार किया है। यह चार सर्गों का खंडकाव्य है। राम के मन में द्वंद्व बहुत गहरा है, लेकिन वे सबके निर्णय में अपने निर्णय को समाविष्ट करते हुए युद्ध के लिए तैयार हो जाते हैं। इसमें कवि ने आधुनिक व्यक्ति की संशयग्रस्तता, अनिश्चितता, कशमकश और डगमगाती आस्थाओं को दर्शाया है। 'महाप्रस्थान' में व्यक्ति, समाज, शासक, राज्य शासन-व्यवस्था आदि को लेकर कवि ने वैचारिक मंथन किया है। इसमें युद्ध के उपरांत की वीभत्सता का भयावह चित्रण किया गया है। 'प्रवाद-पर्व' में कवि ने राजपुरुष, राज्य और सामान्यजन के निकट संबंधों को स्पष्ट किया है। प्रस्तुत काव्य रामायणी संदर्भ के आधार पर अपने युग-बोध को प्रज्ञा-प्रतीक राम के माध्यम से मानवीय परिप्रेक्ष्य में समाहित करने का सफल प्रयास है। 'शबरी' की कथा त्रेतायुग की एक दीन-हीन नारी के आत्मिक आध्यात्मिक संघर्ष की कथा है। इसमें शबरी आत्मिक चैतन्य और आध्यात्मिक ऊर्ध्वता द्वारा सामूहिक जड़ता को तोड़नेवाली एक मानवीय शक्ति के रूप में प्रस्तुत हुई है। इसमें बताया गया है कि आज समाज में सांप्रदायिक और वर्णभेद की दृष्टि अनावश्यक है। 'प्रार्थना पुरुष' कवि मेहता द्वारा लिखित 'गांधी-गाथा' है। इस इतिवृत्तात्मक लघुकृति में कवि ने गांधी जी के जीवन-काल की प्रमुख घटनाओं एवं कार्यों का उल्लेख किया है। 'प्रार्थना-पुरुष' एक प्रकार से गांधी के जीवन की पद्यबद्ध कथा है। इस प्रकार नरेश मेहता का काव्य-संसार अत्यंत समृद्ध और विशिष्ट है।

□ हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय
रोहतक-124001 (हरियाणा)

प्रगतिवादी चिंतन और हिंदीकाव्य

ब्रजभान सोनकर

संस्कृत कोशों में 'प्र' उपसर्ग+'गम्' धातु से बने प्रगम, प्रगमन, प्रगत आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है। जिसका अर्थ है—आगे बढ़ना, उन्नति करना आदि। प्रगतिवादी शब्द 'प्रगति' शब्द में वादी प्रत्यय के योग से बना है।¹ वृहत हिंदी कोश में प्रगति (स्त्री संज्ञा) शब्द का अर्थ है—आगे बढ़ना और उन्नति करना² हिंदी का प्रगति शब्द अँग्रेजी के 'प्रोग्रेस' शब्द का रूपांतर है। यह प्रोग्रेस शब्द लैटिन भाषा के 'प्रो' और 'ग्रेडियर' (जाना) शब्द से बना है।³

मुंशी प्रेमचंद ने प्रगति शब्द का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है कि जबसे 'प्रगति' शब्द का 'प्रोग्रेस' शब्द से परिचय हुआ है, इसके सामान्य अर्थ का विशिष्ट अर्थ में पल्लवन हुआ है। उन्होंने प्रगति शब्द को उन्नति का पर्याय माना है। उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है, जिससे हममें दृढ़ता और कर्म-शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें दुःखावस्था की अनुभूति न हो।⁴

डा० रांगेय राघव का कहना है कि 'प्रगति' क्या है? प्रगति केवल राजनीतिक नहीं है, वह समग्र मानव का नया जीवन-दर्शन है, जो वर्गवाद को मिटाकर मनुष्य का ऐसा सुखी समाज बना सके, जहाँ विज्ञान की सहायता से सृष्टि के रहस्यों को समझा जा सके।⁵

काल मार्क्स (1818 से 1833) ने जीवन की विशिष्ट दिशा में आगे बढ़ने की स्थिति को ही 'प्रगति' माना है। मार्क्स तथा एंजेल्लस ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को आगे बढ़ाने की विशिष्ट दिशा का आधार मानते हुए स्पष्ट किया है— 'प्रकृति तथा समाज में विकास।'⁶

मानव-जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उत्पादन आवश्यक होता है। यह उत्पादन सभी अवस्थाओं एवं कालों में सामूहिक होता है। मार्क्स, एंजेल्लस का कथन है कि 'जब उत्पादित सामग्री के वितरण में असमानता पैदा होती है तो आर्थिक दृष्टि से समाज वर्गों में विभक्त हो जाता है। एक वर्ग दूसरे वर्ग से स्वार्थवश टकराता है।'⁷ मार्क्स ने प्रगति शब्द के पर्याय के रूप में विकास शब्द को व्यवहृत किया है। प्रत्येक पदार्थ में निरंतर संघर्षशील स्थिति बनी रहती है। जब संघर्ष उस दशा में पहुँच जाता है, जहाँ उसमें गुणात्मक परिवर्तन होना चाहिए, तब एकाएक परिवर्तन होता है। स्थिति बदल जाती है, क्रम टूट जाता है, रूप उत्पन्न हो जाता है, इसी को विकास कहते हैं। प्रत्येक युग में जिस वर्ग के हाथ में उत्पादन के साधन होते हैं और जो शासक होता है, उसी की विचारधारा चलती है। इसके विरोध में शोषितों का प्रतिनिधित्व करनेवाली विचारधारा के उपस्थित होने से दोनों वर्गों में संघर्ष आरंभ हो जाता है। कार्ल मार्क्स ने उत्पादन-संबंधों का विवेचन करते हुए मानव के विकासात्मक इतिहास को पाँच भागों में विभक्त किया है—आदिम साम्यवादी युग, दास युग, सामंती युग, पूँजीवादी युग, समाजवादी युग आदि।⁸

मारिस कार्न फोर्थ ने मार्क्स की प्रगति को नियम-शासित प्रयोग-सापेक्ष एवं परीक्षणीय बतलाया है।⁹ साहित्य के संदर्भ में प्रगतिवाद का प्रयोग शोषणमुक्त मानव-समाज की संकल्पना को मूर्त रूप प्रदान करता है। प्रगतिवादी चिंतन और मूल्य को स्वीकार किए बिना मानव-समाज

का विकास संभव नहीं है। व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए प्रगतिवादी चिंतन जहाँ संघर्षशीलता एवं क्रांतिधर्मिता को हथियार के रूप में इस्तेमाल करता है, वहाँ साहित्य की सार्थकता स्वतः स्पष्ट होने लगती है। कबीर, भारतेंदु हरिश्चंद्र, रामधारीसिंह 'दिनकर', मुंशी प्रेमचंद, निराला, मुक्तिबोध आदि रचनाकारों की रचनाओं को दृष्टिगत रखते हुए प्रगतिवादिता की वास्तविक अर्थवत्ता का आकलन किया जा सकता है। अतः यह कहना उपयुक्त है कि मार्क्सवादी चिंतन एवं साम्यवादी अवधारणा से संचालित होनेवाला आयाम ही प्रगतिवादिता है।

यथार्थवादी समीक्षा-दृष्टि का जनक रूस के प्रगतिवादी विचारक वैलिंस्की को माना जाता है। वैलिंस्की के कला-संबंधी दृष्टिकोण के ये तीन मूलभूत विचारसूत्र हैं— वास्तविकता, कलापूर्णता और प्रतिभा। उनके अनुसार वास्तविकता आधुनिक जगत् का चरम नारा है। तथ्यों में, अर्थों में, विश्वासों में, मानसिक निष्कर्षों में हर जगह हर चीज में वास्तविकता हमारे युग का पहला और अंतिम स्वर है।¹⁰

डा० रणजीत ने साहित्य की सोद्देश्यता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'साहित्य के प्रति प्रगतिवादी दृष्टिकोण के दो पक्ष हैं— उसका विश्लेषणात्मक कार्य-कारण संबंधों की खोज करनेवाला वैज्ञानिक पक्ष और उसके आदर्शों का निरूपण करनेवाला उसका आदर्श-विधायक पक्ष। पहला पक्ष साहित्य को उसके सामाजिक-आर्थिक मूलाधारों के संदर्भ में रखकर देखता है और उसका विश्लेषण करता है, जबकि दूसरा पक्ष साहित्य के ऐसे मानदंडों का निर्माण करता है, जिसके आधार पर किसी साहित्य को प्रगतिवादी या अप्रगतिवादी, श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ कहा जा सकता है। प्रगतिवादी दृष्टिकोण का विश्लेषणात्मक पक्ष साहित्य की उत्पत्ति के, उसकी प्रकृति के और साहित्य-संबंधों के विवेचन में अभिव्यक्त होता है।'¹¹

राल्फ फाक्स का कहना है— 'लेखक का काम उपदेश झाड़ना नहीं, बल्कि जीवन का वास्तविक ऐतिहासिक चित्र प्रस्तुत करना है।'¹² डा० रामविलास शर्मा ने साहित्य की सोद्देश्यता के मूल में नए समाज-निर्माण की परिकल्पना को स्वीकार किया है।¹³ साहित्य का प्रगतिवादी होना रचना की मौलिक उपादेयता को इंगित करता है। प्रगतिवादी चिंतन ने साहित्यकार की चेतना को समाज-सापेक्ष माना है। श्रेष्ठ साहित्य वह है, जो जीवन के व्यापक एवं सर्वांगीण रूप को विश्लेषित करता है। प्रगतिवादी साहित्य जीवन की अनुकृति-मात्र नहीं होता, बल्कि उसे निरंतर गति और दिशा प्रदान करता है।

(क) अन्याय के विरुद्ध स्वर :

प्रगतिवादी चिंतन अन्याय-शोषण के हर हथकंडे का विरोध करता है। प्रगतिवादी दृष्टिकोण के आग्रही रचनाकार नियतिवाद एवं भाग्यवाद में विश्वास नहीं करते हैं। वे वर्ग-विभाजन को मानते हैं। उनकी पक्षधरता शोषित और पीड़ित जन-समुदाय के प्रति होती है। विश्वस्तर पर प्रादुर्भूत होनेवाली सामंतवादी, पूँजीवादी आधारित एवं साम्राज्यवादी व्यवस्था का वे सदैव विरोध करते हैं। मार्क्स एवं एंजेलस ने शोषण की प्रक्रिया का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। मार्क्सवादी चिंतन के अनुसार, इतिहास का विकास आर्थिक संबंधों के परिवर्तन का परिणाम है। इन परिवर्तनों के मूलाधार वर्ग हैं। एक वर्ग में वे सभी व्यक्ति या समूह आ जाते हैं, जिनके आर्थिक संबंध एक धरातल पर होते हैं। उत्पादन-प्रणाली और उसके साधनों पर एक वर्ग-विशेष का अधिकार होता है। उत्पादन-प्रक्रिया और वैचारिक स्थिति दोनों को अनुकूल करते हुए

शोषक वर्ग शोषण के नए-नए तरीकों का निर्माण करता है।

शोषण का विरोध भारतेंदु युग में सामंतों, राजाओं, बादशाहों एवं अँग्रेजों के विरुद्ध हुआ था। मार्क्सवादी चिंतन ने प्रगतिशील अवधारणा के अनुरूप शोषण के प्रति विरोधप्रियता के भव को और अधिक उजागर किया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शोषण का विरोध करनेवाले व्यक्तियों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। 'हमारे साहित्यकार ने निश्चित रूप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली। आगे साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के प्रति विरोध व्यक्त कर बाबू बालमुकुंद गुप्त ने पूँजीवादियों को धिक्कारते हुए कहा था—

धनियो! क्या दीन जनों की, सुन सकते नहीं हाहाकार
जिसका मरे पड़ोसी भूखा, उसके जीवन को धिक्कार।
श्री भगवतीचरण वर्मा के विद्रोही स्वर सुनाई पड़ते हैं—
वह राजकाज जो सधा हुआ है, इन भूखे कंगालों पर,
इन साम्राज्यों की नीव पड़ी है, तिल-तिल मिटनेवालो पर।
वे व्यापारी, वे जमींदार जो हैं लक्ष्मी के परम भक्त,
वे निपट निरामिष सूदखोर, पीते मनुष्य का उष्ण रक्त।

इतिहास के अनुभव इसी की सिद्धि के साधन बनकर कल्याणकर और जीवनप्रद हो सकते हैं।¹⁴ वास्तविकता यह है कि शोषण का विरोध करते हुए प्रगतिशील विचारक धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सभी स्थितियों में विद्यमान शोषणधर्मिता के विरुद्ध आवाज उठाता है। 'एंजेल्स ने भी शोषण के मूल में वर्ग-निर्माण की प्रक्रिया को स्वीकार किया है।'¹⁵

'जो वर्गव्यवस्था और शासन में होता है वह धर्मकला, संस्कृति, राजनीति और अन्य विचारधाराओं पर अपना अंकुश रखता है और शासन तथा जन-जीवन की आकांक्षाओं का घोटाला करता है।'¹⁶ प्रगतिवादी साहित्यकार सदैव शोषणधर्मी नीतियों का विरोध करता है।

पूँजीवादी मानसिकता का व्यक्ति भी आम आदमी अथवा शोषित वर्ग के प्रति प्रवंचनाधर्मी नीति के अनुरूप, उसके प्रति कृत्रिम आत्मीयता को प्रकट करता है। समाज के विशिष्ट व्यक्तियों की नीतियों के फलस्वरूप शोषित वर्ग निरंतर घृणित, उत्पीड़ित एवं अपमानित रहता है। प्रगतिवादी रचनाकार शोषित वर्ग का पक्षधर होकर उसे क्रांति, विद्रोह एवं संगठन के लिए उत्प्रेरित करता है। प्रगतिवादी काव्य में दीन-हीन की दशा एवं शोषण का चित्रण करते हुए कवि सुमित्रानंदन पंत कहते हैं—

कृषक :

'युग-युग का वह मारवाह, आकटि नतमस्तक।'

मजदूर :

'वस्त्र के अंबर रचता जा रहा हूँ,
पर न टुकड़ा एक तन को पा रहा हूँ।
नग्न बच्चे, चीथड़ों में हाय नारी—
सिसकती है, पर न कुछ कहती बिचारी।'

भैरवप्रसाद गुप्त का कथन है कि 'हमारे यहाँ की पूँजीवादी व्यवस्था ने अपने मारक समाजवाद से अपने बचाव का यह उपाय निकाला है। साहित्य में आम आदमी का नारा भी इसी

बचाव का एक नुस्खा है, जिससे पूँजीवादी पत्रकार, लेखकों में बेतहाशा बाँट रहे थे।¹⁷

डा० रांगेय राघव का कहना है कि 'प्रगति केवल राजनीतिक नहीं है, वह समग्र मानव का एक नया जीवन-दर्शन है। जो वर्गवाद को मिलाकर एक ऐसा सुखी समाज बना सके... वर्गवाद को मिटाने के लिए वह शोषक वर्गों का विरोध करती है। वह यह मानती है कि शोषित वर्ग ही समाज को मुक्त करके वर्गहीन समाज का निर्माण कर सकते हैं।' ¹⁸

प्रगतिवादी विचारक एवं रचनाकार समाज एवं देश के शोषित, प्रताड़ित, उपेक्षित, दीन-हीन, अर्किचन एवं दिशाहीन मानव-समुदाय का निरंतर पक्ष लेता है। किसान-मजदूर एवं सर्वहारा वर्ग के लोग उसी रचना और चिंतन के आयाम प्रतीत होते हैं। समाज में दो तरह का जनसमुदाय होता है— पहला, आम आदमी, जो जीवन-निर्वाह के हर परिवेश को अनुकूल करने के लिए छटपटाता रहता है, किंतु दिशाहीनता, अज्ञानता, अशिक्षा और असंगठन आदि के कारण वह मानवीय अधिकार को ग्रहीत नहीं कर पाता है। प्रगतिवादी चिंतन ऐसे ही आम आदमी की बेजान जिंदगी में हरियाली और उल्लास लाने के लिए उसे अपने चिंतन एवं रचना का माध्यम बनाता है। दूसरा समुदाय वह है, जो आम आदमी के नाम पर जन-समूह को गुमराह करने की कोशिश करता है, जो उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। अतः शोषित वर्ग के अंतर्मन में विद्रोह एवं क्रांति उत्पन्न करने का प्रयास ही प्रगतिवादी चिंतन का लक्ष्य है। प्रगतिवादी चिंतन पूँजीवादी मानसिकता से प्रभावित समाज के वर्ग-विशेष का निरंतर विरोध करता है और उसके खोखले एवं निस्सार विचार-तंत्र को अनावृत्त करता रहता है और समाज के सामान्य-जन को अपने अधिकार आदि के लिए प्रोत्साहित करता रहता है।

डा० रामविलास शर्मा ने प्रगतिवादी चिंतन की अवधारणा स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'जनता की एकता हमारा मार्ग और ऐसा समाज हमारा लक्ष्य हो, जिसमें पीड़ित और अपमानित मनुष्य को हताश होकर रहस्यमय देव की तरफ़ फिर हाथ न उठाना पड़े।¹⁹ डा० शर्मा ने धर्म के नाम पर सामान्यजन अर्थात् आम आदमी को गुमराह करनेवाली साजिशों का अपनी प्रगतिवादी चिंतन-दृष्टि के माध्यम से विरोध किया है। श्री गयाप्रसाद सनेही धार्मिक रूढ़ियों के नाम पर अपना स्वार्थ-साधन करनेवालों के प्रति व्यंग्य करते हैं—

छुरी बगल में, मुख में राम, भोले-भाले मरे तमाम
ठगो, निकालो अपना काम, मूढ़ो बन जाओ हज्जाम।
डालो दाना, डालो दाम, रघुपति राघव राजा राम।
हिंदू औ' अहले-इस्लाम करें दूर से तुम्हें सलाम।
बनो महंत लगे न दाम, घर बन जाए पाँचवाँ धाम।
ध्वनि से गुँजे नगर तमाम, रघुपति राघव राजा राम।²⁰
धार्मिक रूढ़ियों से जकड़े भारतीयों पर व्यंग्य करते हुए सनेही जी—
कोई मसीह से मान के मुक्ति को,
पाप के बाप के दो छुड़ा छक्के।
गाजी मियाँ की मनोती करो कुछ,
काशी चलो, तो चलो कुछ मक्के।
सीख सीखो सिख के गुरु ग्रंथ से,

पत्थर पूजो सनातनी पक्के।
बंदगी यों ही बजाते रहो बस,
खाते रहो तुम धर्म के धक्के।²¹

(ख) भ्रष्ट व्यवस्था-विरोधी स्वर :

प्रगतिवादी कवि वर्तमान भ्रष्ट व्यवस्था से असंतुष्ट है, क्योंकि यह व्यवस्था मानव का मानव द्वारा शोषण करवा रही है। उसमें सबकुछ बदल डालने की तीव्र आकांक्षा है। यही कारण है, कि प्रगतिवादी कविता में विद्रोह और क्रांति की तीव्र भावना की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। नवीन जनसंस्कृति और समाज की स्थापना के लिए कवियों ने क्रांति का उद्घोष किया है। इस प्रकार की प्रवृत्ति 'सुमन' जी के काव्यों में प्रचुरतया देखने को मिलती है। उन्होंने देश में अपने अधिकारों के लिए निम्नवर्गीय जनता में उत्साह जगाने का कार्य किया, जो उनके प्रथम काव्य-संग्रह 'हिल्लोल' में दिखाई देना प्रारंभ हो जाता है।

प्रगतिवादी कवियों का विचार है कि देश के निर्माण के लिए क्रांति अनिवार्य है। इसके लिए देश का स्वतंत्र होना आवश्यक है, क्योंकि परवशता की जजीर में जकड़े रहकर कोई भी राष्ट्र प्रगति नहीं कर सकता। यह तो 'विप्लव की बेला है' शीर्षक कविता में प्रगतिवादी कवियों ने ओजस्वी स्वर में सभी देशवासियों को आत्मबलिदान के लिए प्रेरित किया है और प्रत्येक मनुष्य को भारत माँ की रक्षा के लिए कर्म और शक्ति का संदेश दिया है। वह भारत माँ की रक्षा-हेतु सदियों से गुलाम देश को स्वतंत्र कराने की चेष्टा में लगा है और उसके लिए विशेष रूप से क्रांति के मार्ग में ही दिखाई देता है। यदि मनुष्य हृदय में विश्वास लेकर आगे बढ़े तो अवश्य ही अन्यायियों का उन्मूलन होगा। इसीलिए प्रगतिवादी कवि क्रांति करने के लिए प्रतिक्षण तत्पर रहते हैं।

देश की दुर्दशा से प्रगतिवादी कवियों का मन बहुत निराश है। यही कारण है कि उनमें देश में हो रहे कार्यों के विरुद्ध विद्रोह की आग हरदम धधकती रहती है। कवि 'सुमन' महात्मा गांधी, चंद्रशेखर आज़ाद, भगतसिंह जैसे महान क्रांतिकारियों के संपर्क में आए। यही लोग भ्रष्ट व्यवस्था के विरोध में संघर्षरत रहे। इसलिए उनकी काव्यशक्ति क्रांति का रूप धारण करने लगी प्रथमतः तो क्रांति की आग चिंगारी का रूप लेकर प्रकट हुई, लेकिन अतंतः उसका परिणयन विकट ज्वाला के रूप में हुआ।

प्रगतिवादी कवियों के क्रांतिकारी विचारों के विषय में विश्वंभर 'मानव' ने लिखा है— 'सुमन जी की काव्य रचनाओं में 'निराला' और 'दिनकर' का समन्वित ओज मिलता है, जिसकी भूमिका भावात्मक है और जिसमें एक अदम्य उत्साह झलकता है।²² विश्वास बढ़ता ही गया संग्रह की 'नई आग है' शीर्षक कविता में प्रगतिवादी कवियों ने भारतवासियों को उनकी दासता एवं पददलित अवस्था का बोध कराकर साम्राज्यवाद का अंत करने के लिए उनमें क्रांतिकारी भावों की सृष्टि की है।

'विद्रोह करो इसी प्रकार विद्रोह करो' शीर्षक कविता में प्रगतिवादी कवि प्रत्येक प्राणी की अकर्मण्यता को दूर कर कर्मशील बनने को प्रेरित करता है। प्रगतिवादी कवियों का विचार है कि कर्म करते हुए जीवनयापन करने में ही मनुष्य के जीवन की सार्थकता है।

सामंतवादी व्यवस्था के कारण समाज में विषमता फैलती है। परिणामतः साधन-संपन्न

पूँजीपति वर्ग ने सर्वहारा वर्ग के लोगों का जीवन विषाक्त बना दिया है, जिससे समाज में असमानता व्याप्त हो गई है। इस संदर्भ में डा० पारसनाथ मिश्र ने लिखा है— 'इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या के अनुसार समाज में होनेवाले परिवर्तन चाहे राजनीतिक हों या सामाजिक, आर्थिक कारणों से प्रभावित होते हैं। उत्पादन और वितरण की व्यवस्था में आनेवाला वैषम्य ही आर्थिक कारणों को जन्म देता है।'²³

सामाजिक प्रगति समाज के लोगों की क्रियाशीलता पर निर्भर करती है, जो समाज जितना ही क्रियाशील होगा, वह उतना ही समुन्नत एवं प्रगतिशील होगा। इसीलिए शिवमंगल सिंह 'सुमन' की दृष्टि से हमारी आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव पहले हमारी भाव-चेतना पर पड़ता है और भाव-चेतना का सामाजिक चेतना से उतना ही अविच्छेद संबंध है, जितना व्यक्ति का और समाज का और फिर इसी सामाजिक चेतना की क्रिया-प्रक्रिया हमारे सारे वातावरण तथा राजनीतिक जीवन को प्रभावित करती रहती है, यहाँ तक कि धीरे-धीरे वह हमारी मूलभूत आर्थिक परिस्थितियों को ही परिवर्तित कर देती है।'²⁴

जहाँ एक ओर समाज का शोषक वर्ग इस बात से परेशान है कि क्या-क्या खाकर पैसा खर्च करे, वहीं दूसरी ओर शोषित वर्ग परेशान है कि क्या खाकर पेट भरा जाए। पेट की आग मानव को नाली का मैला-कचरा भी बीनकर खाने को विवश कर देती है। समाज की इस दयनीय दशा से प्रगतिवादी कवियों का मन क्षुब्ध हो उठता है, ऐसी स्थिति से मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रगतिशील कवि शोषितों को संघर्ष करने के लिए प्रेरित करते हैं।

डा० पारसनाथ मिश्र ने सर्वहारा वर्ग के विषय में लिखा है—'पूँजीवाद ने आज की दुनिया में मनुष्य के नग्न स्वार्थ को खुलकर बोलने का अवसर और उन्मुक्त धरातल प्रदान किया है। आज यदि एक ओर समाज के लगभग सभी बुद्धिजीवी—डाक्टर, वकील, साहित्यकार, पत्रकार और वैज्ञानिक वेतनभोगी श्रमिकों के रूप में परिवर्तित कर दिए गए हैं, तो दूसरी ओर पूँजीवादी पाशविक शोषण के फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग के द्वारा समाज की वैकल्पिक प्रगति भावी नवसमाज के निर्माण की ओर आगे बढ़ने लगी है। सर्वहारा वर्ग शोषण से मुक्त यथार्थ मानवीय संबंधों की स्थापना में सक्रिय हो उठा है, अतः एव प्रगतिवादी साहित्यकार का दायित्व है कि मानवीय सत्य के अग्रगामी रूप को प्रकट करने के लिए सर्वहारा के जीवन का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करे।'²⁵

प्रगतिवादी कवि नए युग में मानवतावादी मूल्यों की स्थापना करना चाहते हैं जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को समाज में रहने का समान अधिकार हो। प्रगतिवादी कवियों में विषमता से ग्रस्त समाज को पसंद नहीं किया। उसे अनदेखा करके आगे बढ़ना उनके स्वभाव में ही नहीं है।

कवि 'सुमन' सर्वहारा वर्ग को अधिकार-संपन्न बनाना चाहते हैं। उन्हें उनके साथ पूर्ण सहानुभूति है। ऐसे स्थिति में प्रगतिवादी कवियों का मार्क्सवादी विचारधारा विशेष रूप से प्रभावित करती है। पूँजीवादी जुल्मों के शिकार ग़रीबों की हालत देखकर प्रगतिवादी कवियों का अंतःकरण द्रवित हो उठता है। और जीवन का यथार्थ चित्रण करने के लिए वे बाह्य हो जाते हैं। जैसे—

वे नृशंस है वे जन के श्रम-बल से पोषित
दुहरे धनी, जाँक जंग के भू जिनसे शोषित!
नहीं जिन्हें करनी श्रम से जीविका उपार्जित,

नैतिकता से भी रहते जो अतः अपरिचित।
शैया की क्रीड़ा-कन्दुक है जिनको नारी,
अहमन्य वे, मूढ़, अर्थ छल के व्यभिचारी! ²⁶

‘प्रलय-सजन’ संग्रह के ‘कंकड़-पत्थर’ शीर्षक कवियों में प्रगतिशील कवियों ने दर्शाया है कि किस प्रकार की पूँजीपति वर्ग के द्वारा गरीबों को कंकड़-पत्थर की भाँति उपेक्षित नजरों से देखा गया है एवं उन पर किस ढंग से अत्याचार किया गया है।

प्रगतिवादी कवि ऐसे पूँजीवादी समाज को उखाड़ फेंकना चाहते हैं, जहाँ गरीबों को श्वास लेने का भी अधिकार नहीं है। निम्न वर्ग के लोगों की हालत रास्ते में पड़े कंकड़-पत्थर की भाँति हो गई है, जो हमेशा उच्च वर्ग के पैरों द्वारा इधर-उधर उछाल दिए जाते हैं। समाज में सर्वदा से उपेक्षित जनसमूह के प्रति प्रगतिशील कवियों के हृदय में विशेष सहानुभूति है। दूसरों का भरण-पोषण करनेवाले समाज के निम्न वर्गीय लोगों के प्रति प्रगतिवादी कवियों ने सहृदयता व्यक्त की है।

(ग) सामाजिक सच्चाई की अभिव्यक्ति :

प्रगतिवादी साहित्य शोषण-तंत्र का विरोध करते हुए जहाँ मानव-मुक्ति के प्रति आस्थावान है, वहीं सकारात्मक एवं सापेक्ष मूल्यों की गवेषणा भी करता है। वह मानवतावाद को विरासत के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए प्रतिबद्ध है। प्रगतिवादी रचनाकार की मानवतावादी प्रतिबद्धता आध्यात्मिक और अन्य प्रकार की मानवतावादी अवधारणा से पृथक् है सच्चाई यह है कि मार्क्सवादी रचनाकार की मानवीय अर्थवत्ता का आधार मार्क्सवादी चिंतन है, जहाँ मनुष्य की सत्ता ही सबकुछ है। प्रगतिशील रचनाकार वर्ग संघर्ष में जूझते हुए आनंदित नहीं होता अपितु वर्ग-संघर्ष को समाप्त करने की इच्छा रखता है। प्रगतिवादी चिंतक वैलिस्की का कहना है कि ‘मानव न तो वहशी है न देवता। उसे न पशुबल-प्रेम करना चाहिए न आध्यात्मिक, उसे प्रेम करना चाहिए मानव की तरह। प्रेम चाहे अपना कितना दिव्यीकरण करे लेकिन यह साफ है कि प्रकृति ने मानव को इस अद्भुत भावना से जितना अधिक उसके आनंद के लिए सज्जित किया उतना ही अधिक प्रजनन मानव जाति को बनाए रखने के लिए भी। ²⁷ मानवीय संकल्पना एवं सकारात्मक मूल्यों की तलाश करते हुए मुंशी प्रेमचंद ने जिस प्रगतिशील अर्थात् वस्तुवादी सौंदर्य की बात की है, उसमें उनकी प्रगतिवादिता मानवीय संकल्पना मूर्तिमान हो उठी है’ उपवास और नग्नता में भी सौंदर्य का अस्तित्व संभव है। इसे कदाचित वह कलाकार स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौंदर्य सुंदर स्त्री में हैं—उस बच्चों वाली गरीब रूपरहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को खेत की मेड़ पर सुलाए हुए पसीना बहा रही है। ²⁸ मुंशी प्रेमचंद्र ने मानवीय अवधारणा को महत्त्व प्रदान करते हुए कहा है कि ‘हमें सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी, अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। ²⁹ प्रगतिवादी रचनाकार का क्षेत्र मुख्यतः मानव-जीवन है, जहाँ वह शुभ-अशुभ, सुंदर-असुंदर आदि तथ्यों से मनुष्य का रागात्मक संबंध स्थापित करता है।

प्रगतिवादी कवि मानवमात्र को समान दृष्टि से देखने का पक्षपाती है। उसके मत में लोकहित की भावना ही मानवतावाद है। यह मानवतावाद देश एवं काल की परिधि से ऊपर विश्व-मानव में स्नेह, सौहार्द, एकता एवं समानता का पोषण करता है। प्रगतिशीलता मानवतावाद की ओर ही उन्मुख करती है। मानव को मानव के रूप में प्रतिष्ठित करने की प्रवृत्ति आधुनिक

युग की चिंतनधारा का मुख्य विषय है। मानवीय व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा एवं उसके परित्रिक उत्कर्ष पर जोर देते हुए इस काव्यधारा के कवियों ने मनुष्य की असाधारण क्षमताओं की ओर संकेत किया है।

संदर्भ

1. संस्कृत शब्दार्थ कोशत्रुभ, पृ० 724
2. वृहत हिंदी कोश, पृ० 834
3. New Practical Standard Dictionary of the English Language Britanica Word Language, P.1024
4. मुंशी प्रेमचंद, साहित्य का उद्देश्य, पृ० 15
5. रांगेय राघव, प्रगतिवादी-साहित्य के मानदंड, पृ० 328
6. M. Cornforth, Dialectical Materialism, P. 60
7. J.V.I. Lanin, Marx Engels, Marxism, P. 29
8. M. Cornforth, Dialectical Materialism, P. 60
9. M. Conforth, Marxim Today Theoretical and Discussion Journal of the Communist Party, July 1962 P. 205
10. शिवदान सिंह चौहान, आलोचना के मान, पृ० 131
11. डा० रणजीत, हिंदी की प्रगतिवादी कविता, पृ० 54
12. राल्फ फाक्स, द नोबेल एंड द पीपुल, पृ० 106
13. डा० रामविलास शर्मा, प्रगति और परंपरा, पृ० 140
14. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी-साहित्य, पृ० 495
15. एफ. एंजेलस, सेलेक्टेड वर्क्स, भाग-2, पृ० 139
16. डा० नरूद्देद, समकालीन हिंदी-कविता में जनवादी चेतना, पृ० 45
17. अवकाश, सं० सुरेश बेदी, पृ० 71
18. डा० रांगेय राघव, प्रगतिशील साहित्य के मानदंड, पृ० 328
19. डा० रामविलास शर्मा, प्रगतिवादी साहित्य की समस्याएँ, पृ० 328
20. सनेही अभिनंदन ग्रंथ (डा० शिवकुमार मिश्र का लेख) प्रगति के अग्रदूत पृ० 248
21. सनेही जी अभिनंदन ग्रंथ, पृ० 429
22. नई कविता, विश्वंभर मानव, पृ० 47
23. मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल, डा० पारसनाथ मिश्र, पृ० 35
24. जीवन के गान, पृ० 11
25. मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल, डा० पारसनाथ मिश्र, पृ० 65
26. युगवाणी, पृ० 28
27. बेलिंस्की, दर्शन, साहित्य और आलोचना, पृ० 9
28. प्रेमचंद, साहित्य का उद्देश्य, पृ० 13
29. वही, पृ० 13

□ पुत्र श्री लालताप्रसाद सोनकर
ग्राम-कन्हाईपुर, पोस्ट-मुरादगंज (जौनपुर) उ०प्र०

परिमल मंडल के प्रमुख कवि : नरेश मेहता

सुमन चहल, शोधछात्रा, चौ० चरणसिंह विश्वविद्यालय मेरठ
डा० रमेशचंद्र लवानिया, शोध निर्देशक
पूर्व रीडर एवं अध्यक्ष
शंभू दयाल स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाज़ियाबाद (उ.प्र.)

सन् 1940 ई० में एक ओर स्वतंत्रता-आंदोलन चल रहा था, तो दूसरी ओर इलाहाबाद राजनीति, साहित्य और संस्कृति का अत्यंत महत्वपूर्ण केंद्र था। सन् 1944 ई० के आस-पास इलाहाबाद विश्वविद्यालय के चार-छः विद्यार्थी कविता-पाठ के नाम पर इधर-उधर गोष्ठियाँ करते रहते थे। काफी समय के उपरांत 10 दिसंबर 1944 ई० की शाम को उन्हीं विद्यार्थी-कवियों की एक गोष्ठी हुई, जिसका नाम कालांतर में 'परिमल' पड़ा। 'परिमल' मंडल इलाहाबाद की 1940 ई० के साहित्यिक और सांस्कृतिक परिवेश और परिस्थितियों की संकल्पना थी। परिमल के सदस्य पहले मित्र बने फिर साहित्यकार।

परिमल की स्थापना, 'साहित्यिक क्षेत्र में प्रत्येक साहित्यकार के व्यक्तित्व की स्वतंत्र सत्ता की स्वीकृति पर आधारित है। परिमल न तो बाह्यारोपित अनुशासन का कायल है और न वह उस नियंत्रण में विश्वास करता है। उसका विश्वास साहित्यिक उदारता में है, विचारों के प्रति सहिष्णु होने में है, दृष्टि की समुज्ज्वलता में है, व्यवहार की व्यापकता और समग्रता में है।' परिमल मंडल की यही प्रमुख आधारभूमि थी, जिसके बल पर परिमल के मंच से सदैव उसके पक्ष और विपक्ष में चर्चा-परिचर्चाएँ, गोष्ठियाँ व वार्ताएँ होती रहती थीं। परिमल मंडल का प्रमुख उद्देश्य साहित्यिक मर्यादाओं की रक्षा और नई संभावनाओं को स्वीकार करके सतत गतिशील रहना था। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समय-समय पर परिमल की गोष्ठियों का आयोजन किया जाता था। 'परिमल मंडल' बिना किसी गुटबंदी के बहुत दिनों तक उच्चस्तरीय साहित्यिक गतिविधियों में संलग्न रहा तथा इसके अनेक सदस्य शीर्षस्थ साहित्यकारों के रूप में ख्यात हुए।² इन शीर्षस्थ साहित्यकारों में नरेश मेहता का स्थान भी कम नहीं है।

नरेश मेहता का जन्म 15 फरवरी 1922 को ब्राह्मण परिवार में शाजापुर कस्बे में हुआ। इनके पिता का नाम पं० बिहारीलाल शुक्ल था। मालवा व उज्जैन जहाँ नरेश मेहता की बाल्यावस्था व किशोरावस्था व्यतीत हुई, उनके साहित्यिक चित्रण का केंद्र-बिंदु है। कविताओं में उन्हें 'मालवी फाल्गुन' आकर्षित करता है तो उपन्यासों में मालवा, उज्जैन अपनी समस्त विशिष्टताओं के साथ उपस्थित होता है। दुर्गा के पुत्रों के यज्ञोपवीत के अवसर पर लेखक ने जिस प्रकार का चित्रण किया है, उससे उज्जैन का, प्रकारांतर से मेहता जी का सामाजिक वातावरण प्रत्यक्ष हो उठता है।³

बनारस में मेहता को पं० केशवप्रसाद मिश्र, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र तथा नंददुलारे वाजपेयी जैसे ऋषितुल्य विद्वानों का सान्निध्य प्राप्त हुआ। पं० केशवप्रसाद मिश्र की भाषिक सजगता के वे कायल हैं। 'बनारस में ही मेहता जी ने वेद पढ़ना आरंभ किया। इस प्रकार ज्ञान और अनुभव में वह निरंतर वृद्धि करते रहे। सन् 1942-43 में उन्होंने वैदिक कविताएँ लिखनी आरंभ कर दी।' ⁴

सन् 1948 में जब 'आल इंडिया रेडियो' में नौकरी के क्रम में नरेश मेहता लखनऊ गए तो वहाँ उनका परिचय गिरिजाकुमार माथुर तथा परिमल मंडल के सदस्यों से हुआ। 1952 में उनका स्थानांतरण नागपुर के लिए हो गया, वहाँ उनका परिचय गजानन माधव मुक्तिबोध से हुआ। 'सन् 1954-59 तक के दिल्ली-निवास के दिनों में नरेश जी का संबंध निर्मल वर्मा, कृष्णा सोवती, रामकुमार वर्मा, मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, मनोहर श्याम जोशी, सुरेश अवस्थी आदि से हुआ। दिल्ली में नरेश जी ने जितना साहित्यिक नेतृत्व किया उतना लेखन नहीं।' ⁵

वस्तुतः कहा जा सकता है कि प्रारंभ से ही नरेश मेहता को साहित्यिक वातावरण प्राप्त हुआ। घर में चाचा और दीदी सृजन में रत थे। आगे चलकर अन्य अनेक विद्वानों का सान्निध्य प्राप्त हुआ। लेखक बनने के क्रम में मुख्य रूप से उनकी तैयारी कवि के लिए थी। 1944 से 1970 तक परिमल-मंडल के बराबर सदस्य बने रहे व नियमित रूप से परिमल की गोष्ठियों में भाग लेते रहे तथा साहित्य-सृजन करते रहे।

नरेश मेहता की रचनाएँ :

1. **मुक्तक रचनाएँ** : तुम मेरा मौन हो, बनपाखी सुनो, बोलने दो चीड़ को, मेरा समर्पित एकांत।

2. **प्रबन्धकाव्य** : संशय की एक रात, महाप्रस्थान, प्रवाद-पर्व, शबरी।

3. **उपन्यास** : डूबते मस्तूल, प्रथम फाल्गुन, नयी यशस्वी, उत्तर कथा (दो भाग), यह पथ बंधु था।

4. **निबन्ध** : काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व।

परिमल-मंडल के प्रमुख कवि नरेश मेहता की प्रारंभिक कविताएँ छायावादी एवं रहस्यवादी ढंग की थीं, परंतु आगे चलकर उन्होंने उसे कविता कहने से इंकार कर दिया। अपनी पिछली कविताओं पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं—

'अपनी पिछली छायावादी एवं रहस्यवादी कविताओं को मैं कविता नहीं मानता। क्योंकि किसी भी प्रकार के प्रभाव में लिखी गई कविता को द्वितीय श्रेणी का काव्य कहना होगा और यह द्वितीय वाली बात मुझे पसंद नहीं है।' ⁶

नरेश मेहता की कविताएँ सर्वप्रथम 'दूसरा सप्तक' में, जिसके संपादक अज्ञेय हैं, प्रकाशित हुई थीं। उसके बाद से उनके अनेक काव्य-संग्रह स्वतंत्र रूप से प्रकाशित हुए हैं। ⁷

यहाँ संक्षेप में नरेश मेहता के काव्य का परिचय दिया जा रहा है। 'काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व' में नरेश मेहता ने लिखा है कि 'काव्य प्रथमतः अभिव्यक्ति है पर अनिवार्यतः 'पर' के प्रति संप्रेषण भी। वे कविता को आत्माभिव्यक्ति ही नहीं मानते वरन् यह भी मानते हैं कि कविता मानवीय औदात्य की अभिव्यक्ति एवं मानवीय मन की ऊर्ध्वचेता आकांक्षा है। कविता और कवि के संबंधों को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि सृजन की उदात्तता के लिए कवि को

स्वयं कविता बन जाना पड़ता है— कविता अवतरित होती है, घटित होती है।⁸ उत्सवा की भूमिका में उन्होंने कविता को 'सर्वत्र तथा सार्वकालिक भाव से नित्य उपस्थित' बताया है और उसे 'शुद्ध शक्ति' की संज्ञा दी है। वे मानते हैं कि कविता कवि का व्यक्तित्व है, उसके संस्कारों की वाहिका है। नरेश मेहता की प्रकाशित काव्यकृतियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार से है—

नरेश मेहता के मुक्तक :

परिमल मंडल के प्रमुख कवि नरेश मेहता के मुक्तक- काव्यों का रचना परिवेश मुख्य रूप से प्रकृतिपरक है, किंतु इसके साथ-साथ उनकी काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न कोणों को लेकर चलती है। यहाँ कवि के मुक्तक काव्य का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रकाशित काव्य-कृतियाँ हैं—

1. दूसरा सप्तक (1951)
2. बनपाखी सुनो (1957)
3. बोलने दो चीड़ को (1961)
4. मेरा समर्पित एकांत (1963)
5. उत्सवा (1969)
6. तुम मेरा मौन हो (1982)

1. दूसरा सप्तक (1951) :

दूसरा सप्तक 'अज्ञेय' द्वारा संपादित एक ऐतिहासिक कविता-संकलन है। नरेश मेहता 'दूसरा सप्तक' के एक कवि हैं। उन्होंने अपने वक्तव्य में यह घोषित किया है कि अपनी पिछली छायावादी एवं रहस्यवादी कविताओं को मैं कविता नहीं मानता।⁹ कवि की इन कविताओं में सौंदर्य और पावनता का अपूर्व समन्वय मिलता है। संकलन में 'समय देवता' नाम की एक लंबी कविता है। यह कविता विश्व मानवतावाद को अंतर्राष्ट्रीय और सांस्कृतिक बोध के सहारे कवि की नवीन चेतना को स्पष्ट करती है। इस कविता में कवि एक ओर धरती की महिमा का गुणगान और मानवीय उपलब्धियों का बखान करता है तो दूसरी ओर मनुष्य की वर्तमान दुर्दशा की अंधकारमय निराशापूर्ण स्थिति की यथार्थता का चित्र भी खींचता है। डॉ॰ हरिचरण शर्मा का कथन है— 'कवि की मानवतावादी दृष्टि की सूचक यह कविता सभी देशों-राज्यों की संस्कृति की व्याख्या करती हुई समय की महत्ता बतलाती है।'¹⁰ अंत में कवि समय-देवता को विदा करते हुए कहता है—

'समय देवता। आज विदा लो
किंतु तुम्हारे रेशम के इस चमक वस्त्र में
मिट्टी का विश्वास बाँधकर भेज रहा हूँ।
मेरी धरती पुष्पवती है, और मनुज की पेशानी के
चरागाह पर दौड़ रही हैं तूफानों की नई हवाएँ।'¹¹

इस प्रकार से 'समय देवता' कविता में कवि ने निज के साथ अपने परिवेश को अभिव्यक्ति दी है। संपूर्ण काव्य आरंभ से अंत तक प्रकृतिचित्र और सांस्कृतिक बोध का कलात्मक संयोजन है।

2. बनपाखी सुनो (1957) :

‘बनपाखी सुनो’ नामक प्रथम काव्य-संग्रह में परिमल मंडल के प्रमुख कवि नरेश मेहता का प्रकृति के प्रति विशेष लगाव दिखलाई पड़ता है। उनका यह आकर्षण प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में विचरते हुए मेघों, बदलियों, कभी संध्या और कभी वर्षा, चंद्रमायनी (चाँदनी) फाल्गुन जल की ओर उन्मुख होता है। तीर्थजल, प्रार्थना तथा बन घासों प्रगतिशील रचनाएँ हैं, जो कवि के भेद-भावरहित खुले उदार हृदय की प्रतीक हैं। कवि के शब्दों में बनघासों कहती हैं—

‘बन घासों/ उन सबकी हैं सखा
सखाहीन जो/ क्योंकि नहीं बरजा है हमने
अपना हृदय-प्रदेश/ क्षितिज छलों के चरण चाँपने
स्वागत करता/ खुले खेत-सा हम बौनों का देश
शिशिर काँस हम/ उन सबकी है सखा/
सखाहीन जो।’¹²

3. बोलने दो चीड़ को (1961)

‘बोलने दो चीड़ को’ दूसरे काव्य-संकलन में नरेश मेहता की सैंतीस कविताओं को स्थान प्राप्त हुआ है। इसका प्रकाशन 1962 में हुआ था। इस काव्य-संकलन में भी कवि की दृष्टि प्रयोगशील है। प्रकृति के प्रति कवि का आसक्तिभाव यहाँ और अधिक गहरा हो गया है।

बूढ़े मसूढ़ों का जुलूस आज की आडंबरपूर्ण सभ्यता पर व्यंग्य है। शिल्प-विधान वस्तु के अनुकूल है और नकली जीवन का अच्छा वातावरण तैयार करता है। यथा—

‘लोमड़ियों की तरह चालाक एक आकाश, जूठे प्याले-सा एक शहर,
फटे हुए विज्ञापन-सी एक शाम।’¹³

शिल्प के धरातल पर यह संग्रह कवि की प्रौढ़ता का द्योतक है। प्रभाकर शर्मा ने ठीक ही लिखा है, ‘बनपाखी सुनो’ जहाँ एक ओर प्रकृति-चेतना का ही काव्य था, वहाँ आलोच्य संग्रह जीवन के विविध स्वर भावोत्तेजक क्षणों की अनुभूतियाँ और ठोस वैचारिकता से युक्त होकर अपना परिचय देता है।’¹⁴

4. मेरा समर्पित एकांत (1963) :

परिमल-मंडल के प्रमुख कवि नरेश मेहता का काव्य-संग्रह ‘मेरा समर्पित एकांत’ कवि का अकेला एकांत नहीं है। अपने इस एकांत को सामाजिकता से जोड़ते हुए प्रकाशमय बनाने तथा युग की लपलपाती आग की लपटों से झुलसे मनुष्य को वर्चस्व देने की कवि की कामना है।

‘मेरा समर्पित एकांत’ काव्य-संग्रह में कवि जीवन के पर्याप्त समीप आ गया है। कहीं व्यथा है, कहीं जीवन की विडंबनाएँ हैं, कहीं शाम की उदासी है और कहीं मानवीय स्वभाव में व्याप्त अहं, प्रतिस्पर्द्धा, ईर्ष्या और विवशता के चित्र हैं। प्रकृति में कभी-कभी पीड़ा और दुख का भी स्वर सुनाई देने लगा है। शाम की उदासी एक प्रतीक बनकर कवि के मानस में उतरती है—

‘एक शाम होती है
जो आकाश में होती है

लेकिन,
 एक शाम होती है
 जो नितांत मुझमें घटती है।'¹⁵
 संग्रह में 'एक संध्यावर्षा प्रकृति का सुंदर चित्र प्रस्तुत करती हुई भी मानवीय जीवन की प्रतीक्षाकुलता का बोध लिए हुए है—
 'दिनभर तो नहीं किंतु मेघ बरसे संध्या को।
 जैसे संतान मिले वर्षोपरांत बन्ध्या को।' ¹⁶
 प्रस्तुत काव्य-संग्रह में मेहता की काव्य-यात्रा का महत्त्वपूर्ण सोपान है। इसमें कवि का भावबोध तथा शिल्पबोध उसकी स्वस्थ प्रयोगशीलता को स्पष्ट करता है।

5. उत्सवा (1979) :

'उत्सवा' काव्य-संग्रह में परिमल-मंडल के प्रमुख कवि नरेश मेहता की वैष्णव धरातल पर स्थापित 'आर्ष-व्यक्तित्व' कविताएँ संकलित हैं। प्रकृति के प्रति कवि का जो अनोखा लगाव है, उसका विविध अभिव्यक्त रूप 'उत्सवा' की कविताओं में दिखाई देता है। दिनारंभ होना कवि के लिए एक पूर्ण फूल खिलने जैसा है। सारे वन-उपवन धरती के काव्य-संकलन और सृष्टि एक उत्सव के समान कवि-मन को आकर्षित करते हैं—

जो जहाँ भी है
 समर्पित है सत्य को
 ये फूल और यह धूप लहलहाते खेत
 नदी का फूल क्या प्रार्थनाएँ नहीं हैं।' ¹⁷

ये सारी वनस्पतियाँ कवि को एक विशाल कौटुंबिकता का अनुभव कराती हैं। पृथ्वी उसके लिए जीवमात्र की 'कवच-नारायणी' है। वह पूतभाव से अभिभूत हो कह उठता है—

'धरती को कहीं से छुओ
 एक ऋचा की प्रतीति होती है।
 देवदारुओं की देह-यष्टि
 क्या उपनिषदीय नहीं लगती?
 तुम्हें नहीं लगता है कि
 इन भोजपत्रों में
 एक वैदिकता है?' ¹⁸

परिमल-मंडल के प्रमुख कवि नरेश मेहता के 'उत्सवा' काव्य-संग्रह की सभी कविताएँ प्रकृति की सांस्कृतिक सुषमा और वैभव की उदात्तता को प्रस्तुत करती हैं।

6. तुम मेरा मौन हो (1982) :

'तुम मेरा मौन हो' काव्य-संकलन परिमल-मंडल के प्रमुख कवि नरेश मेहता की अब तक की रचनाओं से अलग हटकर 'प्रेम-कविताओं' का संकलन है। सैंतालीस कविताओं का काव्य-संकलन कवि के मनोभावों का द्योतक है। प्रस्तुत काव्य-संग्रह में कवि नरेश मेहता ने प्रेयसी की विभिन्न मुद्राओं, स्थितियों, स्मृतियों, अनुभूतियों इत्यादि का सुंदर चित्रण प्राकृतिक धरातल पर किया है।

‘खुले केशों में’ बैठी प्रेयसी कवि को किसी उपन्यास की नायिका-सी प्रतीत होती है। कभी-कभी कवि को ऐसी अनुभूति होती है जैसे प्रिया ने उसके वक्षस्थल पर अपने अधर रख दिए हों—

‘दो दल वाले
एक वैयक्तिक तथा
नितांत गोपनीय,
एकांतिक फूल का नाम ही लिख दिया हो।’

कभी न लौटनेवाली प्रिया की स्मृति कवि को इतना अधिक सताने लगती है कि उसे अपना ‘विश्व-व्यक्तित्व’ ‘धूसरित-सा लगने लगता है।’ और उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह ‘व्यक्ति होकर भी वृक्ष-सदृश’ हो गया है।

प्रिया के स्पर्श-सुख की अनुभूति की तीव्रता से ‘रसस्थली-सी’ बनी कवि की ‘पूरी देह’ झनझना-सी उठती है। ‘तिर्यक्-दृष्टि’ से देखती हुई प्रेयसी का सामना न कर पाने की उसकी विवशता प्रकट होती है—

तिर्यक् दृष्टि से मत देखो
नेत्रों की यह
मध्यकालीन अनुपमेय वल्लभा-भाषा
मैं समझ सकता हूँ
हवा नहीं।’¹⁹

प्रिया का कृपा-भाव से देखना कवि के लिए किसी अलभ्य लाभ से कम नहीं है।

ख. प्रबंधकाव्य :

परिमल-मंडल के प्रमुख कवि नरेश मेहता के प्रबंध-काव्यों में निम्न काव्य-कृतियों का समावेश है—

1. संशय की एक रात (1962)
2. महाप्रस्थान (1995)
3. प्रवाद-पर्व (1977)
4. शबरी (1977)
5. प्रार्थना पुरुष (1962)

1. संशय की एक रात (1962) :

यह एक आख्यानक काव्य है। कवि ने इसमें राम के जीवन के घटनाहीन प्रसंग को अपना विवेच्य बनाया है। काव्य-नाट्य शैली में लिखित प्रस्तुत आख्यानक काव्य का शिल्प प्रतिपाद्य के अनुकूल एवं संवेद्य है। इसकी भाषा संस्कृतनिष्ठ है। शब्द-संयोजन में नवीनता है। सूक्तियों से युक्त, बिंबों से पुष्ट वैचारिक गरिमा से मंडित संपूर्ण कृति सशक्त एवं सुंदर बन गई है।

2. महाप्रस्थान (1975) :

‘महाप्रस्थान’ एक खंडकाव्य है। प्रस्तुत कृति में व्यक्ति, समाज, शासक, राज्य, शासन-व्यवस्था आदि को लेकर कवि ने वैचारिक मंथन किया है। सत्ताधारी पृथ्वी पर रथ की रेख से रक्त-स्नात इतिहास लिखता आया है। सारे अनाचारों के पीछे राज्य-व्यवस्था का दोष,

यह उसका अनिवार्य अंग है, क्योंकि—

क्रूरताओं और षड्यंत्रों का प्रतीक

राजा और राज्य—

मानवीय उदात्तताओं और करुणा के प्रतीक

धर्म के प्रतिपालक नहीं हो सकते।'²⁰

आज मानव को जिस मुक्ति की आवश्यकता है, उसी प्रतीक-पुरुष रूप में युधिष्ठिर इस काव्य में अवतरित हुए हैं।

3. प्रवाद-पर्व (1977) :

प्रवाद-पर्व आख्यानक काव्य में कवि ने राजपुरुष, राज्य और सामान्यजन के निकट संबंधों को स्पष्ट किया है। प्रस्तुत काव्य रामायणी संदर्भ के आधार पर अपने युग-बोध को प्रज्ञा-प्रतीक राम के माध्यम से मानवीय परिप्रेक्ष्य में समाहित करने का सफल प्रयास है। प्रस्तुत काव्य वैचारिकतापूर्ण है और अपनी ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परंपरा में खड़ा सशक्त अर्थपूर्ण तथा मंत्रात्मक सूक्तियों से युक्त संवेदना एवं शिल्प का सुंदर सामंजस्य प्रस्तुत करता है।

4. शबरी (1977) :

'शबरी' की कथा त्रेतायुग की एक दीन-हीन नारी के आत्मिक-आध्यात्मिक संघर्ष की कथा है। प्रस्तुत काव्य सहज भावनाप्रधान खंडकाव्य है। इसकी भाषा प्रवाहपूर्ण तथा अर्थवान है। इसमें कल्पना, विचारणा, प्रश्न-समाधान की एकात्मकता का संयोजन कवि ने बड़ी कुशलता से किया है।

5. प्रार्थना पुरुष (1985) :

'प्रार्थना पुरुष' गांधीगाथा है। इस इतिवृत्तात्मक लघुकृति में कवि ने गांधीजी के जीवन-काल की प्रमुख घटनाओं एवं कार्यों का उल्लेख किया है—

'उसका संदेश है—

पूर्ण अहिंसा औ' सत्याग्रह से विरोध है संभव,

यही मार्ग है जिससे दानवता का पूर्ण पराभव।'²¹

तथा-घृणा नहीं, विद्वेष नहीं केवल निर्भयता मन में,

महाशक्ति जागा करती जब जन हो अनुशासन में।'²²

इस प्रकार गांधी जी बचपन के प्राप्त संस्कारों का निरंतर मार्जन करते हुए जहाँ व्यक्ति-रूप में सिद्ध, महापुरुष और महात्मा बन गए, वहीं अपने संपूर्ण जीवन को उन्होंने जनहित में समर्पित कर दिया।

परिमल-मंडल के प्रमुख कवि नरेश मेहता की अधिकांश कविताओं को देखने के बाद लगता है जैसे वह प्रकृति के सौजन्य से स्वतः प्रस्फुटित हों। कहीं कोई बनावटीपन अथवा अनावश्यक विस्तार का प्रयास दिखाई नहीं देता।

संदर्भ

1. परिमल : स्मृतियाँ और दस्तावेज़, केशवचंद्र वर्मा, पृ० 140
2. परिमल के स्थापना के समय की परिस्थितियाँ, पृ० 17
3. नरेश मेहता का साहित्य : एक अनुशीलन, डा० विद्या सिंह, पृ० 25

4. वही, पृ० 29
5. वही, पृ० 30
6. वक्तव्य, दूसरा सप्तक, नरेश मेहता, पृ० 109
7. नरेश मेहता का साहित्य : एक अनुशीलन, डा० विद्या सिंह, पृ० 31
8. तुम मेरा मौन हो, नरेश मेहता, भूमिका से
9. नई कविता और नरेश मेहता, डा० विमला सिंह, पृ० 45
10. नई कविता : नए धरातल, डा० हरिचरण शर्मा, पृ० 155
11. दूसरा सप्तक, पृ० 133
12. बनपाखी सुनो, पृ० 31
13. बोलने दो चीड़ को, नरेश मेहता, पृ० 72
14. नरेश मेहता का काव्य-विमर्श और मूल्यांकन, प्रभाकर वर्मा, पृ० 17
15. मेरा समर्पित एकांत, नरेश मेहता, पृ० 5
16. वही, पृ० 10
17. उत्सवा, नरेश मेहता, पृ० 39
18. वही, पृ० 49
19. तुम मेरा मौन हो, नरेश मेहता, पृ० 44
20. महाप्रस्थान, नरेश मेहता, पृ० 110
21. प्रार्थना पुरुष, तपस्या की ओर, नरेश मेहता, पृ० 31
22. वही, पृ० 31

□ दिव्य ज्योति अपार्टमेंट, सी-31
सेक्टर-9, रोहिणी, दिल्ली

डा० गिरिराजशरण अग्रवाल के नाटकों में

पारिवारिक संबंध

शकुंतला

परिवार का अर्थ एवं परिभाषा :

परिवार की उत्पत्ति के विषय में स्पष्टतया: कुछ नहीं कहा जा सकता, लेकिन इतना जरूर कहा जा सकता है कि परिवार का जन्म सभ्यता के उदय के साथ-साथ ही हुआ होगा। परिवार की उत्पत्ति दिन-प्रतिदिन की जीवन की माँगों और आवश्यकताओं के कारण ही हुई होगी। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तु ने भी कहा था कि 'परिवार की उत्पत्ति जीवन की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु हुई है।'¹

परिवार का अर्थ :

परिवार (Family) शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द (Economia) से हुई है। इसका अर्थ है 'आर्थिक संगठन'।

1. बील्स तथा हाइज़र ने परिवार को पति-पत्नी तथा बच्चों से कुछ अधिक माना है। उनके अनुसार 'संक्षेप में परिवार को सामाजिक समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसके सदस्य रक्त-संबंधों द्वारा बँधे होते हैं।'²

2. क्लेयर के शब्दों में, 'परिवार से हमारा अभिप्राय, उस संबंध से है, जो माता-पिता तथा बच्चों में विद्यमान होता है।'³

3. मजूमदार के अनुसार, 'परिवार व्यक्तियों का समूह है, जो एक छत के नीचे रहते हैं, मूल और रक्त के संबंधों की अवस्था से संबंधित होते हैं, स्थान, रुचि और अभ्यास के आधार के संबंध की जागरूकता रखते हैं।'⁴

4. बालार्ड के अनुसार, 'परिवार एक मौलिक सामाजिक संस्था है, जिसमें सभी अन्य संस्थाएँ विकसित होती हैं।'⁵

पारिवारिक संबंध :

सामान्य रूप से भारतीय परिवार में माता-पिता, पुत्र-पुत्री अथवा पति-पत्नी और उनकी संतानें होती हैं। सभी में पारस्परिक प्रेम, सौहार्दता और आत्मीयता होती है। प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है कि यथासंभव यथोचित प्यार मान-सम्मान परिवार के अन्य सदस्यों को दे, उसके अभाव में व्यक्ति और परिवार का जीवन अवरुद्ध हो जाता है। सेवाभाव परिवार का प्रमुख आधार है। माता-पिता बच्चों के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करते हैं तथा बच्चे माता-पिता का यथोचित सम्मान करते हैं और उनकी सेवा करते हैं।

माता-पिता संबंध :

ममता की चरमसीमा और आदर्श रूप माता में ही उपलब्ध होता है। माँ क्षमा, त्याग, बलिदान का आदर्श रूप होती है। अपनी संतान की त्रुटियों को ममतावश क्षमा कर देती है।

संतान के अपराधों पर वह ध्यान नहीं देती। उसकी ममता कभी कम नहीं होती है। प्रेम, सहानुभूति, त्याग के गुण संतान माता से ही सीखती है। परिवार का स्थान अत्यंत गौरवपूर्ण होता है। पिता गृहस्वामी और परिवार की संपत्ति का मालिक होता है। पुत्र का धर्म पिता के वचनों का पालन करना है।

डा० गिरिराजशरण अग्रवाल के 'एक अच्छा बेटा', 'अंधा नागदेवता', 'दो थैलियाँ', 'नकलची छात्र', 'आम का पौधा', 'मेहनत का स्वाद', 'एक चुटकी संतोष', 'मुख्य अतिथि' आदि नाटकों में माता-पिता संबंधों को दर्शाया गया है।

'एक अच्छा बेटा' में एक तरफ़ शहंशाह अकबर का पुत्र है, जो अपने ही पिता से युद्ध करना चाहता है और सत्ता हथियाना चाहता है, दूसरी तरफ़ ग़रीब माता-पिता का पुत्र रतनसिंह है, जो अपने माता-पिता की रक्षा के लिए फाँसी पर चढ़ने के लिए तैयार है।

रतनसिंह आज्ञाकारी और होनहार बालक है। वह नहीं चाहता कि सलीम अपने पिता के साथ युद्ध करे। वह बार-बार अपने दोस्त सलीम को समझाता है लेकिन सलीम अपनी बात पर अडिग है और सत्ता के लिए अपने पिता से युद्ध लड़ना चाहता है। सलीम रतनसिंह से कहता है—

सलीम : हमें अब शहंशाह अकबर के विरुद्ध तलवार उठानी पड़ेगी, रतनसिंह। इसके अलावा अब कोई रास्ता नहीं रह गया है।

रतनसिंह : (शांत भाव से) क्या पिता के विरुद्ध युद्ध लड़ोगे शहजादे?

सलीम : क्यों नहीं! राजशाही में कई बार ऐसे मोड़ आते हैं, रतनसिंह।⁶

वस्तुतः कह सकते हैं कि राजसत्ता में कई बार ऐसा ही होता है। अपने खून के रिश्ते ही पराए हो जाते हैं। न तो पिता को अपना बेटा दिखाई देता है और न बेटे को अपना पिता दिखाई देता है। वे पिता-पुत्र के रिश्ते को भूलकर सत्ता हथियाना चाहते हैं। इसलिए चाहे पिता को पुत्र खोना पड़े या फिर पुत्र को पिता खोना पड़े। दूसरी तरफ़ रतनसिंह अपने माता-पिता के लिए स्वयं राजा अकबर के सामने पेश हो जाता है और भूखे माता-पिता की भूख मिटाता है।

'अंधा नागदेवता' में भी संतान व माता-पिता के संबंधों को दर्शाया गया है। संतान की जानने की पहली सीढ़ी उसके अपने माता-पिता हैं। संतान बेझिझक अपने माता-पिता से हर सवाल पूछती है। इस नाटक में किशन बारह वर्ष का है। वह जिज्ञासु, पढ़ने में होशियार तथा चालाक है।

पीपल के पेड़ पर अंधा नागदेवता प्रकट हो गया, इस बात की चर्चा सारे गाँव में हो रही है। किशन भी अपने माता-पिता से अंधा नागदेवता के बारे में पूछता है—

किशन : सुना है बापू नागदेवता के फन पर शिवजी की मूर्ति का चिह्न है।

बापू : हाँ बेटे, मैंने तो खुद देखा है। चिह्न तो है शिवजी की मूर्ति का।

माँ : यह तो किशन बेटे, दूध भी चढ़ा आए देवता को।⁷

किशन बहुत तेज़ तथा चालाक है। वह अपने माता-पिता से नागदेवता के बारे में जानने के बाद स्वयं नागदेवता को देखकर आता है। वह रूढ़िवादी व अंधविश्वासी नहीं है। वह उस अंधे नागदेवता को पकड़कर गाँववालों के सामने लाता है। वह अंधा नागदेवता वही साँप था, जो थोड़े दिनों पहले गाँववालों ने मदारी के पास देखा था। किशन गाँववालों का देवता प्रकट होने

का भ्रम दूर करता है तथा गाँव के प्रधान का भंडा-फोड़ कर देता है।

‘नकलची छात्र’ में संतान व माता-पिता के संबंध को दर्शाया गया है। माता-पिता अपनी संतान का बिना किसी लालच के पालन-पोषण करते हैं। परंतु आजकल की संतान माता-पिता के उस प्रेम का अनुचित लाभ उठाकर उन्हें गुमराह करती है, जिसका परिणाम अच्छा नहीं रहता। माता-पिता सोचते हैं कि उनकी संतान अच्छी प्रकार से शिक्षा ग्रहण कर रही है, लेकिन परिणाम के अच्छा न रहने पर माता-पिता को बहुत दुःख होता है।

इस नाटक में हरीश आलसी तथा कामचोर है। पढ़ाई में उसका बिल्कुल मन नहीं है। वह पढ़ने का दिखावा करके नाँविल पढ़ता रहता है। वह अपने-आपको तथा माता-पिता को धोखा देता है। हरीश के पिता अपने बेटे से कहते हैं—

मायाराम : अब तो आठवीं कक्षा की परीक्षा भी बोर्ड जैसे महत्त्व की हो गई। गणित और अँग्रेजी की तैयारी अच्छी तरह कर लेना बेटे!

हरीश : बहुत अच्छा पिताजी!

साधना : अब के तो जी, इसने रात को बारह-बारह बजे तक किताबों में सिर खपाया है।⁸

माता-पिता का कर्तव्य होता है बच्चों को समझाना, उन्हें उनकी गलतियों से अवगत कराना। यदि बच्चे उन पर अमल करें तो उनकी गाड़ी पार हो जाती है। नहीं तो वे पिछड़ती रह जाते हैं।

प्रत्येक माता-पिता अपने बच्चों से बहुत प्यार करते हैं। गरीब माता-पिता के पास तो अपने बच्चों को प्यार देने के अतिरिक्त होता ही क्या है? माता-पिता भी अपने बच्चों से उस प्यार के बदले कुछ इच्छाएँ, कुछ अरमान व सपने देखते हैं। परंतु बच्चे बड़े होकर उन सब इच्छाओं पर पानी फेर देते हैं तो माता-पिता को दुःख होना स्वाभाविक ही है।

‘मेहनत का स्वाद’ में मंगलू मेहनती है, लेकिन उसके बच्चे गंगाराम व दाताराम निठल्ले, निकम्मे, कामचोर हैं। माता-पिता दोनों बच्चों की हरकतों से परेशान हैं। मैना अपने बच्चों को संबोधित करती हुई कहती है—

मैना : कुछ तो शरम किया करो गंगा, दाता। सारे दिन का थका-हारा बाप घर में आया तो तुम उसका इतना भी हाथ नहीं बँटा सकते।

गंगाराम : इस किस्से को छोड़ माँ। भूख लगी है, जल्दी से खाना दे।

मैना : तुम्हें घर की चिंता कब होगी लड़को, हद कर दी तुमने तो।⁹

माता-पिता बहुत खुश थे, जब उनके घर में दो बेटे पैदा हुए। वे सोचते थे कि बेटे बड़े होकर वृद्ध अवस्था में सहारा बनेंगे। माता-पिता का नाम रोशन करेंगे। हर काम में हाथ बटाएँगे अपने पिता के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर काम करेंगे। लेकिन माता-पिता का सपना तो सपना ही रह गया, क्योंकि गंगा, दाता दोनों इतने आलसी, कामचोर हैं कि तीनों समय घर पर आकर खाना तो खा जाते हैं, घर का काम बताने पर बहाने बनाने लग जाते हैं। दोनों अपनी हरकतों से बाज नहीं आते। अपने दुःखी माता-पिता को और अधिक दुःखी करते हैं। माता-पिता अपने दोनों बच्चों को लेकर दुःखी हैं।

‘मुख्य अतिथि’ में भी संतान व माता-पिता के संबंधों का दिग्दर्शन हुआ है। कहते हैं

कि सबका मालिक एक है। जब सबका मालिक एक है तो ये वर्ण-व्यवस्था कहाँ से आई? ये वर्ण-व्यवस्था भगवान ने नहीं बनाई, बल्कि मनुष्य ने स्वयं बनाई है। भगवान की दृष्टि में सभी मनुष्य एक समान हैं। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भी छुआछूत शब्द को समाप्त किया गया है। कोई भी मनुष्य किसी भी मनुष्य से किसी भी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं करेगा। मनुष्य वर्ण से बड़ा नहीं, बल्कि कर्म से बड़ा है। यही बात 'मुख्य अतिथि' नाटक में पंकज समझ गया है। पंकज की नौवीं वर्षगाँठ मनाई जा रही है। सभी रिश्तेदारों को आमंत्रित किया गया है। इसी खुशी में प्रश्न यह ही उठता है कि इसमें मुख्य अतिथि कौन होगा? घर के सभी सदस्य बड़े-बड़े नेता, डाक्टर, प्रिंसिपल आदि को निमंत्रण देने के लिए कहते हैं, लेकिन पंकज सबका विरोध करता है तथा अपने स्कूल के चपरासी सुखन चाचा को आमंत्रित करता है। पंकज सभी का विरोध करता हुआ कहता है—

पंकज : समझ में क्यों नहीं आएँगी मम्मी? जिस तरह के आदमी हम सब हैं, वैसे ही सुखन चाचा भी हैं।

हरिराज : आदमी तो वह भी हैं पर ...

पंकज : पर वह गरीब हैं ना, बस इसीलिए आप।

शोभना : बात गरीब की नहीं है, सुखन तो चपरासी है तुम्हारे स्कूल का।

पंकज : पर सुखन चाचा तो बहुत अच्छे आदमी हैं मम्मी, सभी बच्चों से बहुत प्यार करते हैं वे। हर समय बच्चों की सेवा में लगे रहते हैं बेचारे। मुझे तो बहुत चाहते हैं वे।¹⁰

वस्तुतः कह सकते हैं कि बच्चे ज़िद्दी होते हैं और माता-पिता अपने बच्चों की खुशी में ही अपनी खुशी ढूँढ़ते हैं। अपने बच्चों की ज़िद् के आगे माता-पिता झुक जाते हैं। इसलिए हरिराज व शोभना अपने बच्चे की खुशी के लिए अपने बेटे की बात मानते हैं तथा मुख्य अतिथि के रूप में सुखन चाचा को ही आमंत्रित करते हैं।

(ख) पति-पत्नी संबंध :

पति-पत्नी का परिवारिक जीवन तभी सुखी और संतोषजनक हो सकता है, जब पति-पत्नी में परस्पर स्नेह, सहयोग, आत्मविश्वास व प्रेम की भावना हो। पति-पत्नी का संबंध भारतीय धर्म और संस्कृति में पवित्रता के उच्च शिखर पर आसीन रहा है। पति-पत्नी वह केंद्रीय संबंध है, जहाँ से अन्य सभी संबंध शुरू होते हैं। पति-पत्नी गाड़ी के दो पहिए के समान हैं। यदि गाड़ी के दोनों पहिए ठीक हों तो मंज़िल आसानी से मिल जाती है। यदि पति-पत्नी के संबंधों में मधुरता, प्यार, विश्वास है तो जीवन की नैया आराम से पार हो जाती है, यदि उनमें कड़वाहट आ जाती है तो नैया भवसागर के बीच डूब जाती है।

डा० अग्रवाल के नाटक 'वेतन', 'गीत पूरा हो गया।', 'मैं धनकलाल हूँ धनकू नहीं', 'दूधियों से इंटरव्यू' आदि में पति-पत्नी के संबंध को दर्शाया गया है।

अतीत से लेकर आधुनिक काल तक अर्थ सर्वोपरि रहा है। अर्थ आज तक पुरुषों के हाथों में रहा है और रहेगा भी। महिलाएँ नौकरी करके पैसा तो कमाती हैं, लेकिन उस पर भी पुरुष का अधिकार है। इस पितृसत्तात्मक समाज में आज तक किसी ने भी इस ओर नहीं सोचा कि पुरुषों के साथ-साथ महिलाओं का भी अर्थ पर कुछ अधिकार होना चाहिए। उसकी भी

अपनी कुछ इच्छाएँ होती हैं।

इस विषय में साहित्यिक दृष्टि से डा० अग्रवाल ने अपने नाटक 'वेतन' में सोचने और इस समस्या का समाधान करने का एक उपाय निकाला है कि पुरुषों को प्रतिमाह अपनी पत्नी को अपनी आय का कुछ हिस्सा वेतन के रूप में देना चाहिए, जिससे कि पत्नियाँ आर्थिक रूप से सुदृढ़ हो सकें और अपनी इच्छाएँ पूरी कर सकें तथा भविष्य के लिए भी कुछ बचाकर रख सकें।

अमिताभ अपनी पत्नी से बहुत प्रेम करता है। उसकी पत्नी सुबह से लेकर शाम तक 16 घंटे काम करती है परंतु उसे उसके परिश्रम का कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाता। अमिताभ अपनी पत्नी के परिश्रम की तारीफ़ करता हुआ कहता है—

अभिताभ : बच्चों के काम में, माँ की सेवा में, तुम कितना काम करती हो, सोचकर आश्चर्य होता है।

साधना : मैं ही ऐसा क्या करती हूँ अमिताभ, सभी गृहणियाँ काम करती हैं।¹¹

वस्तुतः अमिताभ और साधना दोनों एक-दूसरे से प्रेम करते हैं। दोनों में विश्वास, प्रेम, स्नेह, त्याग की भावना विद्यमान है। इसीलिए अमिताभ अपनी पत्नी को आर्थिक सुरक्षा देना चाहता है ताकि उसकी पत्नी अपने-आपको सुरक्षित समझे। वह अपनी पत्नी की ही नहीं, उन गृहणियों की भी बात करता है, जो सदियों से आर्थिक दासता सहती आ रही हैं।

'गीत पूरा हो गया' में भी पति-पत्नी संबंध को दर्शाया गया है। दांपत्य जीवन में पति-पत्नी में सदैव प्रेम के साथ-साथ झगड़ा भी होता रहता है। फिर भी वे एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं।

'गीत पूरा हो गया' नाटक में आनंद अपनी साहित्य-रचना में लीन होने के कारण अपनी पत्नी को समय नहीं दे पाता। वह अपनी कल्पनाओं में इतना अधिक खोया रहता है कि वह अपने खाने-पीने व पत्नी के कामों को भी भूल जाता है। शकुन क्रोध में आकर अपने पति से कहती है—

शकुन : (आनंद के हाथों से कलम छीनकर मेज़ पर पटकते हुए) आप पहले चाय पी लीजिए। बाद में पूछते रहना मेरी बातों का अर्थ और फिर लिखते रहना शाम तक। चलिए अब तो। अब मैं 'न' नहीं सुनना चाहती।¹²

शकुन अपने पति से बहुत प्रेम करती है। वह अपने पति के बिना खाना भी नहीं खाती। हर पत्नी यह चाहती है कि पति अपने कीमती समय में से कुछ पल निकालकर अपनी पत्नी के साथ बिताए। यदि वह ऐसा नहीं करता तो पत्नी को अपने पति पर क्रोध भी आता है और वह अपने पति के विरुद्ध विद्रोह भी करती है।

'मैं धनकलाल हूँ धनकू नहीं' की नायिका अपने पति से झगड़ा करती रहती है। कभी घर के काम को लेकर, कभी नौकर न आने पर। दोनों में झगड़े के साथ-साथ प्रेम भी है, इन दोनों का झगड़ा एक-दूसरे से अलग रहने का नहीं है बल्कि कोमलदास अपनी झगड़ालू पत्नी को और अधिक चिड़ा देता है और कहता है—

कोमलदास : तुमसे बात करना और भिड़ के छत्ते में हाथ डालना बराबर हो गया है, राजू की माँ। जब देखो, पारा आसमान पर रहता है।¹³

किंतु दोनों के बीच झगड़े के साथ-साथ प्रेम भी है। दोनों एक-दूसरे पर निर्भर हैं। दोनों एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते। कोमलदास भी दफ्तर से छुट्टी लेकर अपनी पत्नी के काम में हाथ बँटाता है। नौकर के न आने पर पति-पत्नी झगड़ रहे थे लेकिन नौकर के आने पर दोनों एक होकर नौकर से न आने का कारण पूछते हैं। यही प्रेम पति-पत्नी होने का अहसास कराता है।

‘दूधियों से इंटरव्यू’ में भी नायिका अपने पति से झगड़ती रहती है। हर काम में नोकझोंक करती है। यहाँ तक कि दूध अच्छा न देने पर दूधियों से भी झगड़ा करती है। विनोद चाय न मिलने पर अपनी पत्नी को आवाज़ लगाता है और कहता है—

विनोद : अरी ओ राजन की माँ।

सुनीता : हाँ-हाँ क्या बात है? कुछ बोलो भी तो। मिनट-भर को चैन नहीं लेने देते।

विनोद : औरत है कि भिड़ का छत्ता। चिपटने को तैयार बैठी रहती है, हर समय।¹⁴

सुनीता नकचढ़ी औरत है। वह हर दूधवाले से झगड़ा करती है। इसलिए कोई भी दूधवाला उसे दूध नहीं देता। घर में दूध न होने के कारण चाय नहीं बनती। चाय न मिलने के कारण विनोद अपनी पत्नी से झगड़ा करता है।

(ग) सास-बहू के संबंध :

परिवारगत रूपों में सास का स्थान महत्वपूर्ण है। सम्मिलित परिवारों में तो घर की सुख-शांति सास-बहू के संबंधों पर ही निर्भर रहती है। यदि उनके संबंध मधुर हैं तो घर स्वर्ग बन जाता है वरन् घर कलह का अखाड़ा बन जाता है। संयुक्त परिवारों के विघटन का संपूर्ण दायित्व इन्हीं संबंधों पर होता है।

डा० अग्रवाल के नाटक ‘वेतन’ में सास बहू के संबंधों को दर्शाया गया है।

‘वेतन’ में सास-बहू के बीच मन-मुटाव रहता है। सास बहू पर हमेशा कटाक्ष करती रहती है। अमिताभ अपनी पत्नी साधना की पूरे दिन की मेहनत को देखकर खुश है, इसलिए वह अपनी पत्नी को मासिक वेतन देना चाहता है। लेकिन अमिताभ की माँ नहीं चाहती कि उसका बेटा उसे वेतन दे। वह अपनी बहू पर कटाक्ष करती है और कहती है—

सावित्री : दुनिया तुम्हारे मुँह पर थूकेगी साधना? दुनिया कहेगी, तुम एक ऐसी औरत हो, जो पति का खाती भी रहीं और उसे लूटती भी रहीं।¹⁵

सास चाहे कोई भी हो, जब उसका बेटा अपनी माँ के आगे अपनी बहू की प्रशंसा करता है, घुमाने ले जाता है, उसे मासिक वेतन देता है तो सास अपनी बहू से कटने लग जाती है। सास को बहू की बुरी बात तो बुरी लगती ही है, उसकी अच्छी बातों में भी कमी ढूँढने लग जाती है। वह अपनी बहू से लड़ाई करने का मौका देखती रहती है।

लेकिन आज की आधुनिक लड़की भी किसी से कम नहीं है। वह अपनी सास से बराबर की टक्कर लेती है।

‘यह दुनिया और दिखावा’ नाटक में सास-बहू के संबंधों में मधुरता, अपनापन व सेवाभाव है। बहू अपनी सास की दिन-रात सेवा करती है। सास भी अपनी बहू की प्रशंसा करती हुई अपने भाई से कहती है—

सावित्री : सुबह उठते ही बहू मेरे लिए स्नान की व्यवस्था करेगी। पूजा-पाठ कर

चुक्कूंगी तो तुरंत मेरे लिए मेज़ पर नाश्ता लगाएगी। दोपहर का भोजन, शाम की चाय, रात का खाना सब समय पर। एक मिनट की भी देर नहीं करती कभी। भगवान ने जैसी बहू मुझे दी है, वैसी सबको दे।¹⁶

सास-बहू का रिश्ता एक ऐसा रिश्ता है, जिसमें अपनापन कम व कड़वाहट अधिक होती है। न तो सास बहू को अच्छी प्रकार से अपना सकती है और न बहू अपनी सास को माँ की भाँति अपना सकती है। चाहे सास-बहू माँ-बेटी की भाँति ही क्यों न रह रही हों। उनमें एक-न-एक दिन किसी बात को लेकर सास-बहू वाला रिश्ता आ ही जाता है। यदि सास का रूप सहनशील, आदर्श है तो घर की खुशियों को चार-चाँद लग जाते हैं। इसके विपरीत उग्र या प्रचंड संबंध होने पर घर नरक बनकर रह जाता है। घर की खुशियाँ सास-बहू के संबंधों पर निर्भर करती हैं।

(घ) ससुर-बहू के संबंध :

डा० अग्रवाल के नाटक 'इक्कीसवी सदी में', 'वह परदेश कमाने को चला', 'मैं अपराधी नहीं हूँ' आदि में ससुर-बहू के संबंधों को भी दिखाया गया है।

'मैं अपराधी नहीं हूँ' में बहू के संबंध अपने ससुर के प्रति अच्छे हैं। अविनाश का पिता भयंकर बीमारी से पीड़ित है। अविनाश की पत्नी अनुराधा दो साल से लगातार उसकी सेवा कर रही है। वह सेवा करते-करते थक जाती है लेकिन उसे अपनी थकान महसूस नहीं होती बल्कि अपने बीमार पिता की पीड़ा सहन नहीं होती। वह भगवान से अपने पिता की पीड़ा कम करने की दुआ माँगती हुई कहती है—

अनुराधा : आज पूरे दो वर्ष हो गए हैं इन्हें चारपाई पर दुःख उठाते हुए। हे परमेश्वर, इन पर दया कर!¹⁷

'वह परदेश कमाने को चला' में बहू-ससुर के संबंध अच्छे हैं। मूसलचंद जो इस नाटक का नायक है, उसे अपनी पहलवानी पर घमंड है। विदेश जाने के लिए वह अपने दादा से कहता है। उसके दादा को सब पता है कि वही व्यक्ति विदेश में जा सकता है, जिसके पास गुण, धन-दौलत हो लेकिन मूसलचंद के पास तो कुछ भी नहीं। तब बहू व ससुर बाप-बेटी की भाँति बातें करते हैं—

दादा : एक वह जो व्यापारी है और पर्याप्त धन-दौलत उसके पल्ले में है, वह परदेश जाएगा तो अपने पैसे और व्यापार के हुनर से खा कमाएगा।

महिला : पर यह गुण इनमें कहाँ है दादाजी? मोटे शरीर के सिवा कोई दूसरा गुण नहीं है इनके पास।

मध्यकालीन युग में पर्दे की प्रथा थी। उस समय अपने ससुर से बात करना तो दूर की बात, आवश्यक काम के लिए भी पुत्रवधु उससे नहीं बोलती थी। लेकिन अब पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से पर्दे की प्रथा समाप्त हो गई है। बहुएँ अब बेझिझक अपने ससुर से बातें करती हैं। निष्कर्षतः डा० अग्रवाल के नाटकों का अवलोकन करने के उपरांत यह जान पड़ता है कि उनके अधिकांश नाटकों में परिवार के संबंधों को उजागर करने का प्रयास किया गया है। वे इसमें पूर्णतः सफल हुए हैं।

संदर्भ

1. स्वास्थ्य एवं पारिवारिक शिक्षा, पृ० 94
2. वही पृ० 94
3. वही पृ० 94
4. वही पृ० 94
5. वही पृ० 94
6. बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक, डा० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 161
7. वही, पृ० 177
8. वही, पृ० 101
9. वही, पृ० 93
10. वही, पृ० 43
11. नीली आँखें, डा० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 27
12. वही, पृ० 92
13. बच्चों के हास्य नाटक, डा० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 19
14. वही, पृ० 85
15. नीली आँखें, डा० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 30
16. ग्यारह नुक्कड़ नाटक, डा० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 87
17. नीली आँखें, डा० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 41
18. बच्चों के रोचक नाटक, डा० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 97

□ द्वारा श्री जगमेन्द्र

मं. न. 58/9, शास्त्रीनगर, लाढ़ौत रोड़, रोहतक

डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल के नाटकों में वर्ग-विषमता

अनिलकुमार पँवार

मानव-समाज की जटिल एवं संश्लिष्ट संरचना के कारण वर्ग को परिभाषित करना एक दुष्कर कार्य रहा है। यह एक सर्वमान्य मत है कि केवल आदिमकाल को अपवाद स्वरूप छोड़कर समाज प्रमुखतः संपन्न तथा विभिन्न वर्गों में विभाजित रहा है। किंतु इस सरलीकृत विभाजन से वर्ग की अवधारणा किसी भी स्थिति में सुस्पष्ट नहीं हो जाती। समाजवैज्ञानिकों ने इसे विभिन्न दृष्टिकोणों से विश्लेषित किया है। पश्चिमी और रूसी समाजशास्त्रों में 'वर्ग' शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थों में किया जाता है, फिर भी दोनों यह मानते हैं कि वर्ग ऐसे समूहों का निरूपण करता है, जिनके सदस्य एक समान आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति तथा समान हितों के आधार पर संगठित हों।

'एन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज में वर्ग को इस प्रकार परिभाषित करने का प्रयास किया गया है, 'आधुनिक समाज में वर्ग व्यक्तियों के ऐसे समूहों को कहा जा सकता है, जिसके पेशे, पैसे तथा शिक्षा की समानता, तुल्यता हो, समान जीवन-शैली, विचार, भावनाएँ और व्यवहार के समान रूप हों और जो इनमें से किसी एक अथवा सभी आधारों पर परस्पर सम्मान शर्तों पर मिलते हों तथा आदर करते हों।' ¹ 'थामसन' वर्ग को एकदम भिन्न ढंग से परिभाषित करते हैं। वे इसे ऐतिहासिक प्रक्रिया से संबद्ध करके देखते हैं, जिसमें अनेक निराशाजनक, हिंसक तथा दृश्य-रूप में असंबद्ध घटनाओं का समूह होता है। जब व्यक्ति अपने सामान्य अनुभवों और हितों को अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध पहचानते हैं व प्रयोग करते हैं, तब वर्ग बनता है। सार रूप से वे कहते हैं कि वर्ग की परिभाषा केवल यही है कि लोग अपना इतिहास कैसे जीते हैं। थामसन अनुभवों तथा हितों के साथ-साथ उनसे विस्तृत मानव-चेतना का भी उल्लेख करते हैं। वे विशेष जोर देकर कहते हैं कि 'हम वर्ग को तब तक नहीं समझ सकते, जब तक हम इसे सामाजिक एवं सांस्कृतिक रचना के रूप में नहीं देखते।' ²

कार्ल मार्क्स ने वर्ग को सैद्धांतिक रूप में परिभाषित करने की अपेक्षा, समाज के ऐतिहासिक विश्लेषण के संदर्भ में यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि मानव-समाज संपत्तिवानों तथा संपत्तिहीनों, उपभोक्ता तथा उत्पादनकर्ता अर्थात् शोषक एवं शोषित में विभक्त रहा है। घोषणापत्र में वर्गों का उल्लेख करते हुए उनके ध्रुवीकरण की प्रत्याशा में यह व्यक्त किया गया है कि 'आज पूरा समाज दो विशाल शत्रु शिविरों में, एक-दूसरे के खिलाफ खड़े दो विशाल वर्गों में पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग में अधिकाधिक विभक्त होता जा रहा है।' ³

यह विभाजन पूर्णतः आर्थिक आधार पर किया गया है। उनके अनुसार उत्पादन-शक्तियाँ

तथा संबंध ही समाज को मूल आधार प्रधान करते हैं, शेष संबंध यथा सामाजिक दृष्टिकोण, विचार, विभिन्न राजनीतिक, नैतिक, कानूनी, सांस्कृतिक आदि इसी से परिचालित होते हैं तथा आर्थिक आधार के परिवर्तन के साथ उनमें भी परिवर्तन हो जाता है। मार्क्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'पूँजी' (Wealth) के अंतिम अध्याय में भी इसी आधार पर वर्ग-विश्लेषण प्रस्तुत किया है। किंतु यहाँ की पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली के अनुसार व्याख्या करते हुए भी केवल दो शत्रुतापूर्ण वर्गों का नमूना प्रस्तुत नहीं करते। यहाँ वे उजरती मजदूरी, पूँजीपति और भूस्वामी, इन तीन बड़े सामाजिक वर्गों का गठन 'संप्राप्तियों तथा संप्राप्ति स्रोतों की एक समरूपता से बताते हुए कहते हैं कि उनके सदस्य, उनका गठन करनेवाले व्यक्ति क्रमशः मजदूरी, काम और किराया ज़मीन पर अपनी श्रमशक्ति, अपनी पूँजी और भू-संपत्ति के सिद्धिकरण पर जाते हैं।

गैर-मार्क्सवादी सिद्धांतकार वर्ग की पहचान के लिए निम्न तत्त्वों पर बल देते हैं—

1. धन-दौलत अथवा सामान्य, परिवार एवं उसके सगे संबंधी, 3. निवास-स्थल 4. निवास-अवधि 5. शिक्षा, 6. व्यवसाय 7. धर्म।⁴

स्पष्ट है यह ऊपर दिए गए विवेचन का सार ही है। जो नया तत्त्व इसमें जोड़ा गया है, वह निवास-स्थान और निवास-अवधि है, जिनको किसी भी स्थिति में मुख्य बातें नहीं माना जा सकता। गंभीरता से देखने पर ज्ञात होता है कि ये सभी तत्त्व धन-दौलत से ही परिचालित होते हैं। धन-संपन्न व्यक्ति, मार्क्सवादी शब्दावली में उत्पादन-साधनों के स्वामी समाज में स्वरुचि के अनुरूप अपने परिवार के उच्च रहन-सहन का निर्वाह कर सकता है।

निष्कर्ष रूप में यह स्वीकार किया जा सकता है कि वर्ग की अवधारणा आर्थिक तत्त्व के अभाव में अर्थहीन है। इसे मूलाधार मानकर ही वर्ग-विभाजन संभव है। भारतीय समाज भी इसका अपवाद नहीं है, इसका विवेचन आगे दिया जाएगा। प्रसंगवश, यहाँ इस मत का उल्लेख भी किया जाना आवश्यक है कि मनोवैज्ञानिक संरचना के रूप में वर्ग इससे अधिक या कम कुछ नहीं है, जितना कि लोग सामूहिक रूप से इसके विषय में सोचते हैं किंतु यह संभवतः अपूर्ण ही रहेगा। यदि इसमें यह नहीं जोड़ दिया जाता कि उस वर्ग के लोग स्वयं अपनी स्थिति, स्थान, हित तथा लक्ष्य के बारे में सोचते हैं।

किसी भी वर्ग के विषय में उसकी अपनी अथवा दूसरे वर्गों की धारणाएँ उसकी सामाजिक धार्मिक-राजनीतिक स्थिति, उसके वर्गहित, स्वार्थ, लक्षित उद्देश्य-प्राप्ति के लिए उसकी क्रियाशीलता, संगठन तथा इन सबसे ऊपर उसकी वर्ग-चेतना, जो इन सबका आधार है। इस वर्ग के स्वरूप और इस ज्ञान के अभाव में वर्ग-संघर्ष, जो सामाजिक विकास तथा प्रगति के लिए अनिवार्य है पूर्णतः अकल्पनीय है। विश्व में औद्योगिक तथा वैज्ञानिक प्रगति ने मानव की वैचारिक बौद्धिक शक्ति को बहुआयामी बनाया है। इससे उसके सामाजिक क्षेत्र क्रांति की इच्छा और भी प्रबल हुई है। इस प्रगति का लाभ सभी को मिले, समाज में किसी भी प्रकार का शोषण न रहे, इस भावना ने उसकी चेतना को प्रक्षालित करके प्रशस्त्र किया है।

आज अन्य तत्त्वों को पीछे छोड़कर वर्ग-चेतना ही वर्ग-निर्धारण हेतु मुख्य कारक-तत्त्व बन गया है।⁵ वर्गचेतना के निर्माण में राजनीति की प्रमुख भूमिका होती है। जिस अर्थ में मार्क्सवाद दर्शन में 'वर्ग-चेतना' का प्रयोग किया जाता है, उसमें तो उसका लक्ष्य ही राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना होता है। अतः यथार्थ-वर्ग चेतना के अवबोध के लिए उस वर्ग की केवल

सामाजिक-आर्थिक स्थिति का आंकलन ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसकी राजनीतिक इच्छाएँ तथा उन इच्छाओं की पूर्ति के लिए उसकी प्रतिबद्ध क्रियाशील उद्यमता भी उसमें अंतर्निहित है।

वर्ग-विभाजन :

यद्यपि वर्तमान अर्थ में 'वर्ग' की अवधारणा 18वीं सदी में प्रकट हुई है, तथापि समाज का ऐतिहासिक भौतिकवादी विश्लेषण इस तथ्य का साक्षी है कि प्रत्येक युग में समाज धनी-निर्धन, सुविधासंपन्न-सुविधाहीन, राजा-सामंतों तथा प्रजा-किसानों में विभक्त रहा है। कार्ल मार्क्स से बहुत पहले प्लेटो ऐसे दो वर्गों की चर्चा कर चुके हैं, जो परस्पर युद्धरत रहते थे। उन्होंने कहा है कि वे वर्ग हैं, एक निर्धनों का दूसरा धनवालों का। इन दोनों वर्गों के परस्पर विरोध का सिद्धांत पहले से ही प्रचलित था और प्लेटो इसे स्वीकार करते थे।⁶

अरस्तु ने तत्कालीन जनता को तीन भागों में विभाजित किया था— बहुत धनवान, बहुत निर्धन तथा इन दोनों के मध्य स्थित जन।

पूँजीवादी, देशों में ही नहीं, रूस जैसे समाजवादी देशों में भी मध्यवर्ग नए आकार में प्रस्फुटित हो चुका है।

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल के नाटकों में वर्ग-विषमता

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल ने अपने नाटकों में वर्ग के आधार पर संपूर्ण समाज को तीन भागों में बाँटा गया है— 1. उच्च वर्ग, 2. मध्य वर्ग, 3. निम्न वर्ग

1. **उच्च वर्ग** : उच्चवर्ग का शब्दार्थ है— 'ऊँचा, श्रेष्ठ, बड़ा'⁷ अर्थात् समाज का वह भाग, जो सामाजिक दृष्टि से ऊँचा माना जाता है तथा अपने धन-वैभव के कारण समाज में अपना स्थान श्रेष्ठ सिद्ध करता है। उच्चवर्ग को प्राप्त सुख-सुविधाएँ, धन-संपदा तथा ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने के कारण ही उच्च माना जाता है। उच्चवर्ग के लोगों के पास रहने के लिए अच्छे मकान, आवागमन के लिए गाड़ियाँ दैनिक कार्यों में सहायता के लिए नौकर इत्यादि होते हैं।

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल के नाटक 'मुख्य अतिथि', 'आम का पौधा', 'सेठ पन्नालाल', 'अंधा नागदेवता', 'जिसका काम उसी को साजे' आदि नाटकों में उच्चवर्ग का चित्रण हुआ है।

'मुख्य अतिथि' में उच्चवर्ग को दर्शाया गया है। उच्चवर्ग के व्यक्तियों को अपनी सामाजिक स्थिति का यह भाव सदा सोचने के लिए विवश करता रहता है, कहीं अपने से निम्नवर्ग के लोगों के साथ उठने-बैठने व वार्तालाप करने में उनका सामाजिक स्तर गिर तो नहीं रहा है। इस वर्ग के व्यक्ति निम्नवर्ग के व्यक्तियों के साथ बातें करने में अपना अपमान समझते हैं। इसी प्रकार के विचार नाटक 'मुख्य अतिथि' में हरिराज व शोभना के हैं। पंकज अपनी वर्षगाँठ पर अपने स्कूल के चपरासी सुखन चाचा को मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित करता है। इस बात को सुनकर पंकज के घरवाले उसके विरुद्ध हो जाते हैं उसे ऐसा करने के लिए मना करते हैं। हरिराज अपने बेटे से कहता है—

हरिराज : एक बार फिर अपनी बात पर गौर कर लो। मुख्य अतिथि तो किसी बड़े आदमी को ही बनाया जाता है। छोटे लोगों को नहीं।

पंकज : सुखन चाचा भी तो बड़े आदमी हैं। बूढ़े हो गए हैं, बाल सफेद हो गए हैं उनके। डॉ० अग्रवाल से भी बड़े और डैडी के बाँस से भी।⁸

अतः इनके विचारों के माध्यम से उच्चवर्ग की वर्गीय संकीर्णता का आभास मिलता है। निम्नवर्ग के साथ-साथ रहने से उच्चवर्ग के व्यक्तियों का मान-सम्मान कम होता है, जिससे उस वर्ग का व्यक्ति निरंतर अपने को समाज के अन्य वर्गों से दूर रखता है।

उच्चवर्गीय समाज के सदस्यों को यह भय निरंतर बना रहता है कि कहीं निम्नवर्ग के व्यक्तियों के साथ बातचीत मात्र करते हुए कोई उनके वर्ग का व्यक्ति देख ले तो वह उनके इस कार्य को उच्चवर्गीय मर्यादा के प्रतिकूल न समझने लगे।

‘आम का पौधा में भी वर्ग-विषमता को दर्शाया गया है। उच्चवर्गीय समाज का जीवन ऐश्वर्यपूर्ण होता है। जन्मदिन के अवसरों पर भव्य समारोह का आयोजन किया जाता है तथा अत्यधिक धन खर्च किया जाता है।

पिटू के माता-पिता पिटू का जन्मदिन बड़ी धूमधाम से मनाते हैं। छोटा-सा समारोह है लेकिन उसमें आवश्यकता से अधिक पैसे खर्च करते हैं। पिटू के माता-पिता ने सभी रिश्तेदारों को आमंत्रित कर रखा है। जो भी मेहमान आता है वह गिफ्ट या उपहार जरूर लाता है। ये सब एक गरीब घर का बालक देख रहा है। पिटू बाहर खड़े बालक को देखकर उससे बातें करता है। बालक पिटू से पूछता है कि भाई आज कोई त्योहार है। पिटू उसे समझाता है कि नहीं भाई, आज त्योहार नहीं मेरा जन्मदिन है। उस बालक को तो यह भी नहीं पता कि जन्मदिन क्या होता है और कैसे मनाते हैं? पिटू उस बालक से दोस्ती का हाथ बढ़ाता है तथा अपने जन्मदिन की मिठाई खिलाता है। बालक पिटू को उपहार में आम का पौधा देता है। पिटू के माता-पिता उस बालक से दोस्ती करने पर नाराज हो जाते हैं तथा कहते हैं—

पापा : (पिटू की ओर आते हुए) क्यों पिटू, किससे घुट रही थी, बाहर सड़क पर?

पिटू : मेरा एक नया मित्र बना है पापा, घसीटाराम।

पापा : (खीजते हुए) वह गंदा लड़का, रद्दीवाला।⁹

कह सकते हैं कि उच्च-वर्ग के लोगों की ज़िंदगी ऐशो-आराम की ज़िंदगी है। उनके पास सब सुविधाएँ होती हैं। वे अपने बच्चों की खुशी के लिए छोटे-छोटे कार्यक्रम भी भव्य समारोह में बदल देते हैं। वे छोटे-से-छोटे समारोह पर भी काफ़ी रुपए खर्च कर देते हैं, क्योंकि उनके पास पैसों की कोई कमी नहीं होती। उच्चवर्ग के बच्चे इसलिए सफल होते हैं, क्योंकि वे अच्छे स्कूलों में अध्ययन करते हैं, उनकी हर जरूरत को पूरी किया जाता है। इसलिए वे समाज में अपना नाम बनाए हुए हैं।

‘सेठ पन्नालाल’ में सेठ ग़रीबों का हर तरह से शोषण करता है। वह मजदूरों की ज़िंदगी से खिलवाड़ करता है। वे ग़रीब मजदूर किसान, जिनके पास थोड़ी-सी ज़मीन है, दिन-रात कड़ी मेहनत करके फ़सल तैयार करते हैं। ज्यों ही फ़सल तैयार होती है, धनवान लोग सारी-की-सारी फ़सल को हड़प लेते हैं। बेचारा किसान देखता ही रहा जाता है। उसकी सारी कड़ी मेहनत पानी में चली जाती है। ग़रीब अपने जीवनयापन के लिए कुछ रुपए उधार लेता है लेकिन उन उधार रुपयों का सेठ इतना ब्याज लेता है कि ग़रीब ज़िंदगी-भर उस ब्याज को चुका नहीं कर पाता। जब फ़सल अच्छी होती है तो उसे आशा रहती है कि वह अपने अधूरे काम पूरे करेगा। इस आशा में वह सेठ के पास कर्ज़ माफ़ करवाने के लिए जाता है। सेठ उसका कर्ज़ माफ़ करने की बजाए उसे पाई-पाई चुकाने की धमकी देता है—

सेठ : ज़रूर, ज़रूर। नेक काम में देरी नहीं करनी चाहिए, धनसिंह! बता हमसे क्या चाहता है?

धनसिंह : बस महाराज इतनी कृपा करो जो कुछ कर्ज़ा है उसका आधा ले लो, आधा अगले साल हाथ जोड़कर दूँगा।

सेठ : (एकदम त्योंरी चढ़ जाती है।) यह नहीं होगा धनसिंह। बिल्कुल नहीं होगा। पहले पाई-पाई चुकता कर फिर आगे की बात करना?' ¹⁰

उच्चवर्ग निम्नवर्ग का हर प्रकार से शोषण करता है। सेठ पन्नालाल भी मजदूरों, गरीब किसानों का हर प्रकार से शोषण करता है। यह वर्ग निम्नवर्ग को हर प्रकार से दबाये रहता है।

'अंधा नागदेवता' में गाँव का प्रधान धर्म का झूठा प्रचार करके गाँव की भोली-भाली जनता को ठगना चाहता है। वह मदारी से साँप ख़रीदकर पीपल पर छोड़ आता है जो अंधा है और गाँव में यह प्रचार करवा देता है कि पीपल पर नागदेवता प्रकट हुए हैं। गाँव वाले उसे देवता समझकर उसकी पूजा करते हैं। उस पर दूध व चढ़ावा चढाते हैं।

बारह वर्षीय किशन मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं रखता। वह जानना चाहता है कि सच में ही नागदेवता प्रकट हुए हैं या फिर किसी की कोई चाल है। किशन अपने चाचा से कहता है—

किशन : क्यों गिरधारी चाचा, क्या आप भी गए थे, नागदेवता के दर्शन करने?

गिरधारी : हाँ गया था, मुझे तो कोई ड्रामेबाजी लगती है प्रधान की।

बापू : पर गिरधारी यह तो सोचो, शिव मंदिर बनवाने में गाँव-प्रधान का अपना क्या लाभ हो सकता है?

माँ : उस बेचारे का क्या हित होगा इसमें?

बापू : मंदिर बनवाने में वह ज़मीन गाँव-प्रधान के कब्जे में थोड़े ही आ जाएगी।

किशन : पर विद्यालय का बनना तो रुक जाएगा बापू। ¹¹

किशन बहुत तेज़ व चालाक है। वह उस नागदेवता को स्वयं देखकर आता है। वह देखता है कि यह वही साँप है, जो कुछ दिन पहले उसने मदारी के पास देखा था। वह साँप को पकड़कर गाँव वालों के सामने लाता है। वह गाँव के प्रधान का रहस्य खोल देता है।

इस प्रकार डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल ने समाज में फैली वर्ग-विषमता का अपने नाटकों में सजीव चित्रण किया है।

मध्यमवर्ग : मध्यमवर्ग जैसा कि नाम से ही स्पष्ट होता है, दो वर्गों के मध्य स्थित है। एक तरफ़ उच्चवर्ग है तो दूसरी तरफ़ निम्नवर्ग। हिंदी शब्द सागर में मध्यम वर्ग के विषय में कहा गया है 'जो विपरीत सीमाओं के बीच में हो। जो गुण, विस्तार, मान आदि के विचारों से न बहुत बड़ा हो न बहुत छोटा।' ¹²

मध्यमवर्ग प्रगतिशील वर्ग है। इस वर्ग के सहारे ही समाज उन्नतशील बनता है। निम्नवर्ग अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने में लगा रहता है तो उच्चवर्ग के पास इतना अवकाश नहीं है कि वह सामाजिक गतिविधियों में भाग ले सके। इसलिए सामाजिक मार्यादाओं व मूल्यों का पालन करने का दायित्व मध्यवर्ग पर आ जाता है। यह वर्ग बुद्धि-प्रधान वर्ग होने के कारण सामाजिक प्रगतियों का पोषक है। समाज के किसी भी भाग में होने वाली हलचल मध्यमवर्ग को अवश्य प्रभावित करती है इस वर्ग में डाक्टर, प्राध्यापक, वकील, अभियंता व

अन्य मध्यम व्यवसायी लोग आते हैं। यह सब विभाजन आय और पद को ध्यान में रखकर किया गया है।

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल के नाटक 'रेलवे प्लेटफार्म', 'आग का तमाशा', 'धंधोबाज़', 'पेशकार सा 'ब' आदि नाटकों में मध्यमवर्ग को चित्रित किया गया है।

'रेलवे प्लेटफार्म' में पुलिस के रक्षक रूप का वर्णन न करके उसके भक्षक रूप का वर्णन किया गया है।

यह एक चिंतनीय विषय है कि कानून और व्यवस्था की रक्षक मानी जानेवाली संस्था— भारतीय पुलिस की छवि इतनी साफ़-सुथरी नहीं रही जितनी, कि उससे उम्मीद रखी जाती है। यद्यपि इसके कार्यभार और जिम्मेदारियों को नज़र में रखने पर तो इसके प्रति लोगों के मन में श्रद्धा और विश्वास की भावना उत्पन्न होनी चाहिए, किंतु ऐसा न होकर इसके विपरीत स्थिति बनी है और पुलिस की छवि लोगों के मन में एक रक्षक के रूप में नहीं, बल्कि एक भक्षक के रूप में बन चुकी है।

रेलवे प्लेटफार्म पर जेबकतरों, जुआ खेलनेवालों, गुंडागर्दी करनेवालों की भरमार होती है। इसलिए सरकार ने इन अपराधों को कम करने के लिए जगह-जगह पुलिस तैनात कर रखी है, लेकिन अपराध कम होने की बजाए दिनों-दिन बढ़ रहे हैं। अपराध कम इसलिए नहीं हो रहे हैं, क्योंकि पुलिसकर्मी इन अपराध करनेवालों के साथ मिले हुए होते हैं। सिपाही जुगाड़ी सिंह फारमल्टी पूरी करता हुआ कहता है—

जुगाड़ीसिंह : (जुआ खेलनेवालों से) क्यों रे! भाग रहे हो यहाँ से या करूँ तुम्हें हवालात में बंद।

एक जुआरी : लात और हवालात की बात छोड़ो दीवानजी। तुम्हारा कोई हफ़्ता तो रुका नहीं है आज तक। हफ़्ता रुकेगा तो लात और हवालात की बात करना।¹³

ये पुलिस वाले इतने चालबाज़ होते हैं कि व्यक्ति को उन्हीं के प्रश्नों में उलझाकर उन्हीं को लूटते हैं। पुलिसवाले जनता को दोनों हाथों से लूटते हैं। जिसने अपराध किया उसे तो लूटते ही हैं साथ में जिसने अपराध न किया हो उसे झूठे केस में फँसाकर लूटते हैं।

बिना किसी कारण किसी को गिरफ़्तार करना, गिरफ़्तार करने का भय दिखाकर अपनी धौंस जमाना या फिर अपने को आम जनता का शासक सिद्ध करना, पुलिस के लिए कोई बड़ी बात नहीं रह गई है। यही नहीं, पुलिस-संगठन अपनी धाक जमाने के लिए झूठे केस बनाने में परहेज नहीं करते। यही देखने को मिलता है हमें डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल के नाटक 'आग का तमाशा' में। इस नाटक में पुलिसवाला डंडे को इधर-उधर घुमाता हुआ फकीर मुहम्मद उर्फ़ झुनझुना का घर पूछ रहा है। लेकिन जब उसे झुनझुना का घर नहीं पता चलता तो वह पूछनेवालों के साथ अभद्रतापूर्ण ढंग से गाली देता हुआ कहता है—

सिपाही : (व्यक्ति को डाँटकर रोकते हुए) अबे, क्या हनुमान चालीसा बाँच रहा ए रे .. पहले दाँएँ हाथ को, फिर बाँएँ हाथ को, फिर नाक की सीध में, फिर तेरी पीठ में। अबे साथ चल के बता।

व्यक्ति : (विनम्रतापूर्वक) गाली क्यों दो हो, दीवानजी। सीधी बात कहो, रास्ता तुम्हारी समझ में ना आ रिया है।'¹⁴

पुलिस झुनझुना को झूठे केस में फँसाकर थाने में ले जाती है। थाने में झुनझुना की हर बात का उल्टा अर्थ निकाला जाता है। झुनझुना को बुरी प्रकार से पीटा जाता है। झुनझुना के निर्दोष साबित होने के बावजूद पुलिस झुनझुना को जेल भेजती है।

आज बुद्धिजीवी अवसरवादी हो चुका है और उसकी इस अवसरवादी मनोवृत्ति ने उसे कायर बना दिया है। क्षुद्रस्वार्थ उसे उसके मानवीय कर्तव्य से विमुख करते रहते हैं। मध्यमवर्गीय लोग अपने स्वार्थों में इतने डूब चुके हैं कि उन्हें अन्य किसी भी चीज़ का कोई ख्याल नहीं रहता। आज हर कोई स्वार्थ के अदृश्य मुखौटे पहने अपनी स्वार्थजन्य समर्थताओं के बलबूते पर सत्ता शासन के भय से स्थितियों की तलाश में व्यवस्था की अन्यायपूर्ण दमनकारी नीतियों का अनुसरण व समर्थन कर रहा है। बुद्धिजीवी का यह चित्र उसे वर्ग के प्रति सहानुभूति का नहीं बल्कि रोष एवं निंदा का पात्र बना देता है।

डॉ० अग्रवाल ने अपने नाटक 'धंधेबाज' में इसी समस्या को स्पष्ट किया है। ठाकुर धुरंधरसिंह क्लीनिक में काम करनेवाले चिकित्साकर्मियों की समस्या को देखते हुए एक 'यूनियन' बनाता है। वह चिकित्साकर्मियों को डाक्टरों के विरुद्ध भड़काता है। जब तक ठाकुर धुरंधरसिंह की जेब गरम नहीं होती, तब तक वह हड़ताल जारी रखता है और उन्हें डाक्टरों के प्रति भड़काता ही रहता है।

डाक्टर ठाकुर धुरंधरसिंह की हड़ताल से परेशान हो जाते हैं। वे सोचते हैं कि ठाकुर ऐसे तो मामला-रफ़ा-दफ़ा नहीं करनेवाला। डाक्टर ठाकुर को एक तरफ़ ले जाकर उसकी जेब नोटों से भर देता है। जब गरम होने पर ठाकुर हड़ताल बंद करने के लिए कहता है—

धुरंधरसिंह : भाइयो। रात में डाक्टरों के साथ हमारी बातचीत हुई। उन्होंने आप लोगों की माँगों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने का वचन दिया है। इसलिए यह हड़ताल वापस ली जा रही है, कल से आप लोग नियमित काम पर जाँ।

कर्मचारी : (शोर मचाते हुए) नहीं, यह नहीं चलेगा। यह नहीं चलेगा। यह धोखा है। यह फ़ाड है।¹⁵

वस्तुतः मध्यवर्गीय धुरंधर सिंह चिकित्साकर्मियों की समस्या को हल करने के लिए संगठन बनाता है, लेकिन भोली-भाली जनता को नहीं पता कि ये ठाकुर ही उन्हें धोखा दे रहा है। वही उन्हें लूट भी रहा है और बर्बाद भी कर रहा है। समाज में न जाने कितने ही ठाकुर धुरंधर हैं जो वेश बदलकर जनता को ठग रहे हैं। ये जनता के लिए संघर्ष नहीं, बल्कि अपने लिए धंधा कर रहे हैं। ऐसे मुखौटा पहने हुए धंधेबाजों से जनता को बचना चाहिए।

निम्नवर्ग : निम्नवर्ग का अर्थ है— समाज का वह भाग, जो आर्थिक आधार पर उच्च से निम्न की ओर जाते हुए अंतिम व तीसरे स्तर पर आता है।

हिंदी शब्द सागर के अनुसार 'निम्न-वर्ग समाज का निचला व पिछड़ा हुआ वर्ग है।'¹⁶

समाज में आर्थिक दृष्टि से यह वर्ग निम्नतम रहता है। इस वर्ग के अंतर्गत समाज के वे लोग आते हैं, जिनका जीवन उच्च व मध्यम वर्ग की सेवा करने में पूरा हो जाता है। निम्नवर्ग में मुख्यतः मजदूर, खेतीहर मजदूर, घरेलू नौकर, चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी इत्यादि आते हैं।

निम्नवर्गीय जीवन में कई प्रकार की समस्याएँ व्याप्त रहती हैं। यद्यपि अधिकतर समस्याओं का केंद्र अर्थ ही होता है, जैसे अनपढ़ता या अशिक्षा को लिया जा सकता है।

निम्नवर्ग अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आजीवन कड़ी मेहनत करता है और यह इसकी विडंबना ही कही जा सकती है कि अत्यधिक शारीरिक श्रम करने के बाद भी इस वर्ग को कोई लाभ नहीं मिल पाता है, क्योंकि जिनके पास निम्नवर्ग के लोग काम करते हैं, वे उन्हें न्यूनतम मजदूरी भी नहीं देते। वे उन्हें कोई भी अनुचित कार्य करने के लिए बाध्य कर सकते हैं। अतः उच्चवर्ग के लोग निम्नवर्ग की भावनाओं व आवश्यकताओं के साथ अंत तक खिलवाड़ करते रहते हैं।

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल के नाटक 'मैं धनकलाल हूँ धनकू नहीं', 'चौदह दिन की हवालात', 'देवदासी', 'तीन भिखारी' आदि नाटकों में निम्नवर्ग को दर्शाया गया है।

'मैं धनकलाल हूँ धनकू नहीं' में दिखाया गया है कि एक मजदूर या फिर नौकर सुबह से लेकर शाम तक जी-तोड़ मेहनत करता है लेकिन मालिक के समय उसको उसकी पूरा मेहनताना भी नहीं देता। इसलिए धनकलाल अपनी माँगों को पूरा करवाने के लिए तीन दिन की छुट्टी ले लेता है। नौकर के न आने में घर की मालकिन की नाक में दम आ जाता है। वह कहती है—

राधारानी : 'ना भाई ना। मुझसे नहीं होनेवाली यह सारी बकवास। सब्जी नहीं आएगी, न आए। चटनी से रोटी खाना, प्रभु के गुण गाना।

कोमलदास : अरी पगली, अकेली सब्जी का रोना नहीं है। धोबी है, राशन है और भी सत्तर काम हैं घर के।' ¹⁷

अतः कह सकते हैं कि राधारानी व कोमलदास के विचारों से साफ़ जाहिर होता है कि नौकर घर का कितना काम करता है। घर के मालिक व मालकिन दोनों से भी मिलकर वह काम नहीं होता, नौकर उन कार्यों को अकेला करता है। लेकिन दुःख इस बात का है कि इतना काम करने के बावजूद वह गरीब है, क्योंकि मालिक उसको उनकी पूरी मजदूरी नहीं देता। इसलिए नौकर अपनी माँगों को पूरा करने के लिए संघर्ष करता है।

वर्तमान स्थिति यह है कि बेरोज़गार युवक भटकते फिर रहे हैं, उन्हें न तो सही दिशा मिल रही है और नहीं उचित मार्ग-दर्शन। सरकार उनके लिए रोज़गार के वायदे तो हर पाँच वर्ष बाद कर देती है। जब चुनाव का समय आता है तो नेता लोग वर्ग-संघर्ष को जीवंत रखने के लिए एक मुद्दा यह भी उठाते हैं कि यदि हमारी सरकार आई तो शत-प्रतिशत रोज़गार देगी। सरकारें आती रही हैं, अपना कार्यकाल पूरा करके चली जाती हैं लेकिन यह मुद्दा ज्यों-का-त्यों हमारे समक्ष मुँहबाएँ खड़ा रहता है। सरकार किसी के लिए रोज़गार की व्यवस्था नहीं कर पाती।

डॉ० अग्रवाल के नाटक 'चौदह दिन की हवालात' में इसी समस्या को दर्शाया गया है। दुर्गादास अपने इकलौते बेटे संतोष को बड़ी मुश्किल से कृषि विज्ञान में एम.एस.-सी. कराता है। संतोष नौकरी के लिए दर-दर भटकता है, लेकिन पूरी कोशिशों के बावजूद नाकामयाब रहता है। वह हार कर भूमि लेने के लिए प्रार्थनापत्र लिखता है, लेकिन सरकार उसे गाँव का मूल निवासी न कहकर उसके पत्र को रद्द कर देती है। संतोष ग्लास फैक्ट्री चलाने के लिए सरकार से लोन लेता है। लेकिन अनुभव की कमी के कारण ग्लास फैक्ट्री में मुनाफ़े की जगह हानि होती है। हानि होने के कारण वह लोन की किश्तें नहीं भर सकता। इसलिए सरकार के कारिदे उसे हवालात में बंद कर देते हैं। चौदह दिन बाद वह आता है तो अपने-आपको बहुत अपमानित महसूस करता है और

आत्महत्या कर लेता है। शांतिदेवी मजदूरों का दुःख व्यक्त करती हुई कहती है— चौदह बरस के बनवास से तो राम लौट आए थे पर मेरा संतोष तो चौदह दिन की हवालात से लौटा ही नहीं। (फिर रोने लगती है।) मैंने तो सुना था सरदारीलाल जी कि आत्महत्या के लिए प्रेरित करनेवाले को भी कानून में कड़ा दंड दिया जाता है।’¹⁸

कह सकते हैं कि मजदूरों व बेरोज़गारों का बुरा हाल है। मालिक सुबह से लेकर शाम तक मजदूरों को नीबू की भाँति निचोड़ देते हैं। शाम को उनकी पूरी मजदूरी भी नहीं देते। वे शाम को घर जाते हैं तो घर में सामान न होने के कारण पत्नी झगड़ती है। ऐसी हालात में बच्चों की शिक्षा की तो दूर की बात भर-पेट खाना भी नसीब नहीं होता। ऐसा ही हाल बेरोज़गार युवकों का है, जो पढ़ने-लिखने के बावजूद सड़कों पर दर-दर की ठोकें खाते हैं।

बेरोज़गार युवकों को बड़ा धंधा मिलता नहीं, छोटा करने में शरम महसूस करते हैं। यदि और कोई काम मिलता है तो अनुभव की कमी के कारण संतोष की तरह मार खाते हैं। इस प्रकार डॉ॰ अग्रवाल ने आज के मजदूरों का सजीव चित्रण किया है।

डॉ॰ अग्रवाल के नाटक ‘देवदासी’ में भी निम्नवर्ग को दर्शाया गया है। दक्षिणी भारत में कन्या को देवदासी बनाने की बहुत बुरी प्रथा है। निम्नवर्ग के ग़रीब माता-पिता अपनी लड़की की शादी का खर्चा नहीं उठा पाते, इसलिए वे अपनी कन्या को माँ देवी चेलम्मा के चरणों में चढ़ा देते हैं। उस कन्या का शादी का खर्चा धनवान लोग देकर अपनी रखैल बना लेते हैं। थोड़े दिनों बाद वह धनवान लोग भी उन्हें छोड़ देते हैं। उस बेचारी को न समाज स्वीकार करता है और न माता-पिता और न वे धनवान लोग। वह पेट पालने के लिए विवश होकर धंधा अपनाती है वेश्या का। वह सौंदर्य से परिपूर्ण नवयौवना जवानी में ही वृद्ध हो जाती है। यही इस नाटक में दर्शाया गया है।

भारत के कुछ क्षेत्रों में लड़कियों के साथ बहुत बुरा बर्ताव हो रहा है, जो कि निम्नवर्ग की हैं। कन्याओं के न चाहते हुए भी उन्हें जबरदस्ती देवदासी बनाया जाता है। उन भोली-भाली लड़कियों को तो ये भी पता नहीं कि देवदासी होती क्या है? ये नवयौवनाएँ खिलने से पहले ही मुरझा जाती हैं यानि समय से पहले ही वृद्ध हो जाती है।

‘तीन भिखारी’ नाटक में भी निम्नवर्ग की स्थिति का चित्रण हुआ है। निम्नवर्ग तो मध्यम व उच्चवर्ग के शोषण का शिकार बन चुका है। वह अपने अस्तित्व को ही भुला बैठा है। उसका साहस ही नहीं है कि वह अपने शोषणकर्ता का विरोध करे और अपने अधिकारों की माँग करे। मानवीय शोषण ने उसकी स्थिति दयनीय बना डाली है।

निम्नवर्गीय व्यक्तियों का जीवन न केवल अभावों से ग्रस्त है, बल्कि वे शारीरिक रूप से भी प्रताड़ित है। निम्नवर्ग की समस्या मूलभूत वस्तुओं की न होकर भूख मिटाने, वस्त्र जुटाने तथा घर पाने की है। यही दशा इस नाटक के तीन भिखारियों की है, जिनके पास न माता-पिता हैं, न घर है, न पहनने के लिए वस्त्र और न कुछ खाने के लिए, और तो और उन्हें भीख में भी कुछ नहीं मिला। बबलू भूख के मारे चिल्लाता हुआ कहता है—

बबलू : बहुत तेज़ दर्द हो रहा है पेट में (हाय-हाय करके बबलू बहुत चिल्लाता है।
कई यात्री उसकी ओर देखते हैं और आगे बढ़ जाते हैं)

शानू : (घबराकर) लो मरे पर एक लाठी और! खाने के लिए पहले ही से पैसे नहीं

थे अब इसकी दवाई के लिए रुपये कहाँ से आएँगे।’

निम्नवर्ग की विडंबना यही है कि वह शारीरिक मेहनत सबसे अधिक करता है, बदले में उसकी शारीरिक आवश्यकताएँ भी पूर्ण नहीं होती। दूसरी तरफ़ पूँजीपतियों या उच्चवर्ग धन-संपदा के बल पर सारी व्यवस्था पर नियंत्रण बनाए हुए है।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल ने अपने नाटकों में तीनों वर्गों में विद्यमान समस्याओं व बुराइयों का सजीव चित्रण किया है। उच्चवर्ग अपनी विशेष सामाजिक मर्यादा के कारण अन्य वर्गों से अलग ही रहता है। अपने से निम्न वर्गों के लोगों के साथ बातें करने में उन्हें अपनी मर्यादा का ख्याल आ जाता है। झूठी शान व सामाजिक मर्यादा मानसिक संकीर्णता, चुनाव में विजय हेतु धन का दुरुपयोग इत्यादि विषयों पर उच्चवर्ग का नकारात्मक दृष्टिकोण से विश्लेषण किया गया है। उच्चवर्ग को उसकी परिवेशगत बुराइयों के साथ प्रस्तुत किया गया है।

संदर्भ

1. Encyclopaedia of Social Science, vol-3, P 536
2. Gordon Legg, History and Social Theory P. 176- 177
3. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र, पृ० 36
4. The Social Order, p. 420
5. Ed. Istvon Maszaros, Aspects of History and Class Consciousness. Class Consciousness in History by Hobsbawn, p.6
6. Cox. O.C., Caste & Classes, P. 153 . Any city, However small, ' Says Plato, is infect, divided into two: one the city of poor, the other of the rich, there are at war with one another.'
7. रामचंद्र वर्मा, संक्षिप्त टिप्पणी, हिंदी शब्द सागर
8. बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक, डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 43
9. बच्चों के रोचक नाटक, डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 28
10. बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक, डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 109
11. वही पृ० 178
12. सं. श्यामसुंदरदास, हिंदी शब्द सागर, भाग-7
13. मंचीय व्यंग्य नाटक, डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 22
14. वही, पृ० 180
15. वही, पृ० 56
16. सं. श्यामसुंदरदास, हिंदी शब्द सागर, भाग-5
17. बच्चों के हास्य नाटक, डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 22
18. ग्यारह नुक्कड़ नाटक, डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 84
19. नीली आँखें, डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 19-20
20. बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक, डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 64

□ मं.नं. 58/9 शास्त्रीनगर
लाढौत रोड, रोतहक-124001

जीवनमूल्यां के आधार पर डा० गिरिराजशरण अग्रवाल के साहित्यिक अवदान का मूल्यांकन

हेमलता देवी

शोधछात्रा, रुहेलखंड विश्वविद्यालय, बरेली (उ.प्र.)

डा० शंकरलाल शर्मा

शोध निदेशक, रीडर व अध्यक्ष हिंदी विभाग, आर०एस०एम०कालेज, धामपुर

डा० अग्रवाल के गीत हों अथवा गज़लें, कहानी हों या निबंध, नाटक हों उपन्यास, एकांकी हों या व्यंग्य उनकी सभी विधाएँ साहित्यिक विशेषताओं से युक्त हैं। अनेक विधाओं में साहित्य-रचना करके उन्होंने हिंदी साहित्य की अपूर्व श्रीवृद्धि की है। साहित्य की विविध विधाओं में शताधिक पुस्तकों के लेखन, संपादन, प्रकाशन का श्रमसाध्य और दुरूह कार्य अपने-आपमें एक कठिन साधना है। जीवनमूल्यां के आधार पर डा० अग्रवाल के साहित्यिक अवदान का मूल्यांकन निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है—

(1) गज़ल साहित्य :

डा० अग्रवाल के पाँच गज़ल-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 1. सन्नाटे में गूँज, 2. भीतर शोर बहुत है, 3. मौसम बदल गया कितना, 4. रोशनी बनकर जिओ, 5. शिकायत न करो तुम।

डा० अग्रवाल की गज़लों में मानव-जीवन के सभी पक्षों का वर्णन किया गया है। उन्होंने तथा सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाकर पाठकों को एक नवीन, सुंदर, सशक्त, दृष्टि प्रदान की है। उनकी गज़लें आशा, विश्वास और दृढ़ता के भावों से युक्त हैं। वे मानवीय अनुभवों की अभिव्यक्तियाँ हैं, जो पाठकों को एक नई दिशा प्रदान करती हैं। जीवन के उच्चतर मूल्यां के प्रति दृढ़ आस्था लेकर चलनेवाले आशावादी गज़लकार डा० अग्रवाल की गज़लों में सामाजिक परिवेश, मानवीय संबंधों की कटुता, शहरीकरण के कारण गिरते व टूटते मानवीय संबंधों का बार-बार वर्णन किया गया है किंतु यह वर्णन नए कथ्यों एवं अनुभवों को लेकर हुआ है। उनकी गज़लें 'स्वांतः सुखाय' न होकर 'परहिताय' हैं। ये सभी गज़लें समाज में बढ़ती कुरीतियों, विसंगतियों एवं अलगाववाद पर सीधा प्रहार करती प्रतीत होती हैं। उन्होंने मानवीय शक्ति को पहचानकर समाज के हित के लिए कार्य करने तथा उनमें नई आशा एवं विश्वास की ज्योति जगाने का आह्वान किया तथा पाठकों को नवीन हौसला देने, नई दिशा एवं सीधा-सरल रास्ता दिखाने के प्रयास के साथ ही जीवन की कड़वी-मीठी सच्चाइयों से भी अवगत कराने का प्रयास किया। ये गज़लें जीवन का वास्तविक दर्पण हैं। उदाहरणार्थ—

आनेवाले! गाँव से, मत ढूँढ हमजोली को अब।

शहर की इस भीड़ में, अब कौन अपना रह गया।⁽¹⁾

यूँ तो दुनिया है वही, पहचान लेकिन मिट गई

मन से चाहत, फूल से उसकी महक जाती रही।⁽²⁾

डा० अग्रवाल ने ऐसे स्वार्थी मनुष्यों का वर्णन किया, जो मात्र अपने विषय में सोचते हैं। ऐसे मनुष्यों ने संसार से मानवीय भावों को क्षीण कर दिया है। यह सब मूल्यों के अभाव के कारण ही है। डा० अग्रवाल ने विघटित मूल्यों को बनाए रखने के लिए पाठकों का उचित मार्गदर्शन किया। उन्होंने अपनी गज़लों में शहर से विदा होते हुए 'अपनेपन', दोस्ती के लबादे में धोखाधड़ी और बढ़ती भीड़ में भावनाओं की जिस मौत का दुःख व्यक्त किया है, वह हमारे युग की एक ऐसी सच्चाई है, जिसे नकारा नहीं जा सकता। उन्होंने अपने शेरों में महानगरों के वातावरण में पले आदमी की त्रासदी का वर्णन किया, जो रोटी-रोजी के लिए दिन-रात के संघर्ष में इतना भी नहीं जानते कि उनकी दीवार के नीचे रहनेवाला व्यक्ति कौन है? उसके सुख-दुःख, उसकी समस्याएँ क्या हैं? डा० अग्रवाल ने अंधकार में भटकते हुए उन मनुष्यों का वर्णन किया है, जो यह भी नहीं जानता कि भोर कब होगी और सूर्य की पहली किरण कब फूटेगी तथा वह ज्ञान प्राप्त कर कब समय की वास्तविकता को देख पाएगा? इन गज़लों में जन-सामान्य को समाज एवं राष्ट्र में बढ़ती विसंगतियों, कुरीतियों के प्रति आगाह करते हुए उन्हें स्वयं की शक्ति को पहचानकर समाज के लिए कार्य करने, एक नई आशा एवं विश्वास जगाने का आह्वान किया गया है। बढ़ते जा रहे स्वार्थ रूपी अंधकार को दूर करने तथा निराशाओं से नई संभावनाएँ उत्पन्न करने का गज़लकार का आह्वान प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है। डा० अग्रवाल की गज़लें सकारात्मक सोच से युक्त हैं। जहाँ मानव-मात्र अपने विषय में सोचता है वहीं इनकी गज़लों ने पाठकों को समाज के हित के विषय में सोचने के लिए विवश कर दिया है। उनकी गज़लों के ये अशआर जन-जन तक संदेश पहुँचाने के लिए पर्याप्त हैं—

प्रेम हो, अपनत्व हो, सहयोग हो सेवा भी हो।

सिर्फ़ पैसा ही नहीं, हर बार जीने के लिए।⁽³⁾

आपको जीवन में क्या होना है यह मत सोचिए।

दुःख में डूबे आदमी की ज़िंदगी हो जाइए।

रेत के तूफ़ाँ उठाती आ रही हैं आँधियाँ,

हर मरुस्थल के लिए बहती नदी हो जाइए।⁽⁴⁾

बचाने के लिए बाँहें बढ़ाना कम नहीं होता,

भँवर के बीच तिनके का सहारा कम नहीं होता।

जहाँ तक हो सके हमदर्दियाँ बाँटो ज़माने में,

ज़मीं को सींचते रहने से दरिया कम नहीं होता।⁽⁵⁾

अस्तु, डा० अग्रवाल निराशा में डूबते व्यक्ति को आशाओं से भरने का प्रयास करते प्रतीत होते हैं। उनकी गज़लें मानवीय मूल्यों से ओतप्रोत हैं।

(2) नाट्य-साहित्य :

डा० अग्रवाल के अब तक छः नाट्य-संकलन प्रकाशित हुए हैं। जो अग्रलिखित हैं—

1. नीली आँखें एवं अन्य एकांकी, 2. बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक, 3. बच्चों के हास्य

नाटक . बच्चों के रोचक नाटक, 5. ग्यारह नुक्कड़ नाटक, 6. मंचीय व्यंग्य एकांकी।

‘नीली आँखें एवं अन्य एकांकी’ में ग्यारह एकांकी सम्मिलित हैं। इन एकांकियों के कथानक समाज के मध्य से ग्रहण किए गए हैं। ‘देवदासी’ एकांकी में दक्षिण भारत की कुप्रथा को प्रस्तुत किया गया है। साथ ही उन लोगों पर कटु व्यंग्य किया गया है, जो समाज में इन कुप्रथाओं को बढ़ावा दे रहे हैं और दुर्गाबा जैसी भोली-भाली लड़कियों को देवदासी बनाकर उन पर अत्याचार कर रहे हैं। देवदासी बनाई गई ये लड़कियाँ अल्पायु में ही अपनी देह बेचने के लिए विवश हो जाती हैं अथवा इन्हें दर-दर की ठोकें खानी पड़ती हैं, जिसका जिम्मेदार स्वयं समाज है। इनसे जीवन-मूल्यों को काफ़ी आघात पहुँच रहा है। ‘वेतन’ एकांकी दांपत्य जीवन की समस्याओं पर आधारित है। ‘मैं अपराधी नहीं हूँ’ एकांकी में एक ऐसे निर्मम पुत्र का वर्णन किया गया है, जो सेवा न करने के कारण अपने ही पिता की हत्या कर देता है। वर्तमान समाज पर आधारित यह नवयुवकों पर किया गया ऐसा व्यंग्य है, जिसकी समाज को आवश्यकता थी। इस एकांकी का यह कथन देखिए—‘यदि क़ानून लाइलाज रोगियों को मार डालने की अनुमति दे देता है तो कल लोग ऐसे साधारण रोगियों को भी मार डालने में हिचक महसूस नहीं करेंगे, जो स्वस्थ हो सकते थे, जीवित रह सकते थे।’⁽⁶⁾

‘बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक’ में 22 नाटक संकलित हैं। ये सभी नाटक बच्चों को शिक्षा प्रदान करनेवाले एवं दिशाबोधक भी हैं। ‘बच्चों के हास्य नाटक’ में 16 नाटक संकलित हैं। ये नाटक न केवल बच्चों का मनोरंजन करते हैं, बल्कि बच्चों के ज्ञान को विकसित भी करते हैं। ‘बच्चों के रोचक नाटक’ में 15 नाटक संकलित हैं। ये नाटक रोचक भी हैं और आनंदवर्धक भी।

डा० अग्रवाल के बालनाटक बाल-रंगमंच के क्षेत्र में एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति में सहायक बनेंगे। ये बालनाटक ज्ञानवर्धक के साथ-साथ दिशाप्रद और शिक्षाप्रद भी हैं। ‘बच्चों के रोचक नाटक’ से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

सत्यव्रत : आप इस सूखे वृक्ष के नीचे बैठकर क्या कर रहे हैं?

ऋषि : एक-एक चुल्लू पानी दे रहा हूँ, इस पेड़ की जड़ में।

(ऋषि घड़े से पानी लेकर पेड़ की जड़ में डालता जाता है।)

सत्यव्रत : कितने दिन हो गए महाराज, आपको यह काम करते हुए?

ऋषि : पाँच वर्ष हो गए हैं, बेटे!

सत्यव्रत : पर वृक्ष तो अब तक हरा नहीं हुआ।

ऋषि : नहीं हुआ और शायद होगा भी नहीं।

सत्यव्रत : क्यों महाराज? ऐसा क्यों है?

ऋषि : साधना से प्रकृति अपना नियम नहीं बदलती है, बेटे?

सत्यव्रत : फिर इस साधना का लाभ ही क्या है, महाराज?

ऋषि : वही, जो तुम्हारी साधना का होगा। तुमने विद्वान बनने के लिए तपस्या की लेकिन विद्वान नहीं बन सके। विद्वान बनने के लिए जिस तपस्या की आवश्यकता है, वह तुमने नहीं की है और सूखा पेड़ काटकर नया वृक्ष लगाने का जो परिश्रम है, वह मैंने नहीं किया।⁽⁷⁾

डा० अग्रवाल के सभी नाटक बच्चों के मनोरंजन साथ-साथ उनके ज्ञान को सरलता

व सहजता से बढ़ानेवाले भी हैं। इन नाटकों को पढ़कर बच्चे बहुत कुछ सीखते हैं और उस शिक्षा को जीवन में धारण भी करते हैं।

‘ग्यारह नुक्कड़ नाटक’ में ग्यारह नाटकों को संकलित किया गया है। नुक्कड़ नाटक जनजागृति और चेतना-प्रसार के लिए बहुत ही प्रभावी माध्यम है। डा० अग्रवाल ने अपने इन नुक्कड़ नाटकों में सजग एवं युगबोध-संपन्न साहित्यकार के दायित्व का निर्वाह बहुत ही खूबी के साथ किया है। उनके इन नुक्कड़ नाटकों में वर्तमान समय की लगभग सभी समस्याओं को अभिव्यक्ति मिली है।

नुक्कड़ नाटकों की पृष्ठभूमि के संदर्भ में डा० अग्रवाल लिखते हैं— हमारे यहाँ शताब्दियों पहले से धार्मिक, पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटक खुले आसमान के नीचे खेले जाते रहे हैं। इसी सशक्त परंपरा के गर्भ से नुक्कड़ नाटकों का उदय हुआ।

नाटकों के कथानक प्रौढ़ता लिए हुए हैं। समसामयिक समस्याएँ ही इस संग्रह के नाटकों की कथावस्तु है। ‘भ्रष्टाचार समर्थक मोर्चा’ में भ्रष्ट व्यवस्था पर करारा व्यंग्य किया गया है। जिसमें घासीराम सूत्रधार बनकर सामने आता है। सूत्रधार घासीराम का मत है कि जब भ्रष्टाचार का विरोध करनेवाले ही भ्रष्टाचार करने लगते हैं तो इससे अच्छा है कि जनता भ्रष्टाचार का खुलकर समर्थन करे, जिससे यह मुद्दा ही समाप्त हो जाए। इस प्रकार मंच पर एक-एक करके भ्रष्टाचारी आते-जाते हैं और अपने-अपने भ्रष्टाचारों का जनता के सामने खुलकर बखान करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि पहले भ्रष्टाचार बढ़ाओ, फिर रुपया-पैसा कमाओ और फिर जनहित में काम करने के नाम पर नाम कमाने लगे।

‘चौदह दिन की हवालात’ एक घटना-प्रधान नाटक है, जिसमें स्पष्ट किया गया है कि जो रोज़गार के लिए बैंकों से ऋण लेते हैं, वे ऋणदाता कभी-कभी आत्महत्या तक कर बैठते हैं। इसी प्रकार ‘खुशामद से खुदा राजी’ में चापलूसी, तारीफ़ और वाहवाही करनेवाले लोगों का वर्णन किया गया है, जिनकी झूठी खुशामद करने से सभी प्रसन्न रहते हैं। यदि कोई मनुष्य वर्तमान समय में सत्य वचन कहता है या अपनी बात स्पष्ट कहने में विश्वास रखता है तो वह दुनिया में सफल नहीं हो सकता। यदि किसी को अपना कोई काम करवाना है तो उसे खुशामद करना सीख लेना चाहिए क्योंकि खुशामद करने से खुदा भी मान जाता है। इस नुक्कड़ नाटक की ये पंक्तियाँ देखिए—

छोटा राजी है मेरी जान बड़ा राजी है

सच तो यह है कि खुशामद से खुदा राजी है।⁽⁸⁾

‘बीस बीघा ज़मीन’ में नई पीढ़ी द्वारा गाँवों को ज़मीन बेचकर शहरों की ओर भागने तथा पारिवारिक समस्या का वर्णन किया गया है। ‘सरकार का निजीकरण’ में स्पष्ट किया गया है कि सरकार हर क्षेत्र का निजीकरण करने पर तुली हुई है तथा निजी क्षेत्र को काफी बढ़ावा दिया जा रहा है। सड़कों का निर्माण, ऐतिहासिक महत्त्व की प्राचीन इमारतों, जल-आपूर्ति, बिजली आपूर्ति, कल-कारखाने बैंक आदि को सरकार ने निजी क्षेत्र में देने का फैसला कर लिया है। ‘दुनिया और दिखावा’ में पारिवारिक रिश्तों की पड़ताल की गई है तथा यह प्रमाणित किया गया है कि रिश्ते आज दुनिया की ज़रूरत नहीं हैं बल्कि ज़रूरत के रिश्ते हैं।

‘सपनों के मारे ये लोग’ सामाजिक विसंगतियों पर आधारित करारा व्यंग्य है। ‘रेलवे

प्लेटफार्म' पुलिस विभाग के भ्रष्टाचार 'धंधेबाज़' ट्रेड यूनियन की आवश्यकता तथा ट्रेड यूनियन के नेताओं के गोरखधंधों की पोल खोलनेवाला नुक्कड़ नाटक है। 'संसद इक्कीसवीं सदी में' नाटक में राजनीति के बढ़ते अपराधिकरण पर प्रकाश डाला गया है तथा 'घोटाला इतिहास' नुक्कड़ नाटक में सभी प्रकार के घोटालों का वर्णन किया है।

इस प्रकार डा० अग्रवाल ने अपने नुक्कड़ नाटकों में सामाजिक समस्याओं, विद्रूपताओं, विसंगतियों व विघटित होते हुए रिश्तों एवं विभिन्न प्रकार के घोटालों का वर्णन किया है। मंचीय व्यंग्य एकांकी में डा० अग्रवाल ने 13 एकांकियों को सम्मिलित किया है— 'रेलवे प्लेटफार्म', 'प्रतीक्षा-रोग', 'कुत्ता नर्सिंग सेंटर', 'पाँच दशक बाद की लोकसभा', 'रसोईबंद हड़ताल', 'घोटाला इतिहास', 'एक आंदोलन ऐसा भी', 'आग का तमाशा', 'इक्कीसवीं सदी में' और 'श्रीमान एक्स-21' ये एकांकी सम्मिलित हैं।

(3) कथा-साहित्य :

डा० अग्रवाल का एक कहानी-संग्रह प्रकाशित हुआ है, जिसका नाम है— जिज्ञासा एवं अन्य कहानियाँ। ये सभी कहानियाँ सामाजिक यथार्थ पर आधारित हैं। 'एक और महाभारत' कहानी की मुख्य पात्रा शीला के माध्यम से स्त्रियों की वर्तमान दयनीय एवं मार्मिक दशा का वर्णन किया गया है। शीला का यह कथन स्त्रियों की वास्तविक स्थिति को उजागर करता है—'तो इसी दिन के लिए डोली उठवाकर लाए थे। विवाह की वेदी पर यही प्रतिज्ञा की थी। तुम मर्द लोग सोचते क्या हो? पराए घर की लड़की से जैसा चाहे व्यवहार किया जाए और वह मूक पशु की भाँति सब कुछ सहती रहे, अपमान को मान समझकर मुस्कुराती रहे। अपशब्दों को शिव की तरह कड़वा घूट मानकर पी जाए। आखिर क्या सोचते हैं आप! क्या आप पहले से नहीं जानते थे कि पत्नी के आने पर उत्तरदायित्व बढ़ जाएंगे...।'⁽⁹⁾

डा० अग्रवाल की सभी कहानियाँ जीवन-मूल्यों से पूर्णतया युक्त हैं। इन्होंने समाज से जुड़े अनेक पहलुओं को अपनी कहानियों का विषय बनाया। सांप्रदायिक दंगे, आधुनिक समाज में व्यक्ति की टूटन, घुटन, अंतर्जातीय विवाह, संदेहों से पीड़ित गृहस्थी, धर्म-परिवर्तन तथा सांसारिक भ्रमजाल को अपनी कहानियों में अभिव्यक्ति प्रदान की। जीवन की वास्तविक घटनाओं से जुड़ी हुई ये कहानियाँ तथा दैनिक जीवन की वास्तविकता को उजागर करती कहानियाँ हैं।

डा० अग्रवाल जीवन-मूल्यों, स्वस्थ एवं जीवंत परंपराओं के साथ-साथ वर्तमान जीवन की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं को भी दृष्टिगत रखकर अपनी कहानियों का ताना-बाना बुननेवाले कथाकार हैं। 'धुआँ बनती ज़िंदगी', 'प्रायश्चित्त' और जिज्ञासा कहानियाँ मानव-मूल्यों से युक्त ऐसी कहानियाँ हैं, जो पाठकों को प्रभावित करती हैं तथा उन्हें मानवीय मूल्यों के प्रति सचेत भी करती हैं। 'धुआँ बनती ज़िंदगी' में डा० अग्रवाल ने रूढ़िवादी परंपरा से युक्त एक ऐसे गाँव का वर्णन किया, जहाँ पीने के लिए जल और पढ़ने के लिए विद्यालय तक की व्यवस्था नहीं है। ऐसे गाँव में शिक्षा को पाप समझा जाता है क्योंकि पढ़नेवाला व्यक्ति यदि अपने पैरों पर खड़ा हो गया तो कुँवर साहब जैसे व्यक्तियों की मजदूरी कौन करेगा तथा निर्धन किसानों का शोषण किस प्रकार होगा? डा० अग्रवाल ने शिक्षा के प्रसार को मधुआ के माध्यम से स्पष्ट कराते हुए कहा कि—'मधुआ ने घर आकर पहला फ़ैसला सुनाया—अब सूरज मजदूरी करने नहीं जाएगा। वह केवल स्कूल जाएगा। मैं नहीं चाहता कि वह मेरी तरह हरवाही करे। वह पढ़ेगा और जरूर पढ़ेगा

भले ही मुझे अपना तन क्यों न बेच देना पड़े। वह सूरज को किसी का बंधुआ नहीं बनने देगा।⁽¹⁰⁾

सूरज सुनता रहा था। वह केवल सुनता ही नहीं रहा था, सारी परिस्थिति पर विचार भी करता रहा था। कुँवर साहब में आखिर ऐसा क्या है कि टोली के सारे लोग उनसे काँपते हैं, एक दहशत सबके चेहरों पर चिपकी रहती है। ऐसी दहशत जो लाख पोंछने पर भी पुँछ नहीं पाती। न जाने कितने ही युगों से ये लोग निरंतर अत्याचार की आग में जलते रहे हैं।

मानव-मूल्यों को सर्वोपरि आधार बनाकर प्रायश्चित्त कहानी का ताना बाना बुना गया है। 'प्रायश्चित्त' कहानी के मिर्जा अली बेग और सुरेंद्रसिंह ऐसे दो मुख्य पात्र हैं; जिनके माध्यम से उन्होंने सांप्रदायिक जुनून का वर्णन किया और स्पष्ट किया कि किस प्रकार लोग सांप्रदायिक जुनून उत्पन्न होने पर एक-दूसरे की जान तक लेने के लिए तत्पर हो जाते हैं तथा अपने इस दुष्कर्म को पूर्ण करने के लिए एक-दूसरे के पेट में छुरा तक घोंप देते हैं। ऐसा करने में उन्हें जरा भी दुःख नहीं होता लेकिन डा० अग्रवाल की कहानी का सफल प्रयास लोगों में सांप्रदायिक जुनून उत्पन्न करना नहीं है बल्कि वे तो समाज में सद्भावना, मानवता, प्रेम, उदारता लाना चाहते हैं तभी तो सांप्रदायिक जुनून में जिस सुरेंद्र सिंह ने मिर्जा अली बेग के छुरा घोंपकर उसकी हत्या करने की कोशिश की थी, उसी सुरेंद्र सिंह के मन में जब मानवीयता का भाव जाग्रत हुआ तो उसने मिर्जा अली बेग की जान बचाने के लिए अपना रक्त दान कर मिर्जा अली बेग को बचा लिया। 'प्रायश्चित्त' कहानी के ये कथन निश्चय ही कथाकार के चिंतन को उजागर करते प्रतीत होते हैं—

'लेकिन, मुझे ताज्जुब है कि जब मेरी जान बचाने के लिए खून की जरूरत थी और मेरे ग्रुप का खून मिल ही नहीं रहा था तो तुम अपना खून देने के लिए तैयार कैसे हो गए? दंगे के दिन क्या वह तुम नहीं थे, कोई दूसरा था, जिसने चाकू घोंपकर मुझे मौत के घाट उतार देने की कोशिश की थी। जरूर वह कोई दूसरा रहा होगा। लेकिन मेरी आँखें तो धोखा नहीं खा सकतीं, मेरे भाई।' ⁽¹¹⁾

'नहीं मिर्जा! तुम्हारी आँखें धोखा नहीं खा रही हैं। उस दिन तुम्हारी हत्या की कोशिश करनेवाला भी मैं ही था और वह भी मैं ही हूँ, जिसने तुम्हारी जान बचाने के लिए अपना खून दिया है। समय-समय की बात होती है, मिर्जा। उन्माद के क्षण स्थाई नहीं होते हैं।'

इस कहानी के माध्यम से डा० अग्रवाल ने कई प्रश्न पाठकों के सम्मुख उठाए हैं, जो आज भी हमारे समाज के लिए प्रासंगिक हैं—'आखिर आदमी खूनखराबे में इतना मज्जा क्यों लेता है? क्या वह अपनी आदत से ही खूनखराबा पसंद करता है। जिस समय वह खुद नहीं लड़ता है उस वक्त जानवरों और परिंदों को लड़ाकर खुश होता है। क्यों है ऐसा।' ⁽¹²⁾

'एक और महाभारत' में डा० अग्रवाल ने समाज में व्याप्त जुए जैसी बुराई को कहानी का विषय बनाया है, जो समाज के पतन का मुख्य कारण है। कहानी के मुख्य पात्र के चरित्र को उजागर कर उसके भावों को अभिव्यक्ति प्रदान की—'अभी तो शीला को भी यह नहीं बताया था कि महीने का पूरा वेतन जुए की भेंट हो चुका है और उधार ऊपर से चढ़ गया है। उसके पैर दोस्तों के बीच जाने के लिए फिर से व्याकुल होने लगे। खुजलाते हाथ बार-बार पत्ते थामने के लिए ऐसे व्यग्र हो रहे थे, जैसे सारे संसार की संपत्ति उसकी अंजुरियों में आकर एकत्र हो जाएगी। लेकिन जुआ पैसे के बिना हो नहीं सकता और जब तक पिछला नहीं, चुकाया जाएगा, नया उधार मिलने की कोई संभावना दिखाई नहीं देती।' ⁽¹³⁾

जुआरी व्यक्ति 'एक और महाभारत' के पात्र की भाँति अपनी पत्नी और बच्चों के सुख से वंचित हो जाते हैं। उनका सुख, शांति सब कुछ समाप्त हो जाता है। जुआरी व्यक्ति के सब कुछ गवाँ देने पर वह अजीब भय और दहशत से काँपने लगता है। भौतिक पदार्थों की हार को तो जीत में बदला जा सकता है किंतु आत्मा के हार जाने की व्यथा अकथनीय होती है। वह लज्जा और ग्लानि के अथाह समुद्र में गोते लगाने लगता है।

'यह चिट्ठी मेरी है' कहानी बाल-मनोविज्ञान पर आधारित तथा शहरों में बाल मजदूरी और बच्चों की निरक्षरता जैसे अभिशाप पर लिखी गई सार्थक कहानी है। इस कहानी में एक ग्यारहवर्षीय बालक है, जिसका नाम जग्गी है। जो प्रकाश बाबू के यहाँ नौकरी करता है। अल्पायु में ही उसे बहुत से कार्य करने पड़ते हैं क्योंकि वह निरक्षर है। वर्तमान समय की वास्तविकता पर आधारित इस कहानी का एक अंश प्रस्तुत है—

'जग्गी, तुझे अपने घर की याद आती है कभी?' प्रकाशबाबू ने सामने खड़े ग्यारह वर्षीय जग्गी से जब यह सवाल किया तो वह दरवाजे पर लटके परदे को अपने हाथ पर लपेटने लगा। ऐसा लगता था कि वह कुछ कहना तो चाहता है किंतु शब्दों को जोड़ पाना उसके लिए कठिन हो रहा है।¹⁴

प्रस्तुत कहानी को बड़ी ही रोचकता से पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया गया है। कहानी के अंत में प्रकाश बाबू के माध्यम से डा० अग्रवाल ने निरक्षरता जैसे अभिशाप को समाज से दूर करने का प्रयास किया है। 'सर्टिफिकेट', 'एक और लक्ष्मणरेखा', 'फरिश्ता और भटकाव' ये कहानियाँ पाठकों को प्रभावित करनेवाली सार्थक संदेशों से युक्त कहानियाँ हैं। 'सर्टिफिकेट' कहानी किसान के शोषण से युक्त ऐसी कहानी है, जिसमें रामदीन जैसे न जाने कितने किसानों को दर-दर की ठोकरें खानी पड़ती हैं। इस कहानी का मुख्य पात्र रामदीन, जिसे एस०डी०एम० महोदय ने सर्टिफिकेट प्रदान किया लेकिन जब उसे मदद की आवश्यकता होती है तब उसे सहायता कोष से कोई राहत नहीं मिलती बल्कि उसका प्रत्येक स्थान पर शोषण होता है। अंत में वह निराश होकर अपने गाँव लौट आता है।

डा० अग्रवाल ने 'भटकाव' कहानी के माध्यम से पाठकों को ब्राउन शुगर के विषय में बताते हुए कहा है कि—'ब्राउन शुगर नशा नहीं है बल्कि एक जहर है। इसमें हेरोइन की मात्रा एक प्रतिशत से भी कम होती है। इसे बनाते समय कई जहरीली चीजों के अलावा चूहे मारने की दवा, चूना साइनेट और कुनेन मिलाई जाती है।'⁽¹⁵⁾

अस्तु ये सभी कहानियाँ मानवीय मूल्यों से युक्त हैं, जिनसे पाठकों को नवीन शिक्षा मिलती है। ये सभी कहानियाँ पाठकों पर प्रभाव डालनेवाली तथा बेजोड़ कहानियाँ हैं।

(4) हास्य-व्यंग्य-साहित्य :

डा० अग्रवाल के तीन व्यंग्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। प्रथम व्यंग्य-संग्रह 'बाबू झोलानाथ' है, जो सन् 1996 ई० में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में कुल 26 व्यंग्य संकलित हैं और सभी सामाजिक सत्यता पर आधारित हैं। सामाजिक विसंगतियों, परिस्थितियों व समस्याओं को डा० अग्रवाल ने अपने व्यंग्यों में अभिव्यक्त किया। दूसरा व्यंग्य-संग्रह 'राजनीति में गिरगिटवाद है, जो सन् 1997 ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें 28 व्यंग्य संकलित हैं। और तीसरा व्यंग्य-संग्रह 'मेरे इक्यावन व्यंग्य' है, जो सन् 2005 में प्रकाशित हुआ। इसमें 51 व्यंग्य संकलित किए गए हैं। इन

व्यंग्य-संग्रहों के अतिरिक्त डा० अग्रवाल ने शिक्षा व्यवस्था, चिकित्सा-व्यवस्था, पुलिस-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था, कार्यालयीन-व्यवस्था, भ्रष्टाचार, धार्मिक आडंबर, पारिवारिक जीवन, साहित्यिक परिवेश, मानव-चरित्र, राजनीतिक परिवेश आदि पर अनेक व्यंग्य लिखे हैं।

लेखक ने मानव-जीवन में अनेक प्रकार की विसंगतियों, विद्रूपताओं, निर्धन-वर्ग का शोषण, भ्रष्टाचार, अत्याचार, गरीबी, आदि को देखा है तथा पाठकों को इन सब विसंगतियों से अवगत कराने के लिए व्यंग्य को माध्यम बनाया है। क्योंकि यह विधा एक ऐसा सशक्त माध्यम है, जिससे किसी भी अव्यवस्था पर प्रहार किया जा सकता है अथवा पाठकों को विद्रूपताओं के प्रति जागरूक भी किया जा सकता है।

इन व्यंग्यों के विषय समाज के कुछ ऐसे पात्र हैं, जिनसे अपने दैनिक जीवन में हम कहीं-न-कहीं जुड़े हुए हैं जैसे-लेखक, मास्टर, बाबू, साधू, साहित्यकार, चोर, डकैत, मक्खीचूस, दीवानजी, शायर, मेहमान, ज्ञानीजी, पत्नी, मित्र तथा गुरुजी आदि। इन पात्रों को केंद्र में रखकर डा० अग्रवाल ने अनेक व्यंग्यों की रचना की है।

राजनीति हो या समाज, व्यक्ति हो या परिवार, शिक्षा का क्षेत्र हो अथवा न्याय का क्षेत्र, प्रशासनिक व्यवस्था हो या सांप्रदायिक ढाँचा डा० अग्रवाल ने सभी विसंगतियों को समाज से दूर करने का प्रयास किया है।

बाबू झोलानाथ में वे एक जगह लिखते हैं-‘इस देश में खाने के लिए बहुत साधन हैं सरकार! चंदा है, भिक्षा है कर्जा है चकमेबाजी है और बहुत से धंधे हैं साहब! वे सब अप्रत्यक्ष आय के स्रोत ही तो हैं, सरकार! पर इन्हें आय प्रमाण-पत्र में दिखाया तो नहीं जा सकता।’⁽¹⁶⁾

डा० अग्रवाल के व्यंग्य पाठकों के सम्मुख वर्तमान समय की सत्यता को उदभासित करते प्रतीत होते हैं साथ ही ये व्यंग्य पाठकों पर अपना प्रभाव अवश्य छोड़ते हैं। बेरोजगारी और अभावों से टूटते समाज में पेट भरने की मजबूरियों पर उपर्युक्त पंक्तियों में जो तीखा व्यंग्य छिपा है, वह लेखक की उस पीड़ा को दर्शाता है, जो चकमेबाजी जैसे अनैतिक कार्यों को देखकर उसे होती है। डा० अग्रवाल ने सरकारी कार्य करनेवाले तथा निर्धनों का शोषण करनेवाले उन लोगों पर भी प्रहार किया है, जो दूसरों का शोषण करने में लगे हुए हैं।⁽¹⁷⁾

लेखक की पैनी दृष्टि से कुछ भी नहीं बच पाया। सरकार में व्याप्त चकमेबाजी, छल, निर्धन वर्ग का शोषण, धाँधलेबाजी आदि को इन्होंने ‘बाबू झोलानाथ’ और ‘कर्जा संस्कृति जिंदाबाद’ में स्पष्ट किया। शोषण, धाँधलेबाजी, घपलेबाजी और भ्रष्टाचार आदि दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। किसानों पर बैंक वालों की घपलेबाजी को लेखक ने ‘कर्जा संस्कृति जिंदाबाद’ में मुख्य पात्र भीखालाल के माध्यम से अभिव्यक्त कराते हुए कहा कि-‘कोई एक घपलेबाजी थोड़ी है ऋण के चक्कर में। अच्छा-खासा आदमी घन-चक्कर बन जाता है। सुनो, अब तुम्हें बताते हैं। चैक तो बैंक से हमें बीस हजार का ही मिला, पर वह काटा गया उस कंपनी के नाम, जहाँ से हमें इंजन लेना था और बोरिंग आदि का काम कराना था। उन महाशय ने पहले से पाँच हजार बैंकवालों को खर्चा-पानी के लिए दिए, बाद में अपना कमीशन लिया, सैल्स-टैक्स काटा और काट फाँटकर हमारे पल्ले में डाल दिए छोटे बारह हजार।

‘बीस हजार में बारह?’

हमारा मुँह खुले-का-खुला रह गया। ‘आध बटाई भीखालाल?’⁽¹⁸⁾

डा० अग्रवाल ने सामाजिक व्यवस्था के अनेक पहलुओं पर करारा व्यंग्य किया है। समाज में प्रचलित परंपराएँ, रीति-रिवाज, प्रथाएँ जब गतिमान समय के वेग से पिछड़ जाती हैं तो सर्वसाधारण का जीवन इन सबसे व्यग्र हो उठता है। ऐसे में समाज में अनेक प्रकार की अव्यवस्थाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनका प्रभाव मनुष्यों के साथ-साथ उनके व्यवहार एवं मानवीय मूल्यों पर भी पड़ता है। व्यक्ति एक ओर सत्य आचरण, ईमानदारी एवं नैतिकता की बड़ी-बड़ी बातें करता है तो दूसरी ओर वही व्यक्ति झूठ, बेईमानी तथा भ्रष्टाचार का सहारा लेकर आगे बढ़ता है। वास्तविकता यही है जो मनुष्य संसार में झूठ, चोरबाजारी, तस्करी, स्मगलरी, काले धंधे, भ्रष्टाचार, अत्याचार, पाप आदि करते हैं, वे जीवन में उन्नति करते हुए आगे बढ़ते चले जाते हैं, जबकि सत्य मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति एक ही जगह पड़े रह जाते हैं।

डा० अग्रवाल ने ऐसे ही व्यक्तियों की पाखंडपूर्ण मनोवृत्तियों एवं व्यवहारों का पर्दाफाश किया है। सामाजिक अव्यवस्था, विसंगतियों एवं विद्रूपताओं पर आधारित डा० अग्रवाल ने अनेक व्यंग्य लिखे। इन व्यंग्यों के माध्यम से डा० अग्रवाल ने पाठकों को उन सभी वास्तविकताओं से परिचित कराने का प्रयास किया जिनसे पाठक अनभिज्ञ हैं। डा० अग्रवाल ने समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार को 'आओ भ्रष्टाचार करें' व्यंग्य में स्पष्ट करते हुए कहा कि—'कल आई०ए०एस० अधिकारियों ने अपनी एक विशाल पंचायत बुलाई, जिसमें भ्रष्ट अधिकारियों की निशानदेही करने तथा सर्वोच्च भ्रष्टाचारी की सबसे ऊँची उपाधि देने पर विचार किया जाना था। यह तो हम नहीं जानते कि इस पर कितना विचार हुआ, क्योंकि हमारे यहाँ विचार के लायक गंभीर बातों पर तो बिल्कुल नहीं, आलतू-फालतू बातों पर अधिक विचार किया जाता है। वैसे भ्रष्टाचार एवं भ्रष्टाचारियों पर विचार करना भी एक प्रकार से आलतू-फालतू बात ही है...।

'आज तो हमने भ्रष्टाचारियों की हालत पतली कर दी। ऐसी-ऐसी सुनाई की बोलती बंद हो गई उनकी।'..⁽¹⁹⁾

विश्वास नहीं होता। अब तक यह सुनते आए थे कि साधन-संपत्ति, अधिकार-संपन्न महापुरुषों की हालत तो कभी पतली होती ही नहीं, हमेशा गुरीब ही का हाल पतला होता है। उसी का आटा, उसी की दाल पतली होती है, महापुरुषों की नहीं।'

डा० अग्रवाल ने समाज में व्याप्त वर्तमान समय की उस वास्तविकता का वर्णन किया जिसका पालन आज सभी पुलिस अधिकारी कर रहे हैं। 'आओ भ्रष्टाचार करें' व्यंग्य पुलिस-प्रशासन द्वारा फैलाए जा रहे भ्रष्टाचारों का पर्दाफाश करनेवाला तथा पुलिस प्रशासन-व्यवस्था पर करारा व्यंग्य है।

इस प्रकार डा० अग्रवाल ने अपने व्यंग्यों के माध्यम से पाठकों को समाज और व्यक्ति की वास्तविकता से परिचित कराया है साथ ही मुखौटों और नकाबों में छिपे उन चेहरों को नकाबरहित किया, जो समाज में इन अव्यवस्थाओं को उत्पन्न कर रहे हैं।

(5) बाल साहित्य :

बाल-साहित्य के अंतर्गत डा० अग्रवाल द्वारा लिखित चार संग्रह प्रकाशित हुए हैं—

(1) बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक, (2) बच्चों के हास्य नाटक, (3) बच्चों के रोचक नाटक, (4) आओ अतीत में चलें।

बालमनोविज्ञान की दृष्टि से सभी नाटक बच्चों के लिए उपयोगी हैं। ये नाटक शिक्षाप्रद,

ज्ञानवर्धक, हास्य, रोचक तथा बाल-सुलभ चेष्टाओं से युक्त हैं। 'आओ अतीत में चलें' आदिकालीन मानव-विकास पर आधारित है। इस पुस्तक के माध्यम से डा० अग्रवाल ने बच्चों को मानव विकास की कहानी सुनाई है। 'विक्रम दा' कस्बे की चौपाल पर बैठकर बच्चों को बताते हैं कि किस प्रकार मनुष्य का विकास हुआ अथवा पूर्व समय में अर्थात् चौबीस लाख वर्ष पूर्व मनुष्य किस प्रकार रहता था, गोत्रों और समुदायों का विकास कैसे हुआ तथा किस प्रकार मनुष्यों ने औजार, हथियार, अग्नि आदि का निर्माण किया। इस अतीत को डा० अग्रवाल ने रोचक शैली में लिखा है।

'आओ अतीत में चलें' पुस्तक के माध्यम से उन्होंने अतीत की पूर्व गाथा को चित्रित किया तथा उस शताब्दी का वर्णन किया जिसे आधुनिक समय में कोई नहीं जानता। इन्होंने इस पुस्तक में अतीत की उस गाथा को पाठकों व बच्चों के सम्मुख प्रस्तुत किया। डा० अग्रवाल ने ऐसे-ऐसे बाल-साहित्य हिंदी-साहित्य को प्रदान किए जो अतुलनीय है। अतीत का यह कथन प्रस्तुत है—'हड्डी और पत्थरों के सीधे-सादे हथियार ही आदिमानव के विकास का पहला क्रांतिकारी अध्याय है। इनकी सहायता से वह अपने लिए बेहतर आहार प्राप्त कर सकता था तथा अपनी सुरक्षा भी अच्छे ढंग से कर सकता था। वह पत्थर की धारदार बछियाँ फेंककर दूसरे जंतुओं का शिकार आसानी से कर लेता था। हड्डी और पत्थर के इन हथियारों ने आदिमानव के हाथों की पहुँच को कई गुना अधिक बढ़ा दिया। उन्हें शक्ति दी और यह सोचने की क्षमता दी कि मानव अन्य जीव-जंतुओं से अधिक श्रेष्ठ है। वह हथियारों के प्रयोग से अपने लिए अधिक खाद्य सामग्री एकत्र कर सकता है।' (20)

आदिमानव का किस प्रकार धीरे-धीरे विकास हुआ, उसने अपनी सहायता किस प्रकार की, डा० अग्रवाल ने इस पुस्तक के माध्यम से पाठकों को उस अतीत से परिचित कराया है। आदिमानव के विकसित होते मस्तिष्क की झाँकी इन शब्दों में प्रस्तुत है—

'रोशनी के लिए विभिन्न वृक्षों की लकड़ियाँ जलाते-जलाते आदमी ने अनुभव किया कि कुछ विशेष प्रकार के पेड़ ऐसे हैं, जिनसे एक प्रकार का तरल पदार्थ, गोंद अथवा राल जैसी वस्तु निकलती है। यह लकड़ी जलने पर रोशनी तो अधिक देती ही है, साथ ही जलती भी देर तक है। इसी अनुभव ने आदमी को विकास के मार्ग पर एक कदम और आगे बढ़ाया। अब उसने वृक्षों की यह राल लकड़ी के चारों ओर लपेटकर जलाना आरंभ किया।' (21)

मानव विकास धीरे-धीरे हुआ। मनुष्य ने बुद्धि विकसित हो जाने पर अनेक प्रकार की धातुओं, हथियारों, औजारों का निर्माण किया। समय बीतता गया और मानव-बुद्धि विकसित होती गई। इस विकास से मनुष्य ने आग, जल, वायु को वश में करना सीख लिया। आग जैसे साधनों से मनुष्य अपना कार्य करने लगा।

डा० अग्रवाल ने इस पुस्तक के माध्यम से आदि-मानव की उत्पत्ति से लेकर आधुनिक समय की वैज्ञानिक प्रगति का वर्णन किया। इनका बाल-साहित्य जहाँ बच्चों को शिक्षा, दिशा व ज्ञान प्रदान करता है, वहीं बड़ों को भी कुछ ऐसे तथ्यों से परिचित कराता है, जिनसे वह परिचित होना चाहते हैं।

(6) ललित निबंध :

डा० अग्रवाल सिद्धहस्त निबंधकार हैं। उनका ललित निबंधों का संग्रह 'समय एक नाटक' सन् 1994 ई० में प्रकाशित हुआ। इस निबंध में चौदह निबंध संकलित हैं। ये निबंध

माधुर्य और रोचकता से परिपूर्ण हैं। साथ ही ये ललित निबंध जीवन और समाज से संबंधित अनेक समस्याओं तथा विभिन्न विषयों को केंद्र में रखकर लिखे गए हैं। डा० अग्रवाल की पैनी दृष्टि से सामाजिक, परिवारिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि कोई भी पहलू छिप नहीं पाया। डा० अग्रवाल जहाँ परिवार के बिखरते संबंधों को प्रकट करते हैं वही सामाजिक समस्याओं व बुराइयों को भी दूर करने का प्रयास करते प्रतीत होते हैं। ये ललित निबंध समाज का मार्गदर्शन भी करते प्रतीत होते हैं। डा० अग्रवाल जी ने अपने ललित निबंधों में समाज के प्रत्येक पहलू का चित्रण किया। इन्होंने मानव-जाति के इतिहास और उसके बहाव व विकास को अपनी व्यक्तिगत शैली में स्पष्ट किया—‘लगता है लोग सामंती और साम्राज्यवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिए जान की बाज़ी लगाकर अपने-अपने घरों से निकल आए हैं। हर तरफ़ शोर है, इंकलाब की गूँज है...। मैं देख रहा हूँ कि सामंतों के पाँवों के नीचे की ज़मीन खिसकने लगी है— वे भाग निकले हैं, चले गए हैं— अब राजा नहीं है, प्रजा और उसका राज है। लेकिन...’⁽²²⁾

इस प्रकार डा० अग्रवाल के ललित निबंध समाज की उस वास्तविकता का वर्णन करते प्रतीत होते हैं, जिन्हें कभी भी नकारा नहीं जा सकता। चारों ओर एक ही गूँज व्याप्त है कि इस समाज को बुराइयों से मुक्त कर दो अथवा मनुष्य इनके प्रति जागरूक हो और नवीन समाज का निर्माण करे। लेकिन यह सब तभी संभव होगा, जब मनुष्य मानवीय मूल्यों को समझे और उन्हें जीवन में धारण करे। यदि मनुष्य असमानता को समाप्त कर दे तो समाज अपने पूर्व रूप में आ जाएगा। लेकिन ऐसा परिवर्तन धीरे-धीरे संभव है। डा० अग्रवाल ने समाज को समय-समय पर उपदेश देकर नवयुवकों को उनके उत्तरदायित्वों के प्रति सजग रहने की प्रेरणा दी।

पारिवारिक संबंध धीरे-धीरे खंडित होते जा रहे हैं। यदि इन टूटते संबंधों को रोका नहीं गया तो एक दिन प्रलय आ जाएगी। डा० अग्रवाल ने टूटते संबंधों को अपने ललित निबंध ‘दो फूल, बिखरे हुए’ में अपने मित्र के माध्यम से इस प्रकार स्पष्ट किया है—‘जानते हैं गिरिराजजी! अब बेटे बाप को पहचानते तक नहीं हमसे अपनी ही संतानों का रिश्ता टूट गया है।’...

‘प्रश्न केवल पहचान के गुम हो जाने का नहीं है, अपने अस्तित्व का है। मुझे तो अक्सर ऐसा लगता है, जैसे मैं अस्तित्वहीन हूँ, जीवित नहीं हूँ। एक ‘शो-पीस’ हूँ, जिसे घर की युवा पीढ़ी ने न जाने किसलिए अब तक बचाए रखा है और वह न जाने कब उठाकर हमें कूड़ेदान में फेंक देगी।’⁽²³⁾

यदि मनुष्य इन मानवीय मूल्यों को समझे, जीवन में धारण करे तो मनुष्य पुनः उन्नति करता दिखाई देगा। लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है। डा० अग्रवाल ने ‘दो फूल, बिखरे हुए’ ललित निबंध में भावी नवयुवकों के विघटित होते हुए मानवीय मूल्यों को स्पष्ट करते हुए कहा—

‘वह जीवन का मशीनीकरण और आदर्शों का व्यवसाय में परिवर्तित हो जाना ही तो है, जिसने उस अंतिम इकाई को भी तोड़ दिया है, जिसे परिवार के रूप में हम-तुम जानते-मानते आए थे। सुख अब नशे में है—भोग-विलास में है—व्यक्तिगत आनंद में है—परिवार में नहीं है, समाज में नहीं है— बाप और बेटे के रिश्ते में नहीं है—’⁽²⁴⁾

आज की वास्तविक स्थिति यही है कि बाप और बेटे एक-दूसरे से दूर रहना चाहते हैं। यहाँ मानवीय मूल्यों का अभाव ही है। जीवन में मशीनीकरण ने और आदर्शों के बदलते व्यावसायीकरण ने मानवीय मूल्यों को तोड़ दिया है। टूटते मानवीय मूल्यों ने अन्य मूल्यों पर भी

आघात किया है। इन विघटित मूल्यों के विषय में अब कोई नहीं सोचता।

विघटित मूल्यों की अभिव्यक्ति डा० अग्रवाल की इन पंक्तियों से स्पष्ट है—‘मानवमूल्यों का रंग भी पीला है। वे भी क्षयरोग से पीड़ित हैं— कोई उपचारक नहीं है क्या? कोई मसीहा नहीं है क्या? मैं अपने फेफड़ों की पूरी शक्ति से चिल्लाना चाहता हूँ, लेकिन चिल्ला नहीं पाता।’⁽²⁵⁾

इनके ललित निबंध पाठकों को मानवीय मूल्यों के प्रति सचेत करने वाले तथा नवीन मूल्यों को धारण कराने वाले हैं। इस प्रकार डा० अग्रवाल के ललित निबंध पाठकों को भीतर तक कुरेद जाते हैं।

भ्रमों और अंध-विश्वासों के पीछे सभी आँखें मूँदकर चले जा रहे हैं। कोई ऐसा व्यक्ति दिखाई नहीं देता जो समाज से इन बुराइयों को दूर कर सके। डा० अग्रवाल ने इन भ्रमों को अभिव्यक्त करते हुए कहा—‘इस मंच पर भ्रमों और अंधविश्वासों के मारे पात्र हैं जो अपनी-अपनी भूमिकाएँ रोचक ढंग से निभा रहे हैं, लेकिन मंच पर वह रोशनी तेज है, वह प्रकाश बहुत तीव्र है, जो अज्ञानता को ज्ञान में बदलेगा, धोखे को सत्य की शक्ति से पराजित करेगा। मुझे विश्वास है, अटूट और अटल विश्वास!’⁽²⁶⁾

डा० अग्रवाल ने वर्तमान समय की शिक्षा-व्यवस्था पर करारा व्यंग्य किया है क्योंकि शिक्षा-संस्थानों में भी राजनीतिक भ्रष्टाचार दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। नवयुवकों के आगामी जीवन को विकास की ओर ले जानेवाले शिक्षक स्वयं राजनीति के चंगुल में फँस चुके हैं। शिक्षा व्यवस्था पर करारा व्यंग्य करती निबंध की ये पंक्तियाँ देखिए—‘स्वयं शिक्षकों की निहित राजनीति ने शिक्षा-संस्थानों के निर्मल वातावरण को दूषित किया है। अपने हितों की रक्षा के लिए उन्होंने विद्यार्थियों का उपयोग करते समय इस बात की चिंता नहीं की कि ये विद्यार्थी अपना भविष्य बनाने के लिए शिक्षा-संस्थानों की चारदीवारी में आए हैं। विभिन्न प्रकार के आकर्षक प्रलोभनों से विमोहित करके उन्होंने छात्रों को अपने विरोधी के विरुद्ध खड़ा करने में संकोच का अनुभव नहीं किया।’⁽²⁷⁾

जो विद्यार्थी अपना जीवन उत्तम बनाने के लिए महाविद्यालयों में आते हैं, विकास के मार्ग हटाकर बलपूर्वक राजनीति की दल-दल में धकेला जा रहा है। शिक्षकगण यह भी नहीं सोचते कि देश का भविष्य बनने वाले इन नवयुवकों को उस अँधेरे में क्यों धकेला जाए, जहाँ विनाश के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

‘पार्क में एक शाम’ शीर्षक निबंध में शिल्पकारी का एक अद्भुत नमूना देखिए—

‘पत्थर की जिस बैंच पर बैठा हूँ, वह नितांत कठोर, भाव-रहित, ठंडी और कष्टदायक है। लेकिन यह पत्थर, जिससे नेताजी की यह सुंदर मूर्ति ढाली गई है, अपने वर्तमान रूप में कितना हृदयस्पर्शी और प्रेरणादायक हो गया है। पत्थर एक ही है, लेकिन बदली हुई आकृतियों ने किस तरह उसके चरित्र को बदल दिया है। पत्थर वह भी है, जो रास्ता अवरूद्ध करने के लिए प्रयोग किया जाता है और वह भी, जो महापुरुषों की प्रतिमाओं में ढलकर आनेवाली पीढ़ी के लिए प्रेरणा और गौरव का स्रोत बना रहता है।’⁽²⁸⁾

बात, दरअसल, यह है कि क्रांतिकारियों, उपदेशकों अथवा समाज-सुधारकों की कार्य-शैली में जो आक्रामकता होती है, वह लेखक की वाणी में नहीं होती। वह वरिष्ठ बनकर सलाह नहीं देता, आग्रह करता है, अभिभावकों की भाँति डाटता-डराता नहीं है, वरन वह तो

मित्र की भाँति जीवन की अँधेरी गलियों में दीप-प्रज्वलित किए साथ-साथ चलता है और उन दृश्यों को सरलतापूर्वक उजागर कर देता है, जो कुरूप हैं, भद्दे हैं, जिन्हें त्यागना और मिटाना ही बेहतर होगा। इन ललित निबंधों के माध्यम से डा० अग्रवाल एक ललित निबंधकार का दायित्व निभाने में काफ़ी हद तक सफल हुए हैं।

डा० अग्रवाल ने हिंदी-साहित्य को जितने भी ललित-निबंध प्रदान किए, ये सभी निबंध कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से बेजोड़ तो हैं ही साथ ही, नवीनता, रोचकता, मानवीय मूल्यों से युक्त एवं पाठकों पर अपना जबरदस्त प्रभाव डालने वाले हैं।

संदर्भ

1. सन्नाटे में गूँज, डा० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 22
2. भीतर शोर बहुत है, पृ० 58
3. रोशनी बननकर जिओ, पृ० 66
4. वही, पृ० 82
5. वही, पृ० 100
6. नीली आँखें एवं अन्य एकांकी, मैं अपराधी नहीं हूँ, पृ० 48
7. बच्चों के रोचक नाटक, साधु की सीख, पृ० 14-15
8. ग्यारह नुक्कड़ नाटक, खुशामद से खुदा राज़ी, पृ० 58
9. जिज्ञासा और अन्य कहानियाँ, एक और महाभारत, पृ० 11
10. वही, धुँआ बनती जिंदगी, पृ० 25
11. वही, प्रायश्चित, 58
12. वही, प्रायश्चित, पृ० 60
13. वही, एक और महाभारत, पृ० 8
14. वही, यह चिट्ठी मेरी है, पृ० 35
15. वही, भटकाव, पृ० 150
16. बाबू झोलानाथ, पृ० 15
17. बाबू झोलानाथ, पृ० 14
18. मेरे इक्यावन व्यंग्य, कर्जा संस्कृति जिंदाबाद, पृ० 233
19. वही, आओ भ्रटाचार करें, पृ० 23
20. आओ अतीत में चले, पृ० 12
21. वही, पृ० 53
22. समय एक नाटक, यह भी एक नाटक है, पृ० 19
23. वही, दो फूल, बिखरे हुए, पृ० 83
24. वही, दो फूल, बिखरे हुए, पृ० 87
25. वही, रिक्शा में एक शाम, पृ० 107
26. वही, पगडंडी से पुस्तकालय तक, पृ० 47
27. वही, कालेज-कैंपस में, पृ० 125
28. वही, पार्क में एक शाम, पृ० 49



नागरजी के उपन्यासों में यथार्थबोध का विकास

बलराजसिंह

शोधछात्र, रुहेलखंड विश्वविद्यालय, बरेली (उ.प्र.)

डा० मुनीशप्रकाश अग्रवाल

शोध निदेशक, रीडर हिंदी विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर

अमृतलाल नागर प्रेमचंदोत्तर-परंपरा के सबसे सशक्त उपन्यासकार हैं। कई विद्वानों ने तो उन्हें प्रेमचंद का उत्तराधिकारी घोषित किया है। उनके उपन्यासों में इतिहास, सामाज, पुराण और संस्कृति का चित्रण जीवंतता के साथ हुआ है। उनके उपन्यास चाहे ऐतिहासिक धरातल पर लिखे गए हों अथवा सामाजिक यथार्थ पर, उन्होंने पात्रों और घटनाओं का चयन अपने आस-पास से ही किया है। आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तन भी किए हैं तथा कल्पना का सहारा भी लिया है।

नागर जी के उपन्यासों में यथार्थबोध का अध्ययन करने हेतु हम उनके उपन्यासों को तीन भागों में विभाजित कर रहे हैं—

(क) आरंभिक काल, (ख) विकास काल, (ग) प्रौढ़ काल

(क) आरंभिक काल

महाकाल : 'महाकाल' सन् 1947 में प्रकाशित नागर जी का प्रथम उपन्यास है। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि बंगाल के अकाल की विभीषिका पर आधारित है।¹ उन्होंने अकाल के चित्रों को ज्यों-का-त्यों अंकित किया है। श्री प्रकाशचंद्र मिश्र ने लिखा है— 'यथार्थ का जो भी चित्रण इस कृति में है, वह किसी भी संवेदनशील पाठक को सिर से पैर तक झकझोर देने के लिए पर्याप्त है। चावल के दाने-दाने पर झपटती हुई, कुत्तों और गिद्धों के मुँह से अन्न के दाने तथा मांस को छीनती हुई, नंगे और भूखे, स्त्री-पुरुषों की लंबी भीड़, मुट्ठीभर चावल के लिए नारियों के आखिरी वस्त्र को भी झपटकर छीनता हुआ पुरुष वर्ग, परिवार के सदस्यों— माँ, पत्नी तथा अपने छोटे-छोटे बच्चों की हत्या करता हुआ मनुष्य, जीवित शिशु को आग में भूँजकर भूख मिटाने वाला पागलपन, पत्नी के शरीर का मांस काटकर खाता हुआ पति, मुट्ठी भर चावल के लिए बेची जाती हुई नारियाँ, वेश्यालय आदि एक-से-एक रोमांचकारी चित्र उपन्यास में अकाल के यथार्थ का अंग बनाकर संपूर्ण मानवीय-संवेदना तथा लेखकीय तटस्था के साथ चित्रित किए गए हैं। ये दृश्य उपन्यास की कथा को यथार्थ का जीता-जागता आधार प्रदान करते हैं। अकाल की उक्त दृश्यावलियाँ नागर जी की पैनी यथार्थ दृष्टि का ज्वलंत प्रमाण हैं।'²

इस उपन्यास में नागरजी ने अपने पात्रों के चरित्रों को पूर्ण यथार्थता के साथ प्रस्तुत करने का पूरा प्रयास किया है, क्योंकि कुछ पात्र यथार्थवादी होते हुए भी मूल रूप से

आदर्शवादी ही दिखाई देते हैं। श्री प्रकाशचंद्र मिश्र के अनुसार— ‘वस्तुतः नागरजी का यथार्थवाद प्रेमचंद की परंपरा का यथार्थवाद है, और यह सर्वविदित है कि प्रेमचंद ने स्वतः अपने यथार्थवाद को ‘आदर्शोन्मुख यथार्थवाद’ की संज्ञा दी थी। यदि प्रेमचंद द्वारा दिए गए इस नए नाम को स्वीकार किया जा सके तो नागरजी ने अपनी इस कृति में यथार्थ के इसी रूप को उभारा है।’³ अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नागर जी इस कृति के सृजनकाल में प्रेमचंद से पूर्णतः प्रभावित थे, इसका प्रभाव उनकी रचनाओं में स्पष्ट दिखाई देता है।

सेठ बाँकेमल : सन् 1955 में प्रकाशित ‘सेठ बाँकेमल’ नागरजी की एक हास्य-व्यंग्य प्रधान औपन्यासिक रचना है। उपन्यास की कथा धारावाहिक कथा नहीं है, बल्कि इसमें ‘सेठ बाँकेमल’ के जीवन के कुछ रोचक और महत्वपूर्ण संस्मरण हैं।

‘सेठ बाँकेमल’ आगरा के एक प्रसिद्ध एवं संपन्न व्यापारी हैं। वे प्रौढ़ अवस्था में आने के बाद भी अपने पिछले जीवन के सुखद क्षणों की यादों को भुला नहीं पाते हैं। वे अपने स्व. मित्र चौबेजी को भी याद करते हैं और उनके साथ बिताए दिनों की याद को ताजा करते रहते हैं। सेठ बाँकेमल वर्तमान जीवन से असंतुष्ट दिखाई देते हैं। अपने मित्र चौबेजी के बेटे को देखकर उन्हें पिछली यादें ताजा हो उठती हैं, वे उसको पुरानी बातें सुनाना आरंभ कर देते हैं। इस प्रकार संपूर्ण उपन्यास में वे अपने जीवन की पुरानी बातें ही सुनाते रहते हैं।

अस्तु, सेठ बाँकेमल अपने मित्र चौबेजी के मरणोपरांत उनके पुत्र को अपने जीवन के मधुर अनुभव सुनाकर लोकजीवन में हास्य भरना चाहते हैं। यही इस उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य भी है। वस्तुतः सेठ बाँकेमल का हास्य लोकजीवन का हास्य है, जो यथार्थ में सहजता और स्वाभाविकता का बोध कराता है।

बूँद और समुद्र : यह उपन्यास प्रत्येक दृष्टिकोण से पूर्ण रूप से यथार्थवादी उपन्यास है। नागर जी ने इस उपन्यास में मध्यम वर्ग के जीवन को प्रमुखता दी है। उन्होंने मध्यम वर्ग के प्रत्येक पहलू का सफलतापूर्वक यथार्थ रूप में चित्रण किया है। उपन्यास की सफलता के विषय में डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है— ‘मध्यवर्गीय जीवन को उसके व्यापक परिवेश में देखने का जितना बड़ा और सफल प्रयास ‘बूँद और समुद्र’ में नागरजी ने किया है, उतना शायद ही किसी अन्य उपन्यासकार ने किया हो।... व्यक्ति और समाज के बीच की कड़ी-परिवार के विघटित हो जाने पर आधुनिक सामाजिक जीवन में जो गतिरोध उत्पन्न हो गया है, उसका यथार्थ अंकन ‘बूँद और समुद्र’ के लेखक ने किया है।’⁴

डा० धर्मवीर भारती ने उपन्यास की प्रशंसा करते हुए लिखा है— ‘लेखक ने समाज के लगभग प्रत्येक वर्ग का चित्रण किया है और हर एक ही परंपरा, संस्कार, रहन-सहन, मनोवृत्ति, तहजीब, आदत और बोलचाल तक का सजीव और मार्मिक चित्रण हुआ है। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि आज तक हिंदी के किसी कथाकार ने उच्च से उच्च और निम्न वर्ग के जीवन से इतनी निकटता और घनिष्टता स्थापित करने और उसका चित्रण करने में इतनी सफलता नहीं पाई है।’⁵

शतरंज के मोहरे : ‘बूँद और समुद्र’ के पश्चात् नागर जी का चौथा उपन्यास ‘शतरंज के मोहरे’ प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में उन्होंने लखनऊ के नवाबों के समय की स्थिति का चित्रण किया है।

नागर जी ने इस उपन्यास में ऐतिहासिक यथार्थ का सफलापूर्वक चित्रण किया है। उन्होंने तत्कालीन समाज एवं राजतंत्रीय व्यवस्था का सजीव चित्र उपस्थित किया है। एक उदाहरण देखिए— ‘उसकी जरूरत नहीं, मुझे यकीन है कि तुम एक दिन जरूर खुदा को याद करोगी और उस हालत में मैं जरूर तुम्हारी खिदमत भी अंजाम दे सकूँगा, मगर आज नहीं। मुबारक हो तुम्हें यह ख़्वाब, यह शानो-शैक़त, ये बादशाही। तुम्हारी बड़ी इनायत होगी, अगर मुझे मेरी मड़ैया में भिजवा दोगी।’⁶

सुहाग के नुपूर : ‘सुहाग के नुपूर’ ऐतिहासिक उपन्यास ईसा की प्रथम शताब्दी में महाकवि इलंगोवन द्वारा रचित तमिल महाकाव्य ‘शिलप्पदिकारम्’ के आधार पर लिखा गया है। नागर जी ने इस उपन्यास में एक वेश्या की मनोव्यथा का यथार्थ चित्रण किया है। वेश्या जीवनभर कुलवधू बनने के लिए अनेक प्रयास करती है?

नागर जी ने अपने इस उपन्यास में ऐतिहासिक यथार्थ का चित्रण किया है। इस संबंध में श्री प्रकाशचंद्र मिश्र ने लिखा है— ‘यदि एक ओर उन्होंने कावेरीपट्टणम् के वैभव के लुभावने चित्र खींचे हैं। बड़े-बड़े राजकीय समारोहों का विवरण दिया है तो दूसरी ओर बड़े-बड़े श्रेष्ठियों के महलों, राजभवनों तथा मंदिरों के सामने बैठी हुई भिखमंगों की पंक्ति को भी उतनी ही पैनी दृष्टि से देखा है। यदि उन्होंने रूपगर्विता नर्तकियों के विलासपूर्ण जीवन के आकर्षक चित्र प्रस्तुत किए हैं तो किसी समय राज्य की सर्वश्रेष्ठ नर्तकी और अपूर्व मान-सम्मान तथा वैभव भोगनेवाली चेलम्मा को दर-दर ठोकरें खाते हुए भी उन्होंने दिखाया है। कहने का तात्पर्य यह है कि नागर जी ने ऐतिहासिक यथार्थ के प्रति पूरी तरह ईमानदार रहने का प्रयास किया है।’⁷

इसी क्रम में उन्होंने आगे लिखा है— ‘प्रस्तुत उपन्यास की कथावस्तु में इतिहास केवल पृष्ठभूमि के रूप में ही है, जहाँ तक घटनाओं का प्रश्न है, यदि मूल तमिल महाकाव्य में वे कल्पित हैं, तो यहाँ भी, परंतु इन कल्पित घटनाओं को इतिहास की यथार्थ पृष्ठभूमि के बीच इस प्रकार चित्रित किया गया है कि वे ऐतिहासिक यथार्थ का अभिन्न अंग मालूम देती हैं।’⁸

अस्तु, यह उपन्यास नागरजी की ऐतिहासिक यथार्थ दृष्टि का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

‘महाकाल’, ‘शतरंज के मोहरे’ तथा ‘सुहाग के नुपूर’ ऐसी रचनाएँ हैं, जो ऐतिहासिक यथार्थ के अंतर्गत आती हैं। सेठ बाँकेमल हास्य-व्यंग्य प्रधान रचना है। ‘बूँद और समुद्र’ इन सभी उपन्यासों में श्रेष्ठतम सामाजिक उपन्यास माना जाता है। कुछ विद्वानों ने प्रेमचंद के ‘गोदान’ के पश्चात् ‘बूँद और समुद्र’ को श्रेष्ठ यथार्थपरक उपन्यास माना है। इन सभी उपन्यासों में नागरजी ने जिन पात्रों का चयन किया है, वे सभी पूर्णतया यथार्थवादी हैं।

(ख) विकास काल

इस काल के अंतर्गत नागर जी के अमृत और विष’, ‘एकदा नैमिषारण्ये’, ‘सात घूँघट वाला मुखड़ा’, ‘मानस का हंस’ तथा ‘नाच्यौ बहुत गोपाल’ को लिया जा सकता है। इस काल में उनके उपन्यासों में यथार्थबोध का पर्याप्त विकास हुआ है।

अमृत और विष : ‘अमृत और विष’ नागर जी का सामाजिक उपन्यास है। ‘बूँद और समुद्र’ की भाँति इस उपन्यास का फलक भी बहुत विशाल है। इसमें मुख्य पात्र अरविंद शंकर है, जो एक साहित्यकार है। नागर जी ने सामाजिक यथार्थ को ही उपन्यास का मुख्य आधार

बनाया है। समाज को लेकर ही कथानक का ताना-बाना बुना गया है। इस उपन्यास की कथा कई चरणों में चलती है। मूल कथा के अतिरिक्त छोटी-छोटी अंतर्कथाएँ भी कथानक में साथ-साथ चलती हैं।

‘अमृत और विष’ उपन्यास नागरजी का श्रेष्ठ सामाजिक उपन्यास है। इसकी कथा पूर्णता यथार्थपरक है। इस संबंध में श्री प्रकाशचंद्र मिश्र ने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है— ‘इस उपन्यास की कथावस्तु का एक प्रधान आकर्षण उसमें चित्रित यथार्थ है। न केवल नागरजी ने इस यथार्थ के प्रति अपनी अकृत्रिम निष्ठा का परिचय दिया है, लेखक अरविंद शंकर का सत्य भी यही है। अरविंद शंकर जिस निर्मम यथार्थवादी दृष्टि से अपने स्वयं के जीवन का विश्लेषण करते हैं, वह अद्भुत है। युगीन सामाजिक व्यवस्था पर की गई उनकी टिप्पणियाँ भी यथार्थ के जीवित संदर्भों के साथ ही सामने आई हैं।’⁹

नागर जी ने संपूर्ण समाज को अपनी विश्लेषणात्मक बुद्धि से देखा और परखा है। उन्होंने समाज के छोटे-बड़े, छुए-अनछुए, नवीन-प्राचीन, दृश्य-अदृश्य सभी पक्षों का यथार्थता के साथ चित्रण किया है। डा० माधुरी दुबे ने लिखा है— ‘जिससे पुराने पढ़ते तथ्यों और नये उभरते सत्यों को इतनी यथार्थता, स्वाभाविकता और तटस्थता से प्रस्तुत किया गया है कि नागर जी साहित्य-संतुलन के उस बिंदु पर खड़े दृष्टिगत होते हैं, जहाँ से वे नई उपलब्धियों को स्वीकार कर रास्ता बनाने का श्रेय पुरानी पीढ़ी को देते हैं।’¹⁰

उपन्यास का यथार्थता पर टिप्पणी करते हुए श्री प्रकाशचंद्र मिश्र लिखते हैं— ‘समस्यामूलकता के अतिरिक्त वस्तु के धरातल पर उपन्यास की दूसरी महत्वपूर्ण तथा केंद्रीय विशेषता उसका यथार्थवाद है। भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से विकास पानेवाली यथार्थवादी धारा को नागर जी ने अपने उपन्यासों में एक नया उत्कर्ष प्रदान किया है। यथार्थ के इस महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली चित्रण के संदर्भ में न केवल उपन्यास में उठाई गई समस्याओं को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है, बल्कि उनके विश्लेषण तथा समाधान संबंधी प्रयत्नों को भी आज के सजग पाठक के लिए ग्राह्य बनाया है। उपन्यास के अंतर्गत प्रश्रय पानेवाला यह यथार्थ, दृष्टिकोण तथा चित्र दोनों भूमियों पर नागर जी की संश्लिष्ट कला-क्षमता का प्रमाण है।’¹¹

सात घूँघट वाला मुखड़ा : यह ऐतिहासिक चरित्र प्रधान उपन्यास है। इसमें मुख्यतः अठारहवीं सदी के अंग्रजों और मुगलों के मध्य हुए संघर्ष का चित्रण किया गया है। नागर जी ने इसकी ऐतिहासिकता को उद्घाटित करते हुए कहा है— ‘यह इतिहास नहीं, ऐतिहासिक चरित्र प्रधान उपन्यास है। तिथियों और घटनाओं के क्रम-परिवर्तन मनोवैज्ञानिक स्थितियों के अनुसार इसमें कर लिए गए हैं, क्योंकि बेगम समरू का इतिहास प्रामाणिक होते हुए भी उसकी बहुचर्चा के कारण किंवदंतियों से भरा हुआ है।’

यह उपन्यास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। नागर जी ने कल्पना और यथार्थ का अद्भुत सामंजस्य प्रस्तुत किया है। उपन्यास के प्रारंभ में नागर जी ने अपनी विज्ञप्ति में लिखा भी है कि इसमें चित्रित अधिकांश पात्र इतिहास सम्मत ही हैं। किंतु कहीं-कहीं नागर जी ने आवश्यकतानुसार अपनी कल्पना से भी पात्रों की रचना की है। यह उपन्यास मुख्य रूप से नारी-चरित्र प्रधान उपन्यास है। बेगम समरू इसकी मुख्य पात्र है। संपूर्ण उपन्यास की कथा उसी के इर्द-गिर्द ही दिखाई देती है।

बेगम समरू के चरित्र की यथार्थता उसके इस कथन से स्पष्ट होती है— 'वह सुकून जिसे हम-तुम मिलकर पाना चाहते हैं टॉमस, तब तक नहीं मिल सकता जब तक कि वह समरू जिंदा है और उसका जीना तब तक हमारे लिए बेहद जरूरी है जब तक उसके सियासत की बागडोर हमारे हाथ में नहीं आ जाती और उसे हमारे हाथ में आ जाने के लिए अब यह जरूरी है कि हम तख्ते-हिंदोस्थान की हिफाजत में लगे। मुगलों के लिए वह अब महज जुआरी का आखिरी दाँव है। मैं तुम्हें हिंदुस्तान का शहंशाह बनाकर एक दिन अपने इश्क का सबूत दूँगी। तुम भी वादा करो, जानेमन कि मुझे 'मलिका-ए-हिंद' बनाओगे।' ¹²

अपने जीवन के यथार्थ की अभिव्यक्ति करते हुए बेगम समरू एक स्थल पर कहती है— 'प्यार मैं अब किसी से भी नहीं करती, न खुद से, न टॉमस से, और न उस बूढ़े भेड़िये से जिसने दस हजार अशर्फियों में मुझे खरीदा था।' ¹³

इस प्रकार 'सात घूँघट वाला मुखड़ा' उपन्यास को ऐतिहासिक यथार्थवादी उपन्यास की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। डा० आनंदप्रकाश त्रिपाठी ने लिखा है— 'यह उपन्यास ऐतिहासिक घटना के परिप्रेक्ष्य में इतिहास के धुँधलके में रहस्यमय बने हुए चरित्र बेगम समरू के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं को उद्घाटित करता है, साथ ही इस काल की राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता को उजागर करता है।' ¹⁴

एकदा नैमिषारण्ये : 'एकदा नैमिषारण्ये' पौराणिक पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यास है। उपन्यास में मुख्यतः ऐतिहासिक, पौराणिक एवं काल्पनिक पात्रों की सर्जना की गई है। नागर जी ने लिखा है— 'नैमिष आंदोलन को ही मैंने वर्तमान भारतीय या हिंदू संस्कृति का निर्माण करनेवाला माना है। वेद, पुनर्जन्म, कर्मकाण्डवाद, उपासनावाद और ज्ञान मार्ग आदि का अंतिम रूप से समन्वय नैमिषारण्य में ही हुआ। अवतारवाद रूपी जादू की लकड़ी घुमाकर परस्पर विरोधी संस्कृतियों को घुला-मिलाकर, अनेकता में एकता स्थापित करनेवाली संस्कृति का उदय नैमिषारण्य में हुआ और यह काम मुख्यतः एक राष्ट्रीय दृष्टि से ही किया गया था।' ¹⁵

'एकदा नैमिषारण्ये' पौराणिक एवं सांस्कृतिक संदर्भों को आधार बनाकर लिखा गया यथार्थपरक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें यथार्थबोध का पूर्ण परिपाक हुआ है। आरंभ से लेकर अंत तक लेखक की दृष्टि तत्कालीन यथार्थ को अधिकाधिक अंकन करने की रही है और जिसमें उन्हें पूरी तरह सफलता भी मिली है।

मानस का हंस : 'मानस का हंस' उपन्यास में नागर जी ने महाकवि तुलसीदास के जीवन का वर्णन किया है। इस उपन्यास की रचना नागर जी ने तत्कालीन सामाजिक यथार्थ को ध्यान में रखकर की है। उपन्यास के प्रायः सभी पात्र यथार्थ पात्र हैं। काल्पनिक पात्रों का कम ही प्रयोग किया है। यह तथ्य भी उल्लेखनीय है महाकवि तुलसीदास के जीवन से संबंधित बहुत से अंश प्रायः विवादग्रस्त हैं। इसलिए नागरजी ने उपन्यास की रचना करने से पूर्व इन सभी विवादों पर विद्वानों के साथ समुचित विचार-विमर्श करने उपरांत ही किसी निष्कर्ष को स्वीकार किया है। नागर जी ने उपन्यास की भूमिका में लिखा है— 'तुलसी के जन्मस्थान तथा सूकरखेत बनाम सोरों विवाद में दखलंदाजी करने की जुरअत करने की नीयत न रखते हुए भी किस्सागों की हैसियत से मुझे इन बातों के संबंध में अपने मन का ऊँट किसी करवट बैठाना ही था। चूँकि स्व. डॉ. उदयभानु सिंह के तर्कों से प्रभावित हुआ। इसलिए मैंने राजापुर को ही जन्मस्थान के

रूप में चित्रित किया है।' ¹⁶

'मानस का हंस' में नागर जी ऐतिहासिक यथार्थ को प्रस्तुत करने में पूर्ण रूप से सफल रहे हैं। डा० आनंदप्रकाश त्रिपाठी ने नागर जी के ऐतिहासिक यथार्थ चित्रण की सफलता के संबंध में लिखा है—'मानस का हंस में नागरजी की औपन्यासिक चेतना अपने चरमोत्कर्ष पर दिखाई देती है। मानवतावाद का जो बीज, उन्होंने अपने सामाजिक उपन्यासों के माध्यम से यथार्थ की भूमि में बोया था, वही ऐतिहासिक उपन्यासों में पल्लवित और 'एकदा नैमिषारण्ये' के एकात्मवादी चिंतन से पुष्ट होकर 'मानस का हंस' में भावना के धरातल पर फलित हुआ है।'

नाच्यौ बहुत गोपाल : 'नाच्यौ बहुत गोपाल' उपन्यास में नागर जी ने मेहतर समाज का यथार्थ चित्रण अंकित किया है। नागर जी ने एक वास्तविक घटना को कथा के आधार के रूप में ग्रहण किया है। इस संबंध में नागर जी ने लिखा है— 'इस उपन्यास को लिखने की प्रेरणा मुझे एक घटना से मिली। ...मैंने सुना कि एक धनी वृद्ध ब्राह्मण व्यापारी की तरुणी भार्या एक मेहतर युवक के साथ भाग गई थी। ...दो दिनों के बाद ही अपने प्रेमी सहित पकड़ी गई।' ¹⁷ इस सत्य घटना को आधार बनाकर ही नागर जी ने प्रस्तुत उपन्यास की रचना की है। मेहतरों के संबंध में उन्होंने लिखा है— 'मेहतर कोई जाति नहीं। विजेता ने विजितों को दास बनाकर उनसे जबरदस्ती मल-मूत्र उठवाना आरंभ किया। श्वपथ चांडाल जातियाँ सवर्ण जातियों के अपने से नीचे वर्णों के साथ संभोग करने उत्पन्न संतानों की श्रेणियों में आती हैं। भंगी-समाज में बहुत-से छोटे-मोटे पराजित राजकुलों के वंशधर भी मौजूद हैं। विजेता के दंभ ने विजितों के दंभ को कुचलकर किस मानसिक गति में नाली के कीड़े की तरह बहा दिया है।' ¹⁸

'नाच्यौ बहुत गोपाल' में नागर जी ने मेहतर समाज की उपेक्षित और गंदगी भरी जिंदगी का मार्मिक और यथार्थ चित्रण किया है। श्री अरुणेश 'नीरज' ने इस दुविधापूर्ण कार्य के लिए नागर जी की प्रशंसा करते हुए लिखा है—'नाच्यौ बहुत गोपाल' मेहतर के बहाने पूरी निम्न मध्यवर्गीय संवेदना के रेशे-रेशे को अलग-थलग करके नंगी आँखों से देखने की तकलीफदेह कोशिश है। बजबजाती हुई सुअर-जिंदगी की उपेक्षित खोह में उतरकर नागरजी उसकी पूरी सत्ता, लय तथा तमतमाती हुई कोशिशों के सहारे एक ऐसे दृश्य की रचना करते हैं, जो देखा जाते रहने के बावजूद अभी तक देखा नहीं गया है। अपनी परिचित किस्सागो अदा में, एक खास अंदाज में वे इस सहज ढंग से इस वर्जित क्षेत्र में प्रवेश करते हैं कि सब कुछ नया न होते हुए भी नया लगने लगता है।' ¹⁹

(ग) प्रौढ़ काल

प्रौढ़-काल के अंतर्गत नागर जी के 'खंजन नयन', 'बिखरे तिनके', 'अग्निगर्भा', 'करवट' और 'पीढ़ियाँ' को लिया गया है।

खंजन नयन : 'खंजन नयन' नागर जी का ऐतिहासिक उपन्यास है। इस उपन्यास में सूरदास जी के जीवन को आधार बनाकर यथार्थमूलक अभिव्यक्ति की गई है। उपन्यास की संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—

सूरदास जी एक संयुक्त परिवार के सदस्य हैं, जिसमें उनके माता-पिता, भाई-बहन आदि सभी रहते हैं। किंतु उनके भाई उन्हें प्रताड़ित करते रहते हैं। इसलिए वे परेशान होकर घर छोड़ देते हैं और यमुना के तट पर आकर रहने लगते हैं। वहाँ उन्हें एक मल्लाह रहने के लिए

अपनी कोठरी दे देता है। उस कोठरी में एक पुराना नाग भी रहता था। सूरदास जी किसी प्रकार उस नाग के कमरे में बने रहते हैं। वहाँ रहते हुए उनकी ख्याति दिनों-दिन बढ़ने लगी। उनके पास बहुत-से लोग अपनी-अपनी शंकाएँ लेकर आने लगे और समाधान पाकर उनकी प्रशंसा करने लगे।

वहीं पर उनको एक मल्लाहिन से प्रेम हो गया। मल्लाहिन के चक्कर में एक बार उनकी पिटाई भी हुई। आगे चलकर उन्होंने श्री कृष्ण पर कवित्त लिखे, जो बाद में 'सूरसागर' के नाम से प्रकाशित किए गए।

इस प्रकार 'खंजन नयन' नागरजी का ऐतिहासिक यथार्थ पर आधारित उपन्यास है। इसमें उन्होंने सूरदास जी के जीवन का यथार्थमूलक चित्रण किया है। उपन्यास में तत्कालीन यथार्थ पूर्ण रूप से दिखाई देता है।

बिखरे तिनके : 'बिखरे तिनके' में नागर जी का यथार्थबोध सम्यक् रूप में प्रस्तुत हुआ है। प्रस्तुत उपन्यास में उन्होंने एक कस्बे के म्युनिसिपल कार्यालय, मध्यवर्गीय जीवन, चुनाव, पत्रकारों के क्रियाकलापों, युवा संगठन, विजातीय प्रेम ही नहीं, दस्युजीवन और व्यापारियों की लूट के सजीव चित्र, भारतीय कस्बों की झाँकी यथार्थ रूप में प्रस्तुत की है।

इस उपन्यास में नागर जी ने वर्तमान भारत की शासन व्यवस्था का यथार्थपरक चित्र प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'पड़े-पड़े बिल्लू सोचता रहा, क्या यही है स्वतंत्र भारत का मंतव्य। हवेली की दीवारों नींव से लेकर ऊपर तक चिटक चुकी हैं। दरारें बढ़ती जा रही हैं। इस खस्ता इमारत को पूरी तरह से गिराकर नई बनाने का काम तो नहीं हो रहा, बस उन दरारों पर हल्का पलस्तर चढ़ाकर ढोंकने का प्रयत्न किया जा रहा है। राजनीति का सत्य चुनाव के वोटों तक सीमित हो गया है—चोर से हाँ और शाह से भी हाँ। तुम अपना स्वार्थ पूरा करो और मैं अपना। क्या यही है स्वस्थ समाज के निर्माण का स्वरूप। आखिर कहाँ जाएगा यह भारतीय समाज? क्या हालत होगी हमारी? सोचते-सोचते बिल्लू के सामने एक विराट शून्य समा गया। शून्य में भी किसी-न-किसी रूप में प्राण हलचल करते ही रहते हैं, किंतु यह शून्य तो लाशों से भरा है। कहाँ जाएँ, क्या करें? आजाद हुए पर भविष्य के जटिल प्रश्न जाल में कैद हो गए।' ²⁰

इसी प्रकार कुछ अन्य स्थलों पर भी नागर जी ने वर्तमान सामाजिक एवं राजनैतिक यथार्थ को पूर्ण सफलता के साथ अभिव्यक्त किया है। इसमें मध्यवर्गीय समाज, राजनीति एवं व्यवहार के एक-एक दृश्य इस तरह प्रस्तुत हुए हैं कि मानो ये चित्र हमारे आस-पास ही घट रहे हों। गुरसनलाल के माध्यम से मध्यमवर्गीय जीवन में व्याप्त स्वार्थपरता, भ्रष्ट आचरण तथा कुकृत्यों आदि के विभिन्न रूप प्रस्तुत हुए हैं। महेशनाथ सिंह और बबलू के माध्यम से चुनावी तिकड़मों का खुलासा हुआ है।

अग्निगर्भा : यह एक सामाजिक श्रेणी का उपन्यास है। उपन्यास में एक मध्यवर्गीय युवती की संवेदना को स्वर प्रदान किया गया है। उपन्यास की कथावस्तु निम्नवत् है—

मध्यवर्गीय परिवार की लड़की सीता पांडेय एक बहुत ही मेधावी छात्रा हैं। वह एम.ए. उत्तीर्ण करने के बाद आगे भी पढ़ना चाहती है, किंतु उसके पिताजी उसे कहीं नौकरी करने की सलाह देते हैं।

एक दिन सीता की सहेली मैत्रेयी उसे मिली। उसने सीता को बताया कि डी.ए.वी.

कॉलेज में प्रवक्ता की एक पोस्ट निकलने वाली है। उसने यह भी बताया कि हमारी सहेली कुसुम के पति उस कॉलेज की मैनेजिंग कमेटी में हैं। अतः वहाँ तुम्हारी नौकरी लग जाएगी। सीता कुसुम से मिलती है। इसी दौरान सीता का परिचय रामेश्वर से होता है। रामेश्वर तथा सीता धीरे-धीरे एक-दूसरे से प्रेम करने लगते हैं। रामेश्वर सीता से विवाह करना चाहता है। सीता के माता-पिता तो तैयार हो जाते हैं। रामेश्वर सीता के घरवालों से दहेज में नकद पच्चीस हजार रुपए की माँग भी करता है। सीता के पिता की हैसियत इतनी नहीं है, किंतु अधिक दबाव पड़ने पर वह पंद्रह हजार रुपए नकद तथा पाँच हजार का एक हँडनोट देने को तैयार हो जाते हैं। साथ ही यह भी कहते हैं कि पहले कोर्ट मैरिज तथा बाद में सारस्वत संस्थान में वैदिक विवाह होगा। रामेश्वर के माता-पिता को यह अच्छा नहीं लगता है। नई गृहस्थी में आने के बाद सीता को पता चलता है कि उसकी सास और ननद दुष्ट स्वभाव की हैं। ननद सर्वेश्वरी को उसके पति ने छोड़ दिया है और अब वह मायके में ही रहती है।

इसी बीच सीता की छोटी बहन गीता को बैंक में नौकरी मिल जाती है। वह अपनी सहेली के भाई दिनेश चंद्र गोयल के साथ अंतर्जातीय विवाह कर लेती है। सीता की सास उसे गीता की शादी में जाने से इंकार करती है, किंतु सीता अपनी बहन की शादी में अवश्य जाती है। सीता के लौटने पर घर में कलह होता है और रामेश्वर अलग मकान लेकर रहने लगता है। सीता एक बच्चे को जन्म देती है।

सीता के भाई ब्रजेश को टायफायड हो जाने पर घर में आर्थिक संकट आ जाता है। सीता की माँ सीता से कुछ रुपए उधार माँगने के लिए आती है। उसी शाम को रामेश्वर ने सीता को 700 रुपए दिए थे। सीता उनमें से दो सौ रुपए अपनी माँ को दे देती है। इस बात पर रामेश्वर बहुत नाराज होता है। सीता भी उससे गुस्से से कहती है, इतना कमाती हूँ, आपसे मैंने एक पैसा भी माँगा है। रामेश्वर सीता को प्रमिला सरिन के ऑफिस कार्य करके दो सौ रुपए लाने के लिए कहता है। सीता यह आदेश नहीं मानती है। उसकी सास और ननद उसके साथ मार-पीट करती हैं। रामेश्वर उसे पिता के यहाँ भेज देता है और बेटे से भी नहीं मिलने देता है। सीता एक हरिजन के मकान में रहने लगती है। वहीं पड़ोस में गुलशन राय नायक का परिवार रहता है। उसमें आए दिन बहू के साथ मारपीट की जाती है। सीता का मन इससे बहुत दुःखी होता है। वह अखबार में एक लेख छपवाती है। परिणामस्वरूप पुलिस को खबर लग जाती है और पुलिस ठी उस समय पहुँच जाती है, जब गुलशनराय की पत्नी अपनी बड़ी बहू को मिट्टी का तेल छिड़ककर जलाने जा रही थी। पुलिस सबको पकड़कर ले जाती है। इस प्रकार सीता मुहल्लों में स्त्रियों की छोटी-छोटी सभाएँ आयोजित करती है, जिससे उसका नाम शहर में बढ़ता जाता है। रामेश्वर सीता से क्षमा माँगता है और उसे अपने घर ले जाता है। सीता अलग रहने का निर्णय करती है। रामेश्वर सीता को मैनामऊ पहुँचाता है। सीता जैसे ही कार से उतरती है, गुलशनराय का बेटा हिम्मतराय सीता को गोली मार देता है। एक गोली रामेश्वर की बाँह में भी लग जाती है। जब तक रामेश्वर सीता के पास पहुँचते हैं, तब तक उसके प्राण-पखेरू उड़ चुके होते हैं।

इस प्रकार इस उपन्यास में नागर जी ने वर्तमान समाज के यथार्थ का हू-ब-हू चित्रण किया है। अपनी इस औपन्यासिक कृति में नागरजी ने यथार्थपरकता का सम्यक् चित्रण उपस्थित किया है। उपन्यास के सभी पात्र और घटनाएँ पूर्ण रूप से जीवंत प्रतीत होते हैं। अतः

यह कहना अनुचित न होगा कि इस उपन्यास में यथार्थबोध का चित्रण करने में उपन्यासकार को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

करवट : 'करवट' ऐतिहासिक यथार्थ पर आधारित उपन्यास है। नागर जी ने स्वतंत्रता से पूर्व के भारत की सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का यथार्थपरक चित्रण किया है। नागर जी ने लखनऊ के चौक क्षेत्र को उपन्यास की घटना का आधार बनाया है। अतः उपन्यास का प्रारंभ शाही दरबारों से ही होता है।

नागर जी ने इस उपन्यास में ऐतिहासिक यथार्थ को अंकित करने का प्रयास किया है। स्वतंत्रता से पूर्व अँग्रेजों के बढ़ते हुए प्रभाव को व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं— 'नवाबी सरकार और कंपनी की राजनीतिक शतरंज में चूँकि इधर गहरे दाँव-पेंच और तनाव के दिन गुजर रहे हैं। इसीलिए नगर में सबल का विषम अंकुश। आदमी आदमी को खा रहा है।' ²¹

नारी हमेशा शोषण का शिकार रही है। स्वतंत्रता से पूर्व नारी की वास्तविक स्थिति का वर्णन करते हुए नागर जी ने लिखा है— 'कितनी नगण्य है बिचारी औरत की जात, उसका कोई मूल्य ही नहीं—धन की लिप्सावश हमारा कुलीन समाज तीन-तीन, चार-चार विवाह कर लेता है। न जाने कितने घरों में आए दिन सौतों की कलह और उनके बच्चों के झगड़े हुए करते हैं। बहुत ही पतित और निर्बुद्ध हो गया है हमारा समाज।' ²²

स्वतंत्रता-पूर्व भारतीय समाज की दशा बहुत शोचनीय थी। नागर जी के इस उपन्यास में चित्रित लखनऊ के नवाबी शासन में समाज की दशा का एक यथार्थ चित्रण दर्शनीय है— 'लखनऊ का नागरिक-जीवन, बंद तालाब के सड़े, बदबूदार, काई भरे ठहरे हुए पानी सा लगता है। रईसों के भोग-विलास और उनकी विकृत अहंताओं के विस्फोट ही अधिक वहाँ होते रहते हैं और नवाबी दरबार का शासन बड़ा दम घोटनेवाला महसूस होता है। तीतर, बटेर, कबूतरबाजी, रंडीबाजी, जुए, शराब और कनकौओं का वह शहर भला कलकत्ते का क्या मुकाबला कर सकता है।' ²³

अँग्रेजों ने भारतीयों पर बहुत अत्याचार किए। नागर जी ने अँग्रेजों के अमानुषिक अत्याचार की झाँकी खींचते हुए लिखा है— 'अँग्रेजों ने घेरा डाल-डालकर गाँव के गाँव जला दिए। जलती आग से जो निरीह बाहर निकला, उसे गोरों ने संगीनों से गोद-गोदकर फिर आग में ढकेल दिया। स्त्रियों और बच्चों की निर्मम हत्या की। उन्हें हवा में उछाल-उछालकर किरचों से गोदा, घर के पुरुषों को खंभे से बाँध-बाँधकर घर की स्त्रियों के साथ बलात्कार किए, फिर उनके पति और बच्चों को मार डाला।' ²⁴

नागर जी ने इस उपन्यास में स्वतंत्रता पूर्व के समाज का यथार्थ का चित्र अंकित किया है। उपन्यास के पात्र भी पूर्णतया यथार्थपरक हैं। कोई भी पात्र बनावटी अथवा गढ़ा हुआ प्रतीत नहीं होता है। सभी पात्र सहज और स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। उपन्यासकार ने अँग्रेजों के कुचक्रों, अन्यायों-अत्याचारों, देशी शासकों की असहायता के सजीव बिंब उकेरे हैं। यथार्थबोध की दृष्टि से नागर जी का यह श्रेष्ठ उपन्यास है।

नागर जी के संपूर्ण उपन्यासों का अनुशीलन करने उपरांत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनके उपन्यासों में यथार्थबोध का क्रमिक विकास हुआ है। वैसे संपूर्ण उपन्यासों में 'बूँद और समुद्र', 'अमृत और विष' तथा 'नाच्यौ हित गोपाल' को विशिष्ट यथार्थवादी रचना कहा जा सकता है, क्योंकि इनमें समाज के संपूर्ण यथार्थ को अंकित करने का प्रयास किया गया है इसमें

समाज के यथार्थ की सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति प्रदान की गई है।

इस प्रकार नागर जी के सभी उपन्यासों में यथार्थबोध का पूर्ण विकास हुआ है। वे उपन्यास चाहे सामाजिक, ऐतिहासिक अथवा पौराणिक हों। नागर जी ने कहीं भी यथार्थ का संबल नहीं छोड़ा है। यद्यपि उन्होंने आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं कल्पना का आश्रय भी लिया है, किंतु काल्पनिकता उनके यथार्थ-चिंतन पर कहीं भी हावी नहीं हो सकी है। उनके सभी पात्र तथा घटनाएँ समाज से ही लिए गए हैं, इसलिए वे जाने-पहचाने से प्रतीत होते हैं। यद्यपि कहीं-कहीं उनके वर्णनों की अतिशयता पाठक को ऊब भी पैदा करती है, फिर भी पाठक को उसमें गहन आनंदानुभूति होती ही रहती है। इस प्रकार संपूर्ण अध्ययन के उपरांत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नागर जी वास्तव में एक सफल यथार्थवादी उपन्यासकार हैं।

संदर्भ

1. आज, रविवार विशेषांक, 19 अगस्त, 1979
2. अमृतलाल नागर : उपन्यास, प्रकाशचंद्र मिश्र, पृ० 63-64
3. नागर : उपन्यास कला, प्रकाशचंद्र मिश्र, पृ० 73
4. 'हिंदी नवलेखन', डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० 121
5. सीमांत प्रहरी', अमृतलाल नागर अंक, 15 अगस्त, 1966, पृ० 51
6. शतरंज के मोहरे', पृ० 52
7. नागर : उपन्यास कला, प्रकाशचंद्र मिश्र, पृ० 201
8. वही, पृ० 201-202
9. अमृतलाल नागर का उपन्यास साहित्य, प्रकाशचंद्र मिश्र, पृ० 121
10. चिंतन के विविध रंग-अमृत और विष जीवन सागर का', डा० माधुरी दुबे, पृ० 23
11. अमृतलाल नागर का उपन्यास साहित्य, प्रकाशचंद्र मिश्र, पृ० 125-126
12. सात घूँघट वाला मुखड़ा, अमृतलाल नागर, पृ० 26
13. वही, पृ० 43
14. अमृतलाल नागर के उपन्यास, डा० आनंदप्रकाश त्रिपाठी, पृ० 156
15. एकदा नैमिषारण्ये, अमृतलाल नागर पृ० 13
16. मानस का हंस, अमृतलाल नागर, आमुख से उद्धृत
17. 'नाच्यौ बहुत गोपाल', अमृतलाल नागर, निवेदन से उद्धृत
18. वही, पृ० 344
19. दस्तावेज, अक्टूबर, 1978, पृ० 25
20. बिखरे तिनके, अमृतलाल नागर, पृ० 90
21. करवट, अमृतलाल नागर, पृ० 17-18
22. वही, पृ० 24
23. वही, पृ० 89-90
24. वही, पृ० 121



श्री चिरंजीत के नाटकों में युद्धकालीन राजनीतिक व्यंग्य

श्रीमती मोनिका भटनागर

शोधछात्रा, रुहेलखंड विश्वविद्यालय, बरेली (उ.प्र.)

डा० गिरिराजशरण अग्रवाल

शोध निदेशक, पूर्व रीडर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर (उ.प्र.)

यह तथ्य निर्विवाद है कि नाटककार के रूप में श्री चिरंजीत जी की अपार ख्याति का मूलाधार उनका व्यंग्य नाटक 'ढोल की पोल' है। श्री चिरंजीत जी को इसी नाटक के कारण राष्ट्रीय नाटककार की मान्यता मिली। उन्होंने हास्य मंच-3 की भूमिका में 'ढोल की पोल' के विषय में लिखा है— 'हास्य मंच के इस तीसरे खंड के देश-विदेश-विषयक छह नाटकों में से सर्वाधिक उल्लेखनीय है 'ढोल की पोल' (रेडियो झूटिस्तान), क्योंकि इसी के कारण मेरे नाटककार को राष्ट्रीय मान्यता मिली, अंतर्राष्ट्रीय ख्याति मिली और सन् 1972 में राष्ट्रपति ने मुझे 'पद्मश्री' से अलंकृत किया।¹

वस्तुतः सन् 1965 और 1971 के भारत-पाकिस्तान के युद्ध के समय भारतीय सैनिकों और जनता का उत्साहवर्द्धन करने के उद्देश्य से श्री चिरंजीत जी ने 'ढोल की पोल' हास्य-व्यंग्य नाटक की रचना की थी। इस संबंध में उन्होंने लिखा है— मेरा 'ढोल की पोल' नाट्य-कार्यक्रम 1965 तथा 1971 के भारत-पाकिस्तान युद्धों के दौरान प्रचार के मोर्चे पर जवाबी हमला था। जवाबी हमले के लिए मैंने वार्ता की बजाय नाटक का रूप श्रोता के मन को प्रभावित करनेवाली रोचकता तथा ध्वनिगत आकर्षण के उद्देश्य से चुना। यह सर्वविदित है वर्तमान वैज्ञानिक युग में जब दो पड़ोसी देशों में जंग छिड़ती है, तो दोनों के बीच सूचना-प्रसार-संचार का मात्र एक ही साधन रह जाता है— रेडियो-समाचार। अपने-अपने देश में रेडियो, समाचार-कार्यक्रम के माध्यम से, सरकार का प्रवक्ता एवं प्रचारक बनकर जनता के लिए सच्चाई का प्रतीक बना जाता है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर पाकिस्तानी रेडियो को ही अपने जवाबी हमले का लक्ष्य बनाया। पाकिस्तान के युद्ध-संबंधी दावों को झूठा साबित करने के लिए मैंने उसे 'झूटिस्तान' और उसके रेडियो को झूठ का कारखाना मानकर 'रेडियो झूटिस्तान' के नाम दिए। फिर यह सोचकर कि हमारे लोकजीवन में अफ़ीमची नाम का प्राणी ही पीनक में बड़े-बड़े झूठ मिलाता है, बेपर की उड़ाता है, मैंने उस 'रेडियो झूटिस्तान' के मुख्य प्रचार-अधिकारी को सन् 1965 में 'उस्ताद अफ़मची' का नाम दिया और 1971 में 'कर्नल ढींगची' का। और फिर 'रेडियो झूटिस्तान' के प्रचार-कार्य को ढोल पीटने जैसा मानकर अपने समूचे नाट्य-कार्यक्रम को 'ढोल की पोल' का नाम दिया।²

श्री चिरंजीव जी ने यँ तो अपने नाट्य-साहित्य में हास्य-व्यंग्य की अनेक स्थलों पर अभिव्यक्ति की है, किंतु 'ढोल की पोल' नाटक युद्धकालीन राजनीतिक व्यंग्य नाटक के रूप में मुखर हुआ है। अतः श्री चिरंजीव जी के नाट्य-साहित्य में, युद्धकालीन राजनीतिक व्यंग्य का अध्ययन करने से पूर्व हम 'व्यंग्य' शब्द का अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक समझते हैं।

'व्यंग्य' शब्द की उत्पत्ति वि+अंग के योग से मानी गई है। इसे अँग्रेजी में सटायर (Satire) कहते हैं। इनसाइक्लोपीडिया अमरीकन के अनुसार 'सटायर गद्य या पद्य रूप में वह साहित्यिक कृति है, जो प्रायः हास्यपूर्ण होता है, जिसमें दुष्टता एवं मूर्खता की आलोचना करते हुए उसे उपहासास्पद बना दिया जाता है।'³

आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार— 'पद्य अथवा आधुनिक प्रयोगों में गद्यत्मग लेख, जिसमें प्रचलित अवगुणों एवं मूर्खताओं को कभी-कभार अनुचित ढंग से ही हास्यास्पद बना दिया जाता है। इसका लक्ष्य किसी व्यक्ति विशेष अथवा व्यक्तियों के समूह का उपहास करना होता है और इस प्रकार जो एक व्यक्तिगत आपेक्ष-लेख जैसा होता है।'⁴

व्यंग्य की परिभाषा करते हुए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है— 'व्यंग्य वह है, जहाँ पर कहनेवाला अधरोष्ठ में हँस रहा हो और सुननेवाला तिलमिला उठा हो और फिर कहने वाले को जवाब देना अपने को और भी हास्यास्पद बना लेना हो जाता है।'⁵ इसके अतिरिक्त व्यंग्य के प्रयोजन पर चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है— 'सच्चा व्यंग्यकार समाज की कुरीतियों को सही रूप में देखता है और व्यंग्य बाण से उसे बेधता रहता है। उसका उद्देश्य समाज का परिशोधन होता है। वह व्यक्ति को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहता, बल्कि उन छिछली मान्यताओं का पर्दाफाश करता है, जिसमें औसत या उसके नीचे का मनुष्य उलझकर असत् आचरण से विरत होने के प्रलोभन का शिकार होता रहता।'⁶

व्यंग्य पर अपने विचार प्रकट करते हुए प्रख्यात व्यंग्यकार श्री हरिशंकर परसाई ने लिखा है— 'व्यंग्य जीवन से साक्षात्कार करता है, जीवन की आलोचना करता है, विसंगतियों, मिथ्याचारों और पाखंडों का पर्दाफाश करता है।'⁷

डा० शेरजंग गर्ग के मतानुसार— 'व्यंग्य एक ऐसी साहित्यिक अभिव्यक्ति या रचना है, जिसमें व्यक्ति तथा समाज की कमजोरियों, दुर्बलताओं, करनी एवं कथनी के अंतरों की समीक्षा अथवा निंदा होते हुए गंभीर हो सकती है, निर्दयी लगते हुए दयालु हो सकती है, प्रहारात्मक होते हुए तटस्थ लग सकती है, मखौल लगती हुई बौद्धिक हो सकती है, अतिशयोक्ति एवं अतिरंजना का आभास देने के बावजूद पूर्णतः सत्य हो सकती है।'⁸

श्री प्रेमनारायण दीक्षित ने व्यंग्य की व्याख्या इस प्रकार की है— जिस हास्य में हृदय की सहनुभूति की मात्रा नहीं होती वरन् उस हँसी में घृणा आदि सहानुभूति विरोधी भावों की छाया पड़े उसे उपहास कहते हैं। उपहास से हमारा तात्पर्य है व्यंग्य।'⁹

डा० भानुदेव शुक्ल ने व्यंग्य के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है— 'व्यंग्य अथवा उपहास साहित्यकार के हाथ का वह चाबुक है, जिसकी मार से व्याकुल होकर व्यक्ति, संस्था अथवा समाज सही मार्ग पर चलने को बाध्य हो जाता है।'¹⁰

इस प्रकार व्यंग्य को समकालीन, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा मानवीय असंगतियों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम कहा जा सकता है। व्यंग्य ने समाज में

संगत-असंगत, न्याय-अन्याय और सही-ग़लत को समझकर सार्थक भूमिका निर्वहन की है। अतः व्यंग्य लेखन को एक ऐसा सामाजिक दायित्व कहा जा सकता है, जो समाज के हितों की संरक्षा करता है। 'व्यंग्य सतह के नीचे की सच्चाई को उघाड़कर आदमी को उसके सामने खड़ा कर देता है, जिससे उसे अपने कमीनेपन का एहसास हो सके और वह सही मार्ग अपनाने को बाध्य हो सके।' ¹¹

श्री चिरंजीव जी के नाट्य-साहित्य में व्यंग्य को सामाजिक विसंगतियों की अभिव्यक्ति का साधन बनाया गया है। उन्होंने व्यंग्य को कई रूपों में प्रस्तुत किया है, किंतु प्रस्तुत शोधकार्य की दृष्टि से हम उनके नाट्य-साहित्य में युद्धकालीन राजनीतिक व्यंग्यों का ही उल्लेख करेंगे, किंतु उससे पूर्व इस तथ्य को संक्षेप में समझ लेना आवश्यक है कि राजनीति क्या है और यह व्यंग्य का हिस्सा क्यों बन गई है? अतः राजनीति संबंधित कुछ विद्वानों के विचार इस प्रकार हैं—

महर्षि अरविंद घोष ने राजनीति के विषय में कहा है— 'जिसे राजनीति कहा जाता है, वह अत्यंत राजसिक, दोषपूर्ण और सभी प्रकार के अहंजनित आशयों की खिचड़ी है।' ¹²

महान स्वतंत्रता सेनानी एवं क्रांतिकारी नेता लाला लाजपतराय ने राजनीति के विषय में कहा है—'राजनीति सीढ़ी का प्रथम चरण है। सच्ची राजनीतिक विचारधारा में लोगों को शिक्षित करना, उनको राष्ट्रीयता, स्वतंत्रता और एकता की आस्था वाले सच्ची देशभक्ति के धर्म में दीक्षित करना, ताकि वे हृदय की सारी निष्ठा और भक्ति के साथ उसमें विश्वास कर सकें।' ¹³

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने राजनीति की परिभाषा करते हुए लिखा है— 'राजनीति मानवीय कार्य-व्यापार का विज्ञान है, केवल शासन-संबंधी कौशल नहीं।' ¹⁴ गांधी जी ने राजनीति के मूल में धर्म को स्वीकारते हुए कहा है—'मेरी राजनीति के मूल में भी धर्म ही है। राजनीति में जब मैंने भाग लेना शुरू किया, तब भी मैंने अपने जीवन का नियमन करनेवाले इस सिद्धांत की कभी उपेक्षा नहीं की।' ¹⁵ स्वतंत्रता-संग्राम के क्रांतिकारी नेता सुभाषचंद्र बोस राजनीति को सत्य और त्याग का आदर्श रूप मानते थे—'सत्य और त्याग के आदर्श राजनीति के क्षेत्र में जितनी जल्दी लोप हो जाते हैं, राजनीति की कार्यशक्ति का उतनी ही शीघ्रता से हास होता है।' ¹⁶

उपर्युक्त विवेचन से राजनीति का विशुद्ध स्वरूप तो स्पष्ट नहीं होता, किंतु उक्त तथ्य को नकारा भी नहीं जा सकता कि राजनीति वह धर्म है, जो देश अथवा राष्ट्र के प्रति सच्ची भक्ति की प्रेरणा देता है। दूसरी ओर यह तथ्य भी सामने आता है कि राजनीति सदैव परिवर्तनशील है—'राजनीतिक आंदोलन रूपी सरिता की धारा कभी स्वच्छ रहती है तो कभी पंकिल, सभी देशों में ऐसा होता है।' ¹⁷

राजनीति व्यंग्य का विषय क्यों बनी? इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए डा० गिरिराजशरण अग्रवाल ने अपने शोधप्रबंध 'हिंदी नाट्य-साहित्य में हास्य और व्यंग्य' में लिखा है—

राजनीति प्रारंभ से ही विष की बेल रही है और प्रत्येक की सामर्थ्य इसके फल खाने की नहीं हुई। कोई विरला ही इसका स्वाद ले पाता है परंतु कब, हास्य का अमृत-कुंभ साथ में लेकर। राजनेताओं की दुष्टतापूर्ण शक्तियों से लोहा हास्य और व्यंग्य की तलवार ही ले सकती है। इसीलिए प्रारंभ से ही नाटककार राजनीति की विषमताओं और क्रूरताओं का चित्रण हास्य-व्यंग्य के माध्यम से करते रहे हैं। व्याजस्तुति, वक्रोक्ति और व्यंग्यपूर्ण शब्दावली इसमें उन्हें

सहयोग प्रदान करती है। इस प्रकार राजनैतिक और धार्मिक पाखंडों तथा अनीतियों को दूर करने के लिए भी नाटकों में हास्य-व्यंग्य ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।¹⁸

उपर्युक्त तथ्य से स्पष्ट है कि साहित्य में व्यंग्य ही एक ऐसा माध्यम है, जो दुष्टतापूर्ण कृत्यों को उद्घाटित करने में पूर्णतः सक्षम है।

श्री चिरंजीव जी के सभी नाटक स्वतंत्रता के पश्चात लिखे नाटक हैं, इसलिए उनके नाटकों का मूल स्वर राष्ट्रीयता और राष्ट्रप्रेम से ओत-प्रोत है। राष्ट्रीयता और राष्ट्रप्रेम के उद्देश्य से उनके राजनीतिक व्यंग्य प्रायः दो रूपों में दृष्टिगत होते हैं— स्वदेशी राजनीतिक व्यंग्य तथा विदेशी राजनीतिक व्यंग्य।

स्वदेशी राजनीति का संबंध अपने देश के लोकतंत्र और चुनाव-प्रक्रिया द्वारा बने सत्ता पक्ष एवं विपक्षी नेता से है। हमारे देश में सैकड़ों वर्षों तक अँग्रेजों ने शासन किया। भारतीयों को अपने ही देश में दासत्व जीवन जीना पड़ा। अनेक भारतीय वीरों के बलिदान के पश्चात् सन् 1947 में अँग्रेजी दासता से मुक्ति मिली। इस आजादी के समय देश के समस्त नेताओं ने गांधी जी के 'रामराज्य' के स्वप्न को साकार करने का संकल्प किया था, परंतु स्वतंत्रता के पश्चात दिनों-दिन भारतीय राजनीति का अपराधीकरण जिस तीव्र गति से हुआ, उसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। राजनीति भ्रष्टाचार का अड्डा बन गई है। 'नेता' बलिदानी का प्रतीक माना जाता था, अब वह 'घिनौना' हो गया है। दरअसल, यह सारी स्थिति नेताओं के कुर्सी-मोह से उत्पन्न हुई है। कुर्सी और पद की लालसा में लोग नैतिक-मूल्यों का उपहास उड़ा रहे हैं।

श्री चिरंजीव जी ने अपने नाट्य-साहित्य में स्वदेशी राजनीति को अनेक स्थलों पर व्यंग्य का विषय बनाया है, किंतु यहाँ हमें युद्धकालीन व्यंग्य पर ही चर्चा करना है। इस उद्देश्य से उन्होंने कुछ ही स्थानों पर युद्धकालीन राजनीति पर व्यंग्य किए हैं। इसके पीछे भारतीय एकता परिलक्षित होती है। अभिप्राय यह है कि भारत के सभी नागरिक, चाहे वे किसी भी धर्म, मजहब और जाति के हों, संकटकाल में एकता का परिचय देते रहे हैं। यही हाल देश की राजनीतिक पार्टियों का भी है कि वे सभी युद्धकाल में एकमत हो जाती हैं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् देश का विभाजन हुआ और देश दो टुकड़ों— हिंदुस्तान और पाकिस्तान में विभाजित हो गया। तब से लेकर आज तक भारत और पाकिस्तान में सीमा को लेकर विवाद चल रहा है। इसी कारण देश को दो बार पाकिस्तान से युद्ध भी करना पड़ा और दोनों ही बार पाकिस्तान को मुँह की खानी पड़ी। किंतु पाकिस्तान अपनी हरकतों से बाज नहीं आ रहा है। वह अपने आतंकवादियों को चोरी-छिपे सीमाओं को पार करके निरंतर भारत को तोड़ने का प्रयास कर रहा है। इस कारण भारतीय सीमाओं पर लगातार युद्ध-जैसी स्थिति बनी रहती है। इस युद्धकालीन स्थिति में देश के नेता देश की चिंता करने के स्थान पर अपनी स्वार्थ-सिद्धि में लगे हुए हैं। श्री चिरंजीव जी ने इस युद्धकालीन स्थिति को आधार बनाकर देश की राजनीति पर करारे व्यंग्य किए हैं।

उन्होंने नाटक 'हमला' में देश की सीमा पर तैनात चार युवा सैनिकों के माध्यम से राजनीति पर करारे व्यंग्य तो किए हैं, साथ ही देश की स्वतंत्रता और अखंडता की प्रेरणा भी दी है। नाटक का अंश प्रस्तुत है—

जोज़फ़ : शेरसिंह के घर का मतलब है पंजाब। अरे, पंजाब से तो बुरी खबर ही आएगी।

- वहाँ रिलीजन को पॉलिटिक्स का हथियार बनाकर इस्तेमाल किया जा रहा है।
- जनार्दन : (हँसकर) और दूसरे राज्यों में पॉलिटिक्स को सत्ता हथियाने और पैसा कमाने के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है।
- जोज़फ़ : यू आर राईट, जनार्दन। लास्ट मंथ मैं छुट्टी से लौटा, तो केरला से लेकर दिल्ली तक ट्रेन में आधे इंडिया का सफर किया। हर स्टेट के न्यूज़-पेपर पढ़े और लोगों की बातें सुनीं। लगा कि देश एक नहीं, कई रीजन में, टुकड़ों में बँटा हुआ है। देश की किसी को चिंता नहीं। चिंता है तो अपनी रीजन की, रीजन की पावर की और पावर से होनेवाले पैसे की।
- जनार्दन : मेरे दोस्त, आज पैसा ही असली चीज़ है, पैसा ही भगवान है, खुदा है, गॉड है। पैसे के लिए लोग अपने देश के भेद दुश्मन-देशों के यहाँ बेचते हैं। दुश्मन-देशों के इशारे पर आए दिन सांप्रदायिक दंगे कराते हैं, स्मलिंग और चोरबाज़ारी करते हैं। नेता लोग चंदा ले रहे हैं, अफसर रिश्वत ले रहे हैं। सेठ चंदा और रिश्वत देकर काली कमाई कर रहे हैं। (ज़रा रुककर) लेकिन नहीं। हमें यह सब नहीं सोचना चाहिए। हम इस देश की सीमाओं के प्रहरी हैं, देश की आज़ादी और अखंडता के रक्षक हैं। देश में क्या हो रहा है, उसकी चिंता छोड़कर हमें देश की रक्षा के लिए कठिन और दुर्गम सीमाओं के इस बर्फ़ानी मोर्चे पर डटे रहना चाहिए— अपनी जान की परवाह किए बिना डटे रहना चाहिए। यही हमारा धर्म है, यही हमारा कर्तव्य है।¹⁹

नाटककार ने राजनीति पर व्यंग्य के साथ-साथ देश की सीमाओं पर संलग्न वीर सैनिकों की कर्तव्य परायणता से राजनीतिज्ञों को प्रेरित करने का प्रयास किया है। इसी के साथ नाटककार ने देश के उन राजनेताओं को जो अपना राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने और पैसा कमाने के लिए देश को तोड़ रहे हैं, व्यंग्यबाण के माध्यम से कर्तव्य के प्रति सचेत करना चाहा है—

जोज़फ़ : तो क्या देश के दूसरे लोगों का कोई कर्तव्य नहीं, ड्यूटी नहीं, जो अपनी पावर पॉलिटिक्स के लिए, पैसे के लिए देश को तोड़ रहे हैं, देश की डेमोक्रेसी की जड़ें काट रहे हैं और आम आदमी का जीना दूभर कर रहे हैं?²⁰

नाटककार ने देश की सीमा पर तैनात सैनिक की मौत के लिए राजनीतिज्ञों को जिम्मेदार ठहराते हुए देश पर हमले को राजनीतिक देन बताया है और साथ ही स्वदेशी राजनीति की काली करतूतों का भंडाफोड़ भी किया है।²¹

विदेशी राजनीति से अभिप्राय अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से है और इसका संबंध शत्रु देशों से भी है और मित्र देशों से भी। श्री चिरंजीत जी के नाट्य-साहित्य में शत्रु देशों की राजनीति पर युद्धकालीन व्यंग्य किए गए हैं। नाटककार ने अपने प्रथम व्यंग्य-प्रधान नाटक 'अजगरराज' में भारत के पड़ोसी देश चीन पर व्यंग्य प्रहार किया है। इस विषय में उन्होंने लिखा है— 'सन् 1962 में जब चीन ने भारत पर धोखे से आक्रमण किया था, तब मैंने आकाशवाणी के लिए यह राजनीतिक व्यंग्य-प्रधान धारावाहिक नाटक 'अजगरराज' का प्रयोग किया था।² इस नाटक में पात्रों के नामकरण में भी व्यंग्य दृष्टिगोचर होता है। यथा— 'अजगरराज' माओत्से तुंग है। 'झूठ-मूठ सिंह चाउन लाई तथा 'पीं-पीं रेडियो' से तात्पर्य रेडियो पीकिंग है।²³ चीन के लिए लाल बुझककड़ी।²⁴

चीन की अवसरवादी ओछी राजनीति पर व्यंग्य करने के लिए उद्देश्य से श्री चिरंजीत ने वहाँ के प्रचार-तंत्र को व्यंग्य का आधार बनाया है। व्यंग्य चित्रण दृष्टव्य है—

रेडियो स्वर : (बहुत महीन और तीखी आवाज़) पीं-पीं-पीं ! यह बुझक्कड़ीन देश का पीं-पीं रेडियो है। दुनिया के संशोधनवादी, समाजवादी, साम्राज्यवादी, प्रक्रियावादी, विस्तारवादी, अवसरवादी, वादी-संवादी आदि-आदि सब कागजी शेर हैं। इस संसार-रूपी जंगल के असली शेर हैं बुझक्कड़ीन देश के भगवान कुर्सीनशीन, चिरनवीन, विचारों की मशीन अजगरराज श्री-श्री बुझक्कड़ीन जंग। आज इस असार-संसार के प्रत्येक प्राणी को ज्ञात हो जाना चाहिए भगवान श्री लाल बुझक्कड़ जंग इस धरती पर अपना बुझक्कड़ी धर्म फैलाने के लिए अपनी दिव्य 'लाल किताब' के साथ दहाड़ते-फुँकारते हुए अवतरित हो चुके हैं। ऐ दुनिया वालो! तुम अब उन्हें अपना खुदा मानो, उनकी दिव्य 'लाल किताब' पर ईमान लाओ।²⁵

श्री चिरंजीत जी ने युद्धकाल में 'अपने मुँह मिया-मितठू बनने' वाले चीन पर इस प्रकार व्यंग्य किया है—

अजगरराज : ... इस दुनिया में कौन है ऐसा माई का लाल, जो हमारे ईश्वरत्व, हमारी खुदाई को चुनौती दे सके। हम अजर-अमर हैं, सर्वशक्तिमान हैं, साक्षात् भगवान हैं। हमारे पास एटमबम जैसे विनाशकारी शस्त्र हैं। हम जंग, खूनी क्रांति, संघर्ष और विनाश के देवता हैं। आज से इस दुनिया में हमारी खुदाई का नया दौर शुरू हुआ है।²⁶

श्री चिरंजीत जी राजनीतिक व्यंग्यकार के रूप में जिन नाटकों सर्वाधिक लोकप्रिय हुए हैं, वे हैं— 'ढोल की पोल-1965' और 'ढोल की पोल-1971'। इस संबंध में उन्होंने लिखा है— 'मैं समझता हूँ कि मेरी बरसों की मनोरंजन-प्रधान पत्रकारिता तथा नाट्य-साधना की सिद्धि एवं निष्पत्ति 'ढोल की पोल' में हुई है।' ²⁷ यह 'ढोल की पोल' नाटक श्री चिरंजीत जी की प्रतिभा का चरमोत्कर्ष है, जिसे उन्होंने स्वयं की पहचान माना है।²⁸

'ढोल की पोल' में नाटककार ने भारत-पाकिस्तान के 1965 और 1971 के युद्धों को आधार बनाया है। इन नाटकों की रचना में भारत-पाकिस्तान के युद्ध का प्रतिदिन का घटनाक्रम होता था। इस संबंध में श्री चिरंजीत जी ने लिखा है— 'उन दिनों श्रोताओं तथा दिल्ली के पत्रकारों-साहित्यकारों को आश्चर्य होता था कि मैं कैसे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति जैसे नाजुक विषयों पर रोज नाटक तैयार करके प्रसारित करता हूँ। मुझे याद है कि एक पत्रकार ने मुझसे पूछा था— आप कैसे अकेले ही युद्ध-संबंधी दिन-भर के दोनों पक्षों के ताज़ा समाचारों, विचारों और वक्तव्यों पर अपने हास्य-व्यंग्य की चाशनी चढ़ाकर उसी रात एक गर्मागर्म मनोरंजक नाटक के रूप में 'ढोल की पोल' पेश कर देते हैं?' ²⁹

श्री चिरंजीत जी के नाटक 'ढोल की पोल' में यूँ तो सर्वत्र विदेशी राजनीति पर व्यंग्य प्रहार किए गए हैं, किंतु हम संपूर्ण नाटक का उल्लेख न करते हुए, प्रमुख घटनाओं को ही प्रस्तुत कर रहे हैं।

सर्वविदित है कि भारत एक उदारशील देश है। भारत की संस्कृति-सभ्यता भी संसार

में श्रेष्ठ सिद्ध हुई है। भारत अपने उदारशील आचरण के कारण सबसे मित्रता का भाव रखना चाहता है। भारत-पाकिस्तान सीमा-विवाद के चलते हुए भी भारत ने अपनी उदारता का परिचय दिया है। युद्ध-जैसी घटनाओं से भारत हमेशा दूर रहना चाहता है। इसके विपरीत पाकिस्तान ऐसा देश है, जो भारत को बार-बार युद्ध के लिए ललकारता रहा है और हर बार उसे मुँह की ही खानी पड़ी है। सन् 1965 के युद्ध की शुरुआत भी पाकिस्तान ने ही की थी, किंतु वह संसार के देशों में इस बात का झूठा प्रचार कर रहा था कि भारत ने युद्ध की शुरुआत की है। श्री चिरंजीत जी ने पाकिस्तान के इस झूठे प्रचार का व्यंग्य के माध्यम से इस प्रकार भंडाफोड़ किया है—

ढिंदोरची : उस्ताद, क्यों मुझसे भूखे पेट झूठ बुलवाएँ जा रहे हैं? आप जानते हैं, दुनिया जानती है कि कश्मीर को ज़बरदस्ती हथियाने के लिए पहले झूठिस्तान ने भारत पर हमला किया और उसके जवाब में अब भारत ने हमला किया है, लेकिन हम झूठा प्रापेगंडा कर रहे हैं कि भारत ने बिला-वज़ह अचानक झूठिस्तान पर हमला कर दिया है।³⁰

श्री चिरंजीत जी ने पाकिस्तान द्वारा झूठा प्रचार-प्रसार करने के कारण ही उसे 'झूठिस्तान' नाम दिया है। 1965 के युद्ध में वह लगातार हार की मार खाकर भी अपनी बहादुरी का बखान कर रहा था। नाटककार ने पाकिस्तान की इस थोथली राजनीति पर हास्यपूर्ण व्यंग्य का प्रहार किया है—

ढिंदोरची : (ढोल पीटकर) रेडियो झूठिस्तान के अवाम को यह जानकर खुशी होगी कि भारत ने झूठिस्तान पर जो बिला-वज़ह अचानक हमला किया है, उसे झूठिस्तान की बहादुर फौजों ने नाकाम कर दिया है। अब हमारी बहादुर फौजें भारतीय सिपाहियों को खदेड़ती हुई लगातार भारत के अंदर बढ़ रही हैं, चढ़ाई पर चढ़ाई कर रही हैं हमारे सिपाहियों ने दुश्मन की बख्तरबंद गाड़ियों के बखिए उधेड़ दिए हैं, हमारे हवाई जहाज़ों ने दुश्मन की हवाई ताक़त की कमर तोड़ दी है, हमारी तोपों ने दुश्मन के टैंकों की दीवारें तोड़ दी हैं। ... इस एक मुठभेड़ में भारत के छह हजार सिपाही मौत के घाट उतार दिए गए, हमारे सिर्फ़ दो सिपाहियों की उँगली पर चोट लगी, एक जीप का टायर पक्कर हुआ और हमारे एक टैंक की चैन दुश्मन की गोलीबारी से उतर गई। हमारे बहादुर सिपाहियों की हिम्मत मुलाहिजा हो कि साइकिल की चैन चढ़ाकर उस टैंक को सही सलामत अपने मोर्चे पर लौटा लाए।³¹

'ढोल की पोल' कार्यक्रम में उसी दिन के युद्ध की घटनाओं पर मनोरंजक टीका-टिप्पणी होती थी और पाकिस्तान-रेडियो से प्रसारित हुई उसी दिन की ख़बरों की 'झूठिस्तानी ख़बरों के बुलेटिन के रूप में व्यंग्यात्मक ढंग से पोल खोल दी जाती थी।'³² जहाँ पाकिस्तान झूठी घटनाओं का प्रचार करता था, भारतीय सैनिकों को मार गिराने के झूठे दावे करता था। इसके बदले में श्री चिरंजीत जी उसके झूठे दावों का भंडाफोड़ करते हुए जवाबी हमला किया करते थे—

खबरची : उस्ताद, आपको यहाँ अफ़ीम की पड़ी है, वहाँ भारती फ़ौजों ने हमारी फ़ौजों की

बुरी तरह पिटाई शुरू कर दी है।

उस्ताद : (पीनक में) हमारी फौजें कुछ ज़्यादा अफ़ीम खा गई होगी।

खबरची : लगता है, हमारे पैटन-टैंको और सैबर-जैट हवाईजहाज़ों को भी किसी ने अफ़ीम ही खिला दी थी।

उस्ताद : (बिगड़कर) अफ़ीम जैसी नायाब चीज़ का ऐसा दहक़ानी इस्तेमाल!

खबरची : उस्ताद, मैदाने जंग में हमारे टैंक बैल-गाड़ियाँ बन गए हैं, हमारे सैबर-जैट मेले में लूटी जानेवाली पतंगें बन गए हैं, हमारे सिपाही गीदड़ बन गए हैं...।³³

भारत-पाकिस्तान के युद्धों में पाकिस्तान को चीन और अमरीका देशों का पूरा सहयोग मिलता रहा है। जहाँ चीन ने पाकिस्तान की खुलकर मदद की, वहीं अमरीका ने चोरी-छिपे भारत के खिलाफ पाकिस्तान को भड़काया और उसको टैंकों की सहायता भी दी। अभिप्राय यह है अमरीका ने यह दिखा दिया कि अमरीका वाले तन के गोरे और मन के बड़े ही काले हैं। श्री चिरंजीत जी ने अपने इस जवाबी प्रहार में अमरीका को भी व्यंग्य का शिकार बनाया है—

खबरची : उस्ताद, आपको झूटिस्तान के अवाम की हालत का पता नहीं। हमारे हुक्मरानों ने अपनी गद्दी बचाने और चीनी दोस्तों का मन बहलाने के लिए झूटिस्तान की गरीब अमन-पसंद रिआया को जंग की भट्टी में झोंक दिया है। आज घर-घर में सफे-मातम बिछी हुई है। सभी महाज्रों पर हमारी फौजों की पिटाई हो रही है। अमरीका से खैरात में मिले टैंकों और हवाई जहाज़ों की चटनी बन रही है।³⁴

श्री चिरंजीत जी ने भारत-पाकिस्तान के इस युद्ध में विदेश नीति पर इस प्रकार व्यंग्य प्रहार किया है—

च्युंचिनची: शाबाश, अफ़ीमची भाई! रेडियो पर बढ़िया की भारत की पिटाई, चीन खूब दोस्ती निभाई, हमारे चले वज़ीरे-भुट्टौर जनाबे-धमकौर ने खूब शतरंज है बिछाई।

उस्ताद : च्युंचिनची भाई, बनी रहे अफ़ीमची, भारत और झूटिस्तान के इस झगड़े को खत्म करने के लिए रूस, अमेरिका और बरतानिया जैसी बड़ी-बड़ी ताकतें चौधराहट कर रही हैं। झगड़ा निबटाने के लिए रूस ने एक सुझाव दिया और अमेरिका और बरतानिया ने दूसरा। हमारा चेला वज़ीर भुट्टौर जनाबे-धमकौर हमारी भेड़ों और याकों का मामला यू०एन०ओ० में उठाने के बहाने पच्छमी देशों के दौरे पर जा रहा है। वह हमारे इशारे पर रूस अमेरिका और बरतानिया को अपनी शतरंज का मोहरा बनाएगा, दोनों गुटों को आपस में लड़ाएगा, सबको धमकाएगा, हमारी बात मनवाएगा और कश्मीर झूटिस्तान को दिलवाएगा।³⁵

श्री चिरंजीत के नाटकों में राजनीतिक व्यंग्य के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उनके नाटक व्यंग्य की दृष्टि से समृद्ध हैं। उनके ये नाटक उन्हें एक सफल राष्ट्रीय नाटककार तो प्रमाणित करते हैं, साथ ही वे व्यक्ति और समाज को उसके चरित्र का बोध भी कराते हैं और इसी के साथ वे अनुचित मार्ग को छोड़कर उचित मार्ग पर चलने के लिए बाध्य करते हैं। श्री चिरंजीत जी के व्यंग्य नाटक डा० भानुदेव शुक्ल के इस कथन को सही साबित करते हैं—‘व्यंग्य अथवा उपहास साहित्यकार के हाथ का वह चाबुक है, जिसकी मार से व्याकुल होकर व्यक्ति, संस्था अथवा समाज सही मार्ग पर चलने को बाध्य हो जाता है।’³⁶

संदर्भ

1. हास्य-मंच, चिरंजीत, (भूमिका से)
2. वही, (भूमिका से)
3. एनसाइक्लोपीडिया अमेरिका
4. ऑक्सफोर्ड इंगलिश डिक्सनरी
5. कबीर, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 164
6. नागरी पत्रिका, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बेढब बनारसी अंक (जन० 1969), पृ० 22
7. सदाचार का ताबीज, श्री हरिशंकर परसाई, पृ० 10
8. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता में व्यंग्य, डा० शेरजंग गर्ग, पृ० 27
9. हास्य के सिद्धांत और आधुनिक हिंदी साहित्य, श्री प्रेमनारायण दीक्षित, पृ० 59
10. भारतेंदुयुगीन नाट्य-साहित्य, डा० भानुदेव शुक्ल, पृ० 144
11. राष्ट्रीय नाटककार चिरंजीत, संपादक आचार्य क्षेमचंद्र सुमन, पृ० 83
12. अरविंद ने कहा था, डा० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 132
13. लाला लाजपतराय ने कहा था, डा० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 120
14. विश्व सूक्ति कोश-2, डा० श्यामबहादुर वर्मा, पृ० 915
15. गांधी ने कहा था, डा० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 141
16. सुभाष ने कहा था, डा० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 132
17. वही, पृ० 132
18. हिंदी नाट्य-साहित्य में हास्य और व्यंग्य, डा० गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 109-110
19. सात युवमंच नाटक, चिरंजीत, पृ० 16-17
20. वही, पृ० 17
21. वही, पृ० 22
22. हास्य-मंच-3, चिरंजीत, (भूमिका से)
23. राष्ट्रीय नाटककार चिरंजीत, संपादक आचार्य क्षेमचंद्र सुमन, पृ० 75
24. वही, पृ० 91
25. हास्य-मंच-3, चिरंजीत, पृ० 71-72
26. वही, पृ० 74
27. वही, (भूमिका से)
28. वही, (भूमिका से)
29. वही, (भूमिका से)
30. वही, पृ० 86
31. वही, पृ० 87
32. वही, (भूमिका)
33. वही, पृ० 88
34. वही, पृ० 90
35. वही, पृ० 93
36. भारतेंदुयुगीन हिंदी नाट्य-साहित्य, डा० भानुदेव शुक्ल, पृ० 144



प्रगतिवादी काव्य में मानवीय अस्मिता का प्रश्न

डॉ० बसंत बंसल

‘प्रगति’ संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है— आगे बढ़ना, उन्नति करना अथवा ‘ऐसा परिवर्तन लाना जो वस्तु, गुण या परिणाम में वृद्धि कर सके। साहित्य के क्षेत्र में ‘प्रगति’ शब्द जीवन से संपृक्त है, इसलिए उसका विशिष्ट महत्त्व है। प्रगतिवाद का अभिप्राय उस साहित्यिक आंदोलन अथवा वाद से है, जिसमें मानव को उसकी यथार्थ दशा से अवगत कराने के अनंतर प्रगति अथवा उत्कर्ष की प्रेरणा दी जाती है। इस प्रकार ‘प्रगतिवाद, सामाजिक, यथार्थवाद के नाम पर चलाया गया वह साहित्यिक आंदोलन है, जिसमें जीवन और यथार्थ के वस्तु-सत्य को उत्तर छायावाद काल में प्रश्रय मिला और जिसने सर्वप्रथम यथार्थवाद की ओर समस्त साहित्यिक चेतना को अग्रसर होने की प्रेरणा दी।¹

‘प्रगति’ के संबंध में मार्क्सवादी धारणा ही मुख्यतः हिंदी की प्रगतिशील कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि है। मार्क्सवाद एक प्रकार का नया और वैज्ञानिक मानववाद है, जिसे राजनीति और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में समाजवाद और साम्यवाद, दर्शन के क्षेत्र में द्वंद्वत्मक वस्तुवाद और समाजशास्त्र तथा इतिहास के क्षेत्र में ऐतिहासिक वस्तुवाद कहा जाता है।² डा० रणजीत लिखते हैं— ‘जो साहित्य प्रक्रियावादी, पूँजीवादी प्रवृत्ति, मनोवृत्ति और व्यवस्था का विरोधी है, वही प्रगतिवादी साहित्य है।³

हिंदी-साहित्य में दलगत राजनीति से ऊपर उठकर प्रगतिवादी साहित्यिक आंदोलन का उद्देश्य साहित्य में यथार्थवाद की स्थापना करना था। इस स्थापना में मानववाद की भावना निहित है। इस साहित्य का एकमात्र उद्देश्य ही मानव-अस्मिता की प्राप्ति का प्रयास करना; आम जन-जीवन का चित्रण करना; दलित एवं उपेक्षित वर्ग को साहित्य में स्थान देना; मातृभाव की स्थापना करना; उपेक्षित, पीड़ित वर्ग के प्रति सहानुभूति दिखाना; सर्वहारा वर्ग के लोगों को शोषकों के विरुद्ध आवाज उठाने हेतु प्रेरित करना एवं उन्हें अपने अधिकारों के प्रति सचेत करने के साथ-साथ उन्हें वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के प्रति असंतोष प्रकट करने की प्रवृत्ति से युक्त करना था। स्पष्टतः प्रगतिवादी साहित्य सर्वहारा वर्ग के हितों की रक्षा एवं उनके अधिकारों की चिंता करता हुआ उनकी दशा को चित्रित करता है।

हिंदी में प्रगतिवादी साहित्यकारों की संख्या असंख्य है। इनमें मुख्य हैं—निराला, पंत, नरेंद्र शर्मा, शिवमंगल सिंह ‘सुमन’, नागार्जुन, रामविलास शर्मा, डा० रांगेय राघव, त्रिलोचन आदि। इन्होंने अपनी कृतियों के माध्यम से समाज द्वारा उपेक्षित एवं शोषित जनसमुदाय की दशा एवं दिशा का चित्रण किया है और उन्हें समाज में पुनः स्थापित करने का अथक् प्रयास किया है। इसी उद्देश्य के प्रतिफलन के लिए जुलाई 1936 में ‘भारतीय साहित्यिक परिषद्’ का अधिवेशन हुआ। इसमें

पारित प्रस्ताव जुलाई 1936 में ही 'विशाल भारत' नामक पत्र में प्रकाशित हुआ, जिसमें कहा गया था— 'इंसानियत के नाते हम पूछते हैं कि आज जब तरक्की और उन्नति तथा अवनति की ताकतों में आखिरी लड़ाई छिड़ी हुई है, साहित्य उससे अपने को अलग रख सकता है? क्या कला, सौंदर्य आदि का पल्ला झाड़कर वह जिंदगी से भाग सकता है? क्या वह यथार्थ की फ़सील पर बैठकर 'क्रांति' और प्रतिक्रिया के द्वंद्व का तमाशा खामोशी से देख सकता है? हर कला की जड़ एहसास की भावना में है, तो फिर किसानों की पुकार, मजदूरों की कराह और भिखारियों की आह हमें बोझिल क्यों रख सकती है? जब जीवन का सबसे बड़ा मामला यह है कि समाज की देह में बेकारी, ग़रीबी और शोषण का कोढ़ किस तरह धोया जाए? तो क्या यह कहने की ज़रूरत रह जाती है कि साहित्य का इशारा किस तरफ़ हो, वह क्या कहे? किनसे कहे और किस तरह कहे? ... हमें विश्वास है कि हमारे देश के साहित्यकार जीवन और साहित्य में अलगाव की खाई को पाटकर, साहित्य को इंक़लाब का संदेशवाहक बनाएँगे।' ⁴

यहाँ इतना लंबा उद्धरण देने का एकमात्र कारण है कि— 'कस्मै देवाय हविषा विधेय' अर्थात् साहित्य किसके लिए? फलतः उत्तर मिला 'साहित्य समाज के लिए' इस उत्तर के बाद प्रगतिवादी साहित्यकारों ने इस बात पर जोर दिया कि समाज में किसान-मजदूर के लिए साहित्य हो। इसका विरोध भी हुआ लेकिन अज्ञेय जी इसका समाधान देते हुए लिखते हैं, 'किसानों, मजदूरों की तरह आज निम्न-मध्यवर्ग भी पीड़ित है— यही नहीं, बल्कि इस समाज-व्यवस्था में छोटे-बड़े सभी लोग परेशान हैं, इसलिए साहित्य सबके लिए, संपूर्ण मानवजाति के लिए है।' ⁵

इसी आधार पर प्रगतिवादी साहित्य में दीन-हीन, उपेक्षित वर्ग को स्थान दिया गया और अपने कलेवर-संपोषण में साहित्य ने उनकी आवाज़ उठाने के साथ-साथ उनकी दशा का भी चित्रण किया। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' तो बंगाल के अकाल के बाद पनपी भुखमरी एवं दरिद्रता से टूटती मानवजाति की उपेक्षा को 'भिक्षुक' कविता में कह ही देते हैं और एक प्रश्न खड़ा करते हैं कि ऐसे लोगों को देखकर नहीं लगता कि मानवीय अस्मिता ख़तरे में है, उसे बचाने का प्रयास किया जाना चाहिए—

'वह आता

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता
पेट पीठ मिलकर हैं एक, चल रहा लकुरिया टेक
मुट्ठीभर दाने को, भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता।

चाट रहे झूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।' ⁶

'प्रसाद' जी भी अपने साहित्य में मानवता की बात करते नज़र आते हैं। वे तो इसके लिए क्षुब्ध होकर व्यंग्यवाण-सा छोड़ते हुए प्रतीत होते हैं—

'श्वानों को मिलता वस्त्र दूध, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक टिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।'

इस प्रकार का चित्रण पढ़कर क्या नहीं लगता कि मानव की दशा जानवरों से भी गई-बीती है। फिर कहाँ गए उनके रोटी, कपड़ा और मकान के अधिकार? क्यों छीन लिए जाते

हैं उनसे उनके अधिकार? इसी आधार पर हम नारी को उसके जीने के अधिकार कहाँ दे पाए हैं? वह क्यों सदा-सदा से पीड़ित, शोषित एवं अनाचार की शिकार होती आई है? उसे भी प्रगतिवादी कवि सहन न कर सका। वह कह उठता है—

‘योन नहीं है रे नारी! वह भी मानवी प्रतिष्ठित,
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।’

पर कहाँ? कहाँ ऐसा हो पाया? आज की नारी पूर्णतया अपने अधिकारों को प्राप्त नहीं कर सकी है।

चाहे आज हम 33 प्रतिशत आरक्षण की बात करें लेकिन वास्तव में कितने हैं, जो उन्हें उनके वास्तविक अधिकार देने की कोशिश करते हैं...? यह सब मिथ्या जिह्वा-प्रलाप है। इसी बहस के कारण नारी आज भी अपनी अस्मिता की तलाश के लिए संघर्षरत है। अपनी इसी अस्मिता को तलाशने के कारण उसके पाँव अनैतिक कर्मों की ओर भी मुड़ जाते हैं, क्योंकि कुछ लोग अपने स्वार्थ के लिए उन्हें ऐसा करने पर विवश भी कर देते हैं।

इतना ही नहीं, प्रगतिवादी कवियों ने दीन-हीन किसान की दशा की भी बात की है। किसान जीवन-भर अपने खेत में मेहनत करता है, परंतु क्या वह अपने द्वारा उत्पादित अन्न को पूर्णतया खा पाता है? उत्तर होगा, नहीं। यदि उत्तर हाँ में है तो मैं पूछता हूँ वह प्रेमचंद के गोदान का ‘होरी’ क्या कोई जर्मींदार है? है तो वह भी किसान ही, लेकिन जो किसान होते हुए भी मजदूर बन जाता है और अंततः स्वयं को मृत्यु की राह पर ले जाता है। वर्तमान समय में भी यदि दृष्टि फैलाएँ तो कहा जा सकता है कि भारत का हर ‘किसान’ आज ‘होरी’ है। यदि नहीं है तो सोचें कि कहाँ मिला उसे अपने उत्पादन का वास्तविक मूल्य? निरंतर बढ़ती महँगाई और लोगों के स्वार्थ ने उसे इतना पंगु बना दिया है कि वह न तो जी सकता है और न ही मर सकता है। कारण? पूँजीपतियों द्वारा उसका निरंतर शोषण किया जाना। ऐसी अवश अवस्था का चित्रांकन नागार्जुन जी अपने काव्यसंग्रह ‘युगधारा’ में कर देते हैं—

‘घुन खाए शहतीरों पर की, बारह खड़ी विधाता बाँचे,
फटी भीत है, छत चूती है, आले पर बिसतुइया नाचे,
बरसाकर बेबस बच्चों पर, मिनट-मिनट में पाँच तमाचे,
इसी तरह से दुखरन मास्टर गढ़ता है आदम के साँचे।’⁷

जब यही किसान पूँजीवादी व्यवस्था के पाँवों-तले रौंदा जाता है तो उसकी पीड़ा और कराह अनायास प्रगतिवादी कवि के मुख से फूट पड़ती है—

‘मेरे प्राण हुए न्योछावर, रहा विजेता बिगुल बजाता।
खेत अन्न का हो कि युद्ध का, मेरा हो यूँ माँ से नाता।
रहा दूसरों के हाथों जो, मैं वह खड़ा निशान हूँ।
मैं ही अनजाना सैनिक हूँ, मैं ही अनचीन्हा किसान हूँ।’⁸

भगवतीचरण वर्मा भी किसान की इसी दशा को आंतरिक वेदना के साथ चित्रित करते हैं और आम आदमी की आत्मा को झिझोड़ डालते हैं, जिससे पुनः एक प्रश्न उत्पन्न होता है क्यों है यह अंतर? क्यों है यह भेदभाव? क्यों हो रहा है यूँ एक-दूसरे के अधिकारों का हनन? लगता है समाज का उच्चवर्ग तो जैसे कान बंद कर और अंधा होकर सो रहा है। वह कहाँ देखता

है इस प्रकार की पीड़ा को—

‘बीबी बच्चों से छीन बीन दाना-दाना अपने में भर।

भूखे तड़पें, मरें, भरों का तो भरना है उसको घर।

है उसे चुकाना सूद, कर्ज है उसे चुकाना अपना कर।

जितना ख़ाली उसका घर, उतना ख़ाली उसका अंतर।’

इस प्रकार की स्थिति का कारण है पूँजीपती वर्ग अर्थात् शोषकवर्ग। कार्ल मार्क्स की मान्यता है कि शोषित वर्ग के लिए अधिनायकत्व की आवश्यकता है, जो उन्हें उचित मार्गदर्शन देते हुए उन्हें सत्ता तक ले जा सके। कहा है— ‘सर्वहारा के अधिनायकत्व के बिना मजदूर वर्ग सत्ता पर काबिज नहीं कर सकता, बुर्जुआ प्रतिक्रांति को दबा नहीं सकता, अर्थव्यवस्था तथा जनचेतना का रूपांतरण नहीं कर सकता और साम्यवादी समाज में संक्रमण-कार्य संपन्न नहीं कर सकता।⁹ अधिनायकत्व के आधार पर ही रूस की क्रांति (1917) हुई, जिससे मजदूर वर्ग, सर्वहारा वर्ग को सम्मान मिला। यद्यपि रूसी क्रांति के कारण भी समाज के दो ही वर्ग थे— शोषक और शोषित। एक वर्ग अधिकारों का हनन कर रहा था और दूसरा वर्ग शिकार हो रहा था। परिणाम निकला ‘वर्ग-संघर्ष’ लेकिन प्रगतिवादी साहित्य इस वर्ग-संघर्ष का वर्णन नहीं करता, क्योंकि उसका अपना एक साहित्यिक दृष्टिकोण है। वह अपने पास समाज के सही विकास की एवं उसके अधिकारों की एक दृष्टि रखता है और वह दृष्टि शोषण और उत्पीड़न से समाज की मुक्ति के लिए चलाए गए संघर्ष द्वारा प्राप्त की है। फलतः प्रगतिवादी साहित्यांदोलन ने स्वयं को वामपंथी राजनीति के आंदोलन से अलग नहीं रखा, क्योंकि उसी में उन साहित्यकारों को अपनी और अपने साहित्य की सामाजिक सार्थकता प्रतीत हुई।¹⁰ इसी संदर्भ में मुक्तिबोध ने कहा है— ‘यह ध्यान में रखने की बात है कि एक कला-सिद्धांत के पीछे एक विशेष दृष्टि होती है, उस जीवन-दृष्टि के पीछे एक जीवन-दर्शन होता है और इस जीवन-दर्शन के पीछे, आजकल के ज़माने में एक राजनीतिक दृष्टि भी लगी रहती है।’¹¹ इसी कारण प्रगतिवादी साहित्य ऐसी दृष्टि की दात्री रूसी क्रांति का गुणगान भी करता है— शिवमंगल सिंह ‘सुमन’ तो इसे तीर्थ मानते हुए कहते हैं—

‘यह दलितों की तीर्थभूमि है, युग का प्रबल तकाजा,

सर्वप्रथम साम्राज्यवाद का, निकला यहीं जनाजा।

यहाँ संगठित जन-जीवन की बोला करती तूती,

जिसने युग की बर्बरता को, दे दी आज चुनौती।’¹²

नरेंद्र शर्मा भी रूस को मानवतावाद का त्राता एवं शोषितों का सहारा मानते हुए लिखते हैं—

‘चौथा खंड सोवियत, जिसका झलमल लाल सितारा,

जहाँ ढूँढती मानवता को, मिलने लगा किनारा।

वहाँ हरा होता सदियों का रेगिस्तान हमारा,

वहाँ सूख जाता दुखियों की आँखों का जल खारा।’¹³

जहाँ प्रगतिवादी साहित्य एक ओर सर्वहारा वर्ग की अस्मिता को बचाने की माँग करता है, वहीं दूसरी ओर प्रश्न भी पूछता है कि ऐसा कब होगा—?

‘कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में

सभी प्रश्नोत्तरी की तुंग प्रतिमाएँ
गिराकर तोड़ देता हूँ हथौड़े से
कि वे सब प्रश्न कृत्रिम और उत्तर भी छलमय
समस्या एक—

मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में/ सभी मानव
सुखी, सुंदर व शोषणमुक्त कब होंगे?’¹⁴

इसीप्रकार वे पुनः समाज के समक्ष प्रश्न खड़ा करके तथा स्वयं उसका उत्तर देने के प्रयास में समस्त संकटों का आधार पूँजीवाद को मानते हैं और समाधान देते हैं—

‘पूँजीवाद ने महत्त्व नष्ट कर दिया सबका,
जीवन का, जन का, समाज का, कला का
बिना पूँजीवाद को मिटाए किसी तरह भी
यह जीवन स्वस्थ नहीं हो सकता,
ज्ञान-विज्ञान से किसी प्रकार,
कोई कल्याण नहीं हो सकता।’¹⁵

जब सर्वहारा वर्ग निरंतर अपनी अस्मिता से वंचित होता गया और शोषक वर्ग ने निरंतर उसका शोषण किया, तो प्रगतिवादी साहित्यकार पददलित लोगों के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए और उनके अधिकारों की प्राप्ति के लिए कला एवं साहित्य के उपासकों को प्रेरणा देता है। कवि केदारनाथ अग्रवाल कह उठते हैं—

‘दे दधीचि! शक्ति का डंका बजाओ,
शांति का उल्लासमय सूरज उगाओ,
लाल सोने का सबेरा चमचमाओ
लेखनी के लोक में आलोक लाओ।’

पुनः वे अपनी कविता ‘मैं लड़ाई लड़ रहा हूँ मोर्चे पर’ में लिखते हैं—

‘मैं लड़ाई लड़ रहा हूँ मोरचे पर
लेखनी की शक्तिशाली गर्जना पर
मैं कलेजा शोषकों का फाड़ता हूँ
सूदखोरों को/मिलों के मालिकों को
भूमि के हड़पे हुए धरणीधरों को
मैं प्रलय के साम्यवादी आक्रमण से मारता हूँ।’

इस प्रकार बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’ जी अपनी कविता ‘विप्लव गायन’ में लिखते हैं—

‘नियम और उपनियमों के ये बंधन टूक-टूक हो जाएँ,
विश्वंभर पोषक वीणा के सब तार-तार मूक हो जाएँ
शांति-दंड टूटें उस महारुद्र का सिंहासन हिल थराए
उसकी शोषक श्वासोच्छ्वास जग के प्रांगण में घहराए।’

इतना सब होने पर भी प्रगतिवादी साहित्यकार थकता नहीं है। वह अपने साहित्य के माध्यम से आशावादी स्वर भी प्रदान करता है। इस विषय पर महेंद्र भटनागर जी लिखते हैं—

‘हिम्मत न हारो।
कंटकों के बीच मन-पाटल खिलेगा एक दिन/हिम्मत न हारो!
यदि आँधियाँ आएँ तुम्हारे पास/उनसे खेल लो,
जितनी बड़ी चट्टान वे फेंकें तुम्हारी ओर/उनको झेल लो।
हिम्मत न हारो।’

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि प्रगतिवादी साहित्य जहाँ एक ओर रूस का गुणगान करता है, वहीं दूसरी ओर सर्वहारा वर्ग की आवाज़ उठाता है। जहाँ वह दीन-हीन-उपेक्षित लोगों को अपने को अधिकारों एवं अस्मिता की पहचान के प्रति सचेत करता है, वहीं उन्हें क्रांति का बिगुल बजाने के लिए आहूत भी करता है। जहाँ एक ओर यह साहित्य जनजीवन की झँकी प्रस्तुत कर कविता के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन करता है, वहीं इसकी दृष्टि ऐसे वर्ग की ओर उठती है, जिसे केवल दीन और हीन ही माना गया है। यह परिवर्तन, यह क्रांति की लहर, यह दीन दशा का चित्रण यहीं पर समाप्त नहीं होता है, अपितु निरंतर और निरंतर इसमें इसी प्रकार की भावना का संचरण हो रहा है।

अतः अपनी अस्मिता के लिए संघर्षरत सर्वहारा वर्ग मनुष्योचित जीवन की न्यूनतम सुख-सुविधाएँ चाहता है, सलतनत नहीं वह मनुष्य की स्वाभाविक गरिमा के अनुरोधों के अनुसार जीवन चाहता है और वह केवल जीवन की आवश्यकताएँ पूरी हो जाने की स्थिति चाहता है। इससे अधिक उसे कुछ नहीं चाहिए। चाहिए तो बस वह समानता का अधिकार, जिसे पाकर वह अपना सरल एवं सहज जीवन जी सके।

संदर्भ

1. सं० डा० धीरेंद्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश, पृ० 568
2. डा० रणजीत, हिंदी की प्रगतिशील कविता, पृ० 31
3. डा० कृष्णलाल ‘हंस’, प्रगतिवादी काव्य-साहित्य, पृ० 14
4. जनवादी : साहित्य विशेषांक, उत्तरार्द्ध अंक-20, परिशिष्ट-20
5. डा० लल्लन राय, हिंदी की प्रगतिशील कविता, पृ० 03
6. नंदकिशोर नवल, निराला रचनावली (खंड-1) पृ० 76
7. नागार्जुन, ‘युगधारा’
8. ‘धर्मयुग’ पत्रिका, पृ० 63-64
9. डा० लल्लन राय, हिंदी की प्रगतिशील कविता, पृ० 12
10. विजयशंकर मल्ल, हिंदीकाव्य में प्रगतिवाद, पृ० 176
11. मुक्तिबोध, नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ० 57
12. शिवमंगल सिंह ‘सुमन’, प्रलय सृजन (प्रलय अब भी दूर है)
13. नरेंद्र शर्मा, हंसमाला, पृ० 40
14. मुक्तिबोध, चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० 155 (द्वि० संस्करण)
15. त्रिलोचन, धरती (एकाधिकार के पंजे में), पृ० 84

□ हिंदी विभाग,

ऐपीजे सरस्वती कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय
चरखी दादरी, ज़िला भिवानी (हरियाणा)

आकाशवाणी रोहतक से प्रसारित हिंदी-नाटकों में एकल परिवार की समस्याएँ इंदुमती

परिवार समाज की एक मुख्य इकाई है। मनुष्य जन्म से ही कुछ आवश्यकताओं को लेकर उत्पन्न होता है, जिनको पूरा करने का दायित्व उसके माता-पिता के कंधों पर होता है। धीरे-धीरे उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती रहती हैं, जिनको पूरा करने के लिए परिवार के सभी सदस्य न्यूनाधिक मात्रा में परस्पर उत्तरदायी होते हैं। प्रत्येक मनुष्य की तीन आवश्यकताएँ होती हैं। सर्वप्रथम मनुष्य को रोटी चाहिए। उसके पश्चात् कपड़ा और जब यह भी पूरी हो जाती है तो उसे मकान की आवश्यकता होती है। इनके लिए उसे सतत प्रयासरत रहना पड़ता है। इस प्रक्रिया में व्यस्त रहते हुए मनुष्य को शादी-ब्याह की रस्मों को भी पूरा करना पड़ता है। इससे पारिवारिक कर्तव्य-भावना और भी बढ़ जाती है। वस्तुतः परिवार पारस्परिक सुरक्षा का सामान्य समझौता है, जिसके अंतर्गत अभिभावक अपने बच्चों का युवावस्था तक पालन-पोषण करते हैं और बड़े होने पर बच्चे आवश्यकतानुसार अपने अभिभावकों की वृद्धावस्था में सेवा-शुश्रूषा करते हैं। इसीलिए समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने भावी जीवन के सपने सँजोता रहता है। परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने को एक ही इकाई से संबद्ध समझता है और प्रत्येक सदस्य आवश्यकता पड़ने पर दूसरे सदस्यों की सहायता करना ही अपना नैतिक कर्तव्य भी समझता है। इसलिए कहा जा सकता है कि परिवार मूल रूप से नैतिक आचरण पर आधारित इकाई है। वैधानिक रूप से तो किसी भी सदस्य को एक-दूसरे के प्रति उत्तरदायी नहीं समझा जा सकता, परंतु सामाजिक परंपराओं के अनुसार सदस्य परस्पर एक-दूसरे के प्रति उत्तरदायी होते हैं। प्राचीन काल में लोग अधिकांशतः एक साथ मिलकर परिवार के रूप में रहा करते थे। परिवार की संपन्नता उसी समय तक कायम है, जब तक परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्यों के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित रहता है। जब परिवार के सदस्यों में कर्तव्य-भावना का हास होने लगता है, तो पारिवारिक समस्याएँ भी ज़्यादा दूर नहीं होतीं। पारिवारिक कर्तव्य-भावना से न केवल आर्थिक स्थिति मजबूत होती है, बल्कि आपस में सद्भाव की वृद्धि भी होती है। पारिवारिक कर्तव्य-भावना में पुरुष एवं नारी का समान योगदान नितांत आवश्यक है। यदि पुरुष और नारी का सहयोग समान रूप से मिलता रहे, तो पारिवारिक स्थिति सुदृढ़ बनी रहती है।

डॉ. जगन्नाथ 'नलिन' द्वारा लिखित रेडियो नाटक 'निशांत' एक सामाजिक और एकल पारिवारिक नाटक है। नाटककार ने पति-पत्नी के संबंधों के साथ-साथ एकल परिवार को 'शराब' और 'रेसकोर्स' जैसे दुर्व्यसन से नष्ट होते हुए दिखाया है। नलिन जी ने इस नाटक के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि—नाटक-रचना के विषय में एक बात कह दूँ।

बंबई के अपने चार वर्ष के जीवन में मैंने रेस और शराब के विषैले प्रभाव से अनेक एकल परिवारों की सुख-शांति, संपत्ति-मर्यादा का जो करुण विनाश देखा, वह अत्यंत हृदयबेधक है। धनी और संपन्न ही नहीं, निर्धन मजदूर भी इस तबाही के शिकार होते हैं। मिल वर्कर, साग-सब्जी बेचनेवाले, फुटपाथ पर सोकर जीवन चलानेवाले तक मदिरा पीकर जो अपराध-वृद्धि करते हैं, रेस में पहुँचकर लखपति होने का जो सपने बटोरते हैं, वह वर्णन से परे है। बहुत दिन से विनाश के वे चित्र मेरे मस्तक में करवटें ले रहे थे।¹

आलोच्य नाटक का कथानक बंबई के एक पुराने विख्यात धनी कुल में उत्पन्न 28 वर्ष के युवक, कस्टम विभाग के अधिकारी मोतीलाल और उसके छोटे से एकल परिवार के इर्द-गिर्द घूमता है। मोतीलाल शराबी है। वह अपनी पत्नी लेखा के प्रति अत्यधिक कठोर है। शराब और रेसकोर्स के चक्कर में वह लोगों से धन लेता है और संपत्ति को गँवाकर कर्जदार बन जाता है। उसकी पत्नी लेखा और उसके दो बच्चे पम्मी और बंटी भी प्रायः उसके कोप का शिकार बनते हैं। घर में अशांति बनी रहती है, इसलिए नाटककार नलिन ने अशांत के पर्याय के रूप में नाटक का नाम निशांत रखा है। नाटक का अंत भी दुःखपूर्ण है। एक दिन मोती क्रोध में आकर लेखा को शराब की बोतल से मारता है। वह लहलुहान होकर भूमि पर गिर पड़ता है। मोती भय एवं पश्चात्ताप में उसके पाँव पर गिर पड़ता है। यदि ये लोग संयुक्त परिवार में रहते तो शायद यह समस्या उत्पन्न न होती।

नाटक की नायिका लेखा पतिव्रता, सहनशील गृहिणी है। वह अपने उत्तरदायित्व को समझती है। वह अपने पति को बार-बार बड़े सहज ढंग से समझाती है किंतु मोती का पुरुषत्व उसे बार-बार झूठे स्वाभिमान से तिरस्कृत करता रहता है। वह उसे गाली देता है, पीटता भी है।²

डॉ. नलिन ने उपर्युक्त नाटक में समस्त एकल परिवारों के पति-पत्नियों को आगाह किया है कि एकल परिवारों की यह भावना कि वे संयुक्त परिवारों से अलग रहकर सुखी रहेंगे, भ्रमपूर्ण है। इसके विपरीत एकल परिवारों में बड़ों का नियंत्रण न होने के कारण परिवार की समस्याएँ अधिक बढ़ जाती हैं। पुरुष के अधिकार-दंभ के कारण और नारी द्वारा अधिकारों की प्राप्ति के लिए किए जानेवाले विद्रोह के कारण एकल परिवार में भी बिखराव दिखाई देने लगा है। विशेष रूप से नौकरी-पेशा नारी को घर और बाहर की दोहरी भूमिका निभानी पड़ रही है। न तो वह घर को भली प्रकार से सँभाल पाती है और न ही वह कार्यालय का कार्य एकाग्रचित होकर कर पाती है। इसके अतिरिक्त अनेक लोगों के साथ संपर्क रखने व कटु और मधुर अनुभवों के दौर से भी उसे गुजरना पड़ता है।

डा० हेमराज 'निर्मम' के रेडियो नाटक 'अंतिम फैसला'³ में एक परिवार का उपर्युक्त दृष्टिकोण से ही चित्रण किया गया है। पत्नी की नौकरी के कारण दंपती के मध्य अनेक बार कटु संबंध उभरने लगते हैं। यदि दंपती सूझ-बूझ, धैर्य व समझदारी से कार्य करें और एक-दूसरे को समझने की कोशिश करें तभी दांपत्य जीवन को सुखी बनाया जा सकता है। नाटक की नायिका एक कंपनी में आशुलिपिक के पद पर कार्य करती है। नेहा का पति अनिल बैंक में क्लर्क के पद पर कार्यरत है। नेहा पूरा दिन दफ्तर में कार्य करने के बाद घर आती है और घर का समस्त कार्य व बच्चों का पालन-पोषण करती है। पति-पत्नी दोनों के नौकरी करने के कारण बच्चों की देखभाल अच्छी प्रकार से नहीं हो पाती और बच्चे अस्वस्थ रहने लगते हैं। नेहा

संयुक्त परिवार में अपने सास-ससुर के पास रहना पसंद नहीं करती। दूसरी ओर नेहा का बॉस नेहा को कुछ-न-कुछ उपहार देता रहता है। इस पर अनिल को नेहा के चरित्र पर भी संदेह होता है। इसलिए वह नेहा से नौकरी छोड़कर घर पर रहने और बच्चों के पालन-पोषण के लिए कहता है। परंतु नेहा घर की आर्थिक स्थिति के कारण नौकरी करना आवश्यक समझती है। दोनों में समझौता होता है और नेहा सदैव अनिल की ही बनी रहने का वचन देती है ताकि वे एकल परिवार को अच्छी प्रकार से चला सकें। अनिल अपनी पत्नी नेहा से कहता है—

अनिल : ऐसा करो तुम इस्तीफा दे दो।

नेहा : अभी लिख देती हूँ कागज पैन सब यहीं पड़े हैं। हाँ अनिल, एक महीने का नोटिस दूँ या एक महीने की तनख्वाह जमा करवानी है ...बोलो अनिल चुप क्यों हो... मैं बताऊँ तुम क्या सोच रहे हो?

अनिल : हाँ बताओ।

नेहा : मेरी नौकरी न रहने पर घरवालों को पैसे कैसे भेज पाओगे? और इस परिवार का खर्च कैसे चलेगा।'⁴

है न एकल परिवार की बहुत बड़ी समस्या। दोनों में संयुक्त निर्णय होने के उपरांत नेहा अनिल को विश्वास दिलाकर अपनी नौकरी करती है। फिर भी उनके जीवन की समस्याएँ कम नहीं होतीं।

डॉ० हेमराज 'निर्मम' कृत रेडियो नाटक 'एक मुट्ठी भर सुख' की मैडम, जो एक कॉलिज की प्रधानाचार्या हैं, एकल परिवार में रहती हैं। उसके बेटे-बहू विवाह के उपरांत नौकरी के कारण अलग शहर में जाकर रहने लगे हैं। एक दिन उसके पास तार आता है कि उसके बेटे-बहू परिवार-सहित आ रहे हैं। वह तार को देखकर पेरशान हो जाती है। कार्यालय के बड़े बाबू पूछते हैं—

बड़े बाबू : आप बुरा न मानें तो एक बात पूछूँ।

मैडम : हाँ पूछो।

बड़े बाबू : इसमें चिंता करने की क्या बात है?

मैडम : बेटा और बहू दोनों अफसर हैं और उनके दो बच्चे हैं। बड़ा चार साल का, छोटा एक साल का।

बड़े बाबू : तब क्या हुआ मैडम?

मैडम : बहू को न खाना बनाने की आदत है और न बच्चे सँभालने की।⁵

क्योंकि मैडम अपने एकल परिवार में ही रहती हैं। बेटे-बहू के आने से परिवार की समस्याएँ बढ़ गई हैं कि उनकी रोटी कौन बनाएगा? बच्चे को कौन सँभालेगा? बहू अपने परिवार के साथ जब सास के पास आती है, तो वह अपने पति को वहाँ छोड़कर दो दिन में ही वापिस चली जाती है, क्योंकि वह सास के साथ रहना ही पसंद नहीं करती। अस्तु, 'एक मुट्ठी भर सुख' नाटक की सास-बहू दोनों संयुक्त परिवार में न रहकर एकल परिवार में ही रहना पसंद करती हैं।

आधुनिक युग में संयुक्त परिवार की अपेक्षा एकल परिवारों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। एकल परिवारों का मुख्य कारण है पति-पत्नी और उनके बच्चे, जो संयुक्त परिवार की भीड़-भाड़ से दूर रहकर पारिवारिक समस्याओं से दूर शांति से रहना चाहते हैं, परंतु

यह कोई आवश्यक नहीं है। कृष्ण 'मानव' कृत रेडियो नाटक 'रेत का समुन्द्र' ⁶ में एकल परिवार में रह रहे अक्षय और उसकी पत्नी दीपा बंबई में भ्रमण करने आते हैं परंतु पत्नी की गलती से अक्षय व बच्चों के सारे कपड़े घर पर ही रह जाते हैं। उसके उपरांत दंपती में महाभारत आरंभ हो जाता है। ⁷

यात्रा से पूर्व अक्षय एक हजार रुपए पत्नी दीपा को खाने का सामान बाजार से लाने के लिए देता है। पत्नी सारा सामान तो बाजार से खरीद लाती है, परंतु खाने के समय पता चलता है कि वह खाने का सामान व बच्चों के कपड़े की अटैची दिल्ली ही भूल आई है। ⁸

कृष्ण मानव कृत रेडियो नाटक 'अमावस के सितारे' ⁹ में एक ऐसे एकल परिवार का चित्रण किया गया है, जो गाँव के संयुक्त परिवार से अलग होकर नगर में आकर फैक्ट्री में नौकरी करता है और अपने एकल परिवार में सुख-शांति को खोजता है। परंतु फैक्ट्री बंद होने के कारण वह नौकरी से हट जाता है। परिणामतः आर्थिक संकट उत्पन्न होता है। बच्चों की स्कूल की फीस देने को भी पैसे नहीं बचते। अब गाँव में अपनों के मध्य वापिस जाए तो कैसे जाए! कल बच्चों की फीस जानी है इसलिए और भी अधिक समस्याग्रस्त है। गाँव में संयुक्त परिवार में रहते हुए ऐसी कोई समस्या नहीं थी।

फीस देने के बाद उनके पास केवल पाँच रुपए बचते हैं, जिनमें परिवार का निर्वाह कठिन है। ¹⁰ नगर में आकर उसने जो सपने देखे थे, वे आज समाप्त होते दिखाई दे रहे हैं। परंतु उसने निराशा की अपेक्षा आशा का आश्रय लिया। पत्नी के परामर्श पर सरकार से ऋण लेकर फैक्ट्री लगा ली। जो नौजल्स वह नौकरी करते हुए फैक्ट्री में बनाता था, वही नौजल्स उसने अपने घर की फैक्ट्री की मशीनों पर बनाने आरंभ कर दिए। सरकार द्वारा उसे टेंडर मिल जाता है और उसके एकल परिवार के समस्त सपने साकार हो जाते हैं। ¹¹

पहले परिवार दो प्रकार के होते थे—मातृसत्तात्मक और पितृसत्तात्मक। परंतु आधुनिक युग में एकल परिवार भी दो प्रकार के होते हैं। पतिसत्तात्मक और पत्नीसत्तात्मक। मधुकांत कृत रेडियो नाटक 'कमाऊ बीवी, घरेलू बाबू' ¹² में पत्नीसत्तात्मक एकल परिवार को उजागर किया गया है। नाटक की नायिका कमला चरणदास की पत्नी है और दोनों का एक पुत्र विजय है। इस एकल परिवार में केवल तीन ही व्यक्ति हैं। सुखी-संपन्न परिवार है परंतु यह पत्नीसत्तात्मक परिवार है। पति का विवाह-पूर्व नाम चरणदास बतरा था और विवाह के पश्चात् चरणदास अरोड़ा अर्थात् पत्नी के गोत्र में परिवर्तित हो गया है। ¹³

पत्नी कार्यालय से घर आती है, तो पति चाय बनाकर देता है और साथ ही यह भी कहता है कि 'थक गई होगी थोड़ा आराम कर लो।' परंतु पत्नी समझती है कि आज इसका कोई स्वार्थ होगा, जो आराम करने को कह रहा है। पत्नी जो सोचती है, वही सत्य होता है। चरणदास कहता है—

'देखो, विजय की मम्मी, वे अपने पड़ोस वाली मिसेज सिन्हा हैं ना! वो अपने पति के लिए एक नीले चैक की बुशर्ट का कपड़ा लाई हैं। क्या प्यारा कपड़ा लाई हैं ... ई जी, मेरी भी तो सारी बुशर्ट फट गई है। इन बुशर्टों में तुम्हारे साथ चलता क्या मैं अच्छा लगता हूँ...?' ¹⁴

पत्नी के दफ़्तर जाने के बाद घर का सारा काम उसे ही करना पड़ता है। यदि कोई काम शेष रह जाता है तो पत्नी उस पर संदेह करती है कि यह पड़ोस में बातें करता रहा होगा इसलिए काम समाप्त नहीं हुआ। फिर पति को पत्नी की डाँट खानी पड़ती है—

- कमला : रहने दो क्यों बेकार के बहाने बना रहे हो, फुर्सत तो तब मिले जब तुम्हारी बातें पूरी हों। पता नहीं, उस सिन्हा के साथ तुम क्या बातें करते रहते हो सारा दिन। नून-तेल-लकड़ी या पड़ोसियों की चुगली से आगे भी कभी बातें होती हैं तुम्हारी!
- चरणदास : आप तो मुझे यूँ ही बदनाम कर रही हो, मैंने तो आज तक उसकी शक्ल तक नहीं देखी ...।
- कमला : वाह-वाह! झूठे बहाने तो कोई तुम मर्दों से सीखे, उसको देखा तक नहीं, तो बताइए सारा काम हुआ क्यों नहीं अब तक? आज हाथ-पाँवों में मेंहदी लगाकर बैठ गए थे ...¹⁵

चरणदास के सामने समस्या यह भी है कि वह पत्नी का नाम लेकर नहीं बोल सकता। चरणदास जब अपनी पत्नी को कमला ... कमला कहकर पुकारता है तो कमला कहती है— 'क्या कमला-कमला लगा रखा है? कोई भले घर की औरत सुन लेगी क्या सोचेगी। कोई अपनी पत्नी का नाम लेकर बोलता है, सारी लाज-शरम उतारकर रख दी।'¹⁶ पत्नी के कार्यालय चले जाने के उपरांत चरणदास अपनी पत्नी व बच्चों के कपड़े धोता है, प्रेस करता है, झाड़ू-पोंछा करता है, रोटी बनाता है और पत्नी के आने से पूर्व ही सब्जी आदि बनाकर रख देता है, ताकि पत्नी के आने पर तुरंत उसको पत्नीव्रता पति की भाँति गरम-गरम रोटियाँ बनाकर खिला सके। परंतु फिर भी कमला उसके काम से खुश नहीं होती और चरणदास को डाँटती रहती है। पति कहता है कि मुझसे तुम्हारी डाँट-फटकार नहीं सुनी जाती, तो कमला कहती है—

- कमला : नहीं सुनी जाती तो पड़े रहो घर में। कुछ काम-धाम तो होता नहीं और नखरे नौ मन के, मिस्टर सिन्हा को देखा है कैसे सारे घर को सँभालकर रखता है।
- चरणदास : मि० सिन्हा को ही ले आओ इस घर में। मैं आज ही अपने मायके चला जाऊँगा। माँ-बाप के पास मेरे नाम की रोटियाँ खत्म नहीं हुई हैं, मैं कल ही चला जाऊँगा। तुम ही सँभालना विजय को भी। जब रोटियाँ बनानी पड़ेंगी ना तो दो दिन में नानी याद आ जाएगी।
- कमला : जाओ, कल के जाते आज ही निकल जाओ। बहुत अकड़ है न अपने मायके की। चार दिन रखने पड़ गए तो आँखों में ढीँड आ जाएगी... मेरा क्या है मैं तो होटल में खाऊँगी और फटकार के सोऊँगी, तुम्हारी रोज़-रोज़ की लड़ाई से तो पीछा छूटेगा।¹⁷

मशीनी युग के व्यस्त जीवन में मनुष्य के पास रक्त-संबंधों के मध्य संपर्क बनाए रखने के लिए भी समय नहीं है, बढ़ती हुई महँगाई में अर्थाभाव के कारण संयुक्त परिवार को चलाने के लिए अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। संयुक्त परिवार में एक ही परिवार के सदस्य, एक छत के नीचे रहते हुए भी, एक-दूसरे से कटे हुए और अजनबी बने हुए जीवन व्यतीत करते हैं। अतः संयुक्त परिवार की संज्ञा नामभर की रह गई है। अब संयुक्त परिवार में रहते हुए आपसी संबंध वैमनस्यपूर्ण और खोखले दिखाई पड़ते हैं, जो किसी कारणवश निर्धन हैं, बेरोज़गार हैं, संयुक्त परिवार में रहते हुए उनका अपमान किया जाता है। डा० हेमराज 'निर्मम'

कृत रेडियो नाटक 'दीवार के आर-पार' ¹⁸ में रामानंद व सतपाल दोनों भाई संयुक्त परिवार में अपनी-अपनी पत्नी व बच्चों-सहित रहते हैं। परंतु सतपाल की पत्नी संयुक्त परिवार में नहीं रहना चाहती, इस कारण ज़मीन-जायदाद का बँटवारा करके दोनों भाई एकल परिवार में रहने लगते हैं। परंतु सतपाल अपने भाई रामानंद से एकल परिवार से अलग होने पर धन के लालच में बेइमानी व चोरबाजारी का धंधा करता है। अब उस पर बड़े भाई का नियंत्रण नहीं है।

एक दिन सतपाल के घर छापा पड़ता है, पुलिस को रुपयों-पैसों के अतिरिक्त चोर-बाजारी का और भी काफ़ी सामान उसके घर से मिलता है। रामानंद की पत्नी बसंती इस पुलिस-छापे से खुश है, क्योंकि वह संयुक्त परिवार में रहना चाहती है और एकल परिवार सतपाल की पत्नी के कारण करना पड़ा था। यदि वह संयुक्त परिवार में रहता तो आज उसके सामने यह समस्या न होती।

सतपाल के पास दो लड़कियाँ विवाह-योग्य हैं। बड़े भाई को अब भी उसकी चिंता है। परंतु बसंती को इस बात की खुशी है कि संयुक्त परिवार को एकल परिवार में परिवर्तित करने के कारण अनेक समस्याएँ आज इसके सामने हैं। बसंती कहती है—

बसंती : जब अलग हुए थे, तब देखा था तमाशा। तुम्हारे इस प्यारे छोटे भाई ने संयुक्त परिवार से अलग होना तब चाहा था, जब हमारी सुभद्रा की शादी थी। इतना ही नहीं, मकान का बँटवारा करते समय नौ हाथ धरती मार गया था।¹⁹

इसी कारण से आज एकल परिवार में रहते हुए सतपाल की सहायता उसके भाई-भाभी भी नहीं कर रहे हैं। कोई भी पत्ता वृक्ष से बिछुड़ने पर दोबारा वृक्ष पर लगकर हरा नहीं हो सकता, वह सूख जाता है। उस पत्ते का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार से एकल परिवार में भी मनुष्य की सामूहिक शक्ति समाप्त हो जाती है और वह कमज़ोर पड़ जाता है।

'जमातो दशमग्रहः' की उक्ति आज के ज़माने में चरितार्थ होती है। परंतु कहीं-कहीं इसके विपरीत 'सास दशमग्रहः' भी यदि कहा जाए तो अनुचित नहीं है। जहाँ सास यह देखती है कि उसकी पुत्री संयुक्त परिवार में रह रही है, उसे वहाँ संयुक्त परिवार के नियंत्रण में रहना पड़ता होगा वहाँ पर अधिक कार्य भी करना पड़ता होगा। इस समस्या के समाधान के लिए वह अपने जामाता को सिखाने और उस पर पुत्र जैसा प्रेम दिखाकर संयुक्त परिवार से एकल परिवार में परिवर्तित करने का मार्ग अपनाती है। इसका प्रयोग वह पूर्ण सावधानी के साथ करती है। डा० हेमराज 'निर्मम' कृत रेडियो नाटक 'अपने लोग' ²⁰ में इसी तरह के एकल परिवार को उजागर किया गया है। नाटक की नायिका सुमन, ससुराल में जाकर अपने पति रमेश के घर संयुक्त परिवार में रहती है। जहाँ उसके दो जेठ-दो जिठानियाँ व उनके बच्चे भी साथ रहते हैं। सुमन के पास कोई बच्चा नहीं है। संयुक्त परिवार में उसे घर का बहुत अधिक काम करना पड़ता है, अतः वह अपना एकल परिवार चाहती है। पति से वह कह नहीं सकती, अतः अपनी माँ से इस बात की शिकायत करती है। सुमन की माँ ने बेटी को ससुराल की समस्याओं से मुक्त करवाने के लिए उसका एकल परिवार बनाने का दृढ़ निश्चय कर अपने जमाई को अप्रत्यक्ष रूप से सिखाना आरंभ कर दिया। सुमन की माँ रमेश से कहती है—

मम्मी : रमेश बेटा, मैं बेटे और दामाद में कोई अंतर नहीं समझती। तुम्हें ममता की ज़रूरत है। लगता है, तुम्हारी भाभियाँ तुम्हारा ज़रा भी ध्यान नहीं रखतीं।

- रमेश : ध्यान रखती हैं।
 मम्मी : अगर वे ध्यान रखती हैं तो तुम्हारे चेहरे की लाली उड़ न जाती।
 सुमन : ऊपर से यह कुछ भी कहें, पर मैं जानती हूँ कि उगाही करके जब लौटते हैं तो इनके दिल की धड़कनें बहुत तेज़ होती हैं।
 मम्मी : बेटा, ऐसे काम से क्या फायदा, जिसमें प्राण ही संकट में पड़े रहें। दो रोटियों के लिए इतनी मुसीबत मोल लेना उचित नहीं।
 सुमन : मम्मी, भगवान की कृपा से लाखों का कारोबार है। मेरे ससुर जी ने एक ग़लती की। बँटवारा नहीं कर गए। इसलिए अब मैं इनसे कह रही हूँ कि बँटवारा कर लो और यहीं कारोबार शुरू कर लो।²¹

सुमन की मम्मी के 'मैं बटे और दामाद में कोई अंतर नहीं समझती' का वाक्य रमेश के मन को आंतरिक रूप से छूने के लिए पहला क़दम था, दूसरा 'तुम्हें ममता की ज़रूरत है।' अर्थात् रमेश के माता-पिता का स्वर्गवास हो चुका है और भाभियाँ भला ममता कहाँ से दे सकती हैं! वह ममता तो केवल सास से ही मिल सकती है। यदि रमेश सास के पास रहे तो चेहरे की जो लाली भाभियों के कारण समाप्त हो चुकी है, उसे सास वापस ला सकती है। सास के प्रत्येक वाक्य का एक-एक शब्द रमेश के मन को छू जाता है और वह सास की ममता में रहकर संयुक्त परिवार से अलग होकर एकल परिवार के रूप में अपना व्यापार आरंभ कर देता है।

संयुक्त परिवार में व्यक्ति हर पल मर्यादा में बँधा रहता है। परिवार के मुखिया की इच्छा की अवहेलना कोई भी सदस्य नहीं कर सकता। संयुक्त परिवार में स्त्रियों की स्वतंत्र इच्छा का कोई मूल्य नहीं होता। क्योंकि उनके ऊपर सदैव सास-ससुर का अंकुश रहता है या वे गृह-कार्यों के बोझ से दबी रहती हैं। परंतु क्या एकल परिवार में यह संभव है? यह परिवार की आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। पूरनचंद पांडेय कृत नाटक 'क्या सजा होगी'²² में ऐसे ही एकल परिवार का चित्रण किया गया है।

'क्या सजा होगी' का मुख्य पात्र प्रवीनकुमार प्राथमिक पाठशाला में अध्यापक है। वह गाँव में अपने संयुक्त परिवार में माता-पिता, भाई-बहनों के साथ सभी समस्याओं से दूर रहता था। परंतु प्रवीन की पत्नी माधवी संयुक्त परिवार में न रहकर अलग रहना चाहती है। प्रवीन अपनी पत्नी को लेकर शहर आ जाता है। वह किराए के एक मकान में रहने लगता है। शहर में आकर अब उसे अपने वेतन में से मकान का किराया भी देना पड़ता है। सब्ज़ी आदि की जो सुविधाएँ गाँव में निःशुल्क थीं, आज वही वस्तुएँ उसे अधिक मूल्य चुकाकर शहर में ख़रीदनी पड़ रही हैं। परिणामतः मकान का किराया भी वह दो महीने से नहीं दे सका है।²³

संयुक्त परिवार में घर की दाल-रोटी की चिंता परिवार के मुखिया को होती है, परंतु एकल परिवार में यह जिम्मेवारी व्यक्ति की ही होती है। जिस प्रवीन को संयुक्त परिवार में कभी यह पता नहीं चला कि आटा कहाँ से आता है, कब आना है, दाल-सब्ज़ी कहाँ से आती है, कब आती है, आज उसकी पत्नी माधवी के कारण ये सब समस्या के कारण बने हुए हैं।²⁴ इस प्रकार संयुक्त परिवार से अलग होकर एकल परिवार में जहाँ व्यक्ति सुख-शांति की खोज करता है, वहीं उसे सुख शांति के साथ-साथ परिवार की अनेक समस्याओं का बोझ भी ढोना पड़ता है।

आकाशवाणी रोहतक से प्रसारित हिंदी रेडियो नाटक 'जैसी करनी वैसी भरनी'²⁵ में

संयुक्त परिवार से विलग हुए अजय व उसकी पत्नी जानकी के एकल परिवार की समस्याओं का चित्रण किया गया है। अजय अपनी पत्नी जानकी व बच्चों को लेकर माता-पिता से अलग होकर अलग घर में एकल परिवार में रहता है। एक दिन किसी कारणवश दूसरे घर में आग लग जाने के कारण अजय के माता-पिता की मृत्यु हो जाती है। अजय सोचता है कि अगर वह उनका दाह-संस्कार करेगा तो बेकार में ही उसका खर्चा होगा, क्योंकि वह अब इनसे अलग रहता है इसलिए वह दोनों शवों को रात के अँधेरे में नदी में डाल आता है और इसे ही अपने कर्त्तव्य की पूर्ति करता है।

डा० हरिशरण वर्मा के रेडियो नाटक 'सबक' ²⁶ में हरि व मीना एकल परिवार में रहते हैं। दोनों ही कमाते हैं। इनके पास एक बेटा अजय है, जिसे वे अच्छी शिक्षा देकर बड़ा आदमी बनाना चाहते हैं। दोनों ही प्रातः अपने-अपने काम पर निकल जाते हैं और सायंकाल को काम से वापिस आते हैं। इसी भाग-दौड़ के कारण वे अपने एकमात्र बेटे पर कोई ध्यान नहीं दे पाते कि वह कुछ पढ़ता-लिखता भी है या नहीं। अजय उनकी इस व्यस्तता का पूरा लाभ उठाता है और किसी-न-किसी बहाने पैसे लेकर मित्रों में उड़ा देता है। जब माता-पिता के पास पैसे खत्म हो जाते हैं तो वे ऋण लेकर उसकी शिक्षा के लिए पैसे का प्रबंध करते हैं। हरि अपने समस्याओं को अपने बेटे से छिपाता है, परंतु बेटे की प्रत्येक इच्छा पूरी करता है। ²⁷

अजय झूठ बोलकर पिता से पैसे लेता रहता है और पिता भी पुत्र पर विश्वास करके पैसे का प्रबंध करके देता रहता है। पैसे को वह अपने मित्रों के साथ अपने दुष्कर्मों में नष्ट कर देता है। परंतु का अजय का एक मित्र रमेश उसे इस दुष्कर्म से बचाना चाहता है। एक दिन अजय के पिता बीमार पड़ जाते हैं। उपचार के लिए घर में पैसा नहीं है। अजय अपने मित्रों से पैसा उधार माँगने के लिए जाता है, लेकिन जिन मित्रों पर वह पैसा पानी की तरह खर्च करता था, आज उन सभी ने उसकी सहायता करने से इंकार कर दिया। उसका एक सहपाठी राजेश, जिसके साथ उसने सदैव अनुचित व्यवहार किया था, उसकी सहायता करता है और भविष्य में कुमार्ग को छोड़कर सद्मार्ग पर चलने का परामर्श देता है। ²⁸

अजय अपने पिता का उपचार करवाता है और माता-पिता द्वारा किए गए विश्वास पर ही भविष्य में जीवन को सफल बनाने की प्रतिज्ञा करता है, जिससे कि उनका एकल परिवार सुखी-संपन्न बन जाता है।

एकल परिवार का अर्थ है पति-पत्नी और दो-तीन बच्चे। लेकिन कुछ व्यक्ति एकल परिवार का अर्थ निकालते हैं, संयुक्त परिवार से अलग होकर पति-पत्नी और मन चाहे बच्चे। परंतु इस प्रकार के व्यक्ति अपने एकल परिवार की स्थिति संयुक्त परिवार से भी बदतर बना लेते हैं। डा० हरिशरण वर्मा कृत रेडियो नाटक 'छोटी सी भूल' ²⁹ में इसी प्रकार के एकल परिवार को उजागर किया गया है। छोटी सी भूल में बैंक क्लर्क रामचरण अपने संयुक्त परिवार से अलग एकल परिवार में रहता है। उसके साथ उसकी पत्नी के अतिरिक्त सात बेटियाँ भी हैं, क्योंकि पुत्ररत्न प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए हर वर्ष पुत्र की कामना में एक पुत्री की वृद्धि अपने परिवार में करता है। लिपिक की कम आय के कारण वह अपनी लड़कियों की इच्छापूर्ति नहीं कर पाता।

सुधा सबसे बड़ी बेटी है, अब उसका विवाह भी करना है। सुधा अपने सहपाठी दीपक से प्रेम करती है और उसी से विवाह करना चाहती है। वह जमींदार प्रवीन का इकलौता पुत्र है। परंतु वह दहेज के रूप में डेढ़ लाख रुपए की माँग करता है, जो रामचरण की शक्ति के

बाहर है। एकल परिवार में रहने के कारण बाकी भाई आदि भी उसकी कोई सहायता नहीं करते। इसलिए वह बैंक के धन को ले जा रही वैन को लूटता है और दहेज में टीके के रूप में वह लूटे हुए रूप देता है। परंतु वह पकड़ा जाता है और जज के सम्मुख अपना ब्यान देता है—

रामचरन : हाँ, जज साहब। अपनी संतान की खुशी के लिए कोई दूसरा रास्ता दिखाई नहीं दे रहा था। सात बेटियाँ एक के बाद एक शादी लायक होती जा रहीं थी और मेरे पास शादी के दहेज का भी चारा नहीं था।³⁰

आज संयुक्त परिवार से जो एकल परिवार बनते जा रहे हैं, उनका उद्देश्य है अपना व अपने बच्चों का हर क्षेत्र में विकास करना, परंतु इस एकल परिवार में आज अनेक समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं।

एकल परिवार में जहाँ व्यक्ति परिवार की सुख-शांति की खोज करता है, वहीं पर परिवार के मुखिया के स्वर्गवास होने पर समस्याओं का सामना भी करना पड़ता है और उन समस्याओं का सामना करते-करते अनेक परिस्थितियों में एकल परिवार का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। मधुकांत कृत रोडियो नाटक 'हरे काँटे पीले गुलाब'³¹ में एकल परिवार की इसी समस्या को उजागर किया गया है। नाटक का नायक गगन है और नायिका रक्षा तथा नायक की बहन सुलेखा व माँ नाटक के मुख्य पात्र हैं। इस एकल परिवार में माँ, पुत्र गगन व पुत्री सुलेखा परिवार के सदस्य हैं। गगन के पिता को ईमानदारी से कार्य करने के कारण सजा होती है और फिर स्वर्गवास। गगन भी यही प्रतिज्ञा करता है कि अपने पिता के मार्ग पर ही चलकर ईमानदारी से कार्य करेगा। शिक्षा के क्षेत्र में वह प्रत्येक कक्षा में प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण होता रहा है। परंतु नौकरी प्राप्त करने के लिए सिफ़ारिश व रिश्त की माँग के कारण नौकरी भी प्राप्त करने में असमर्थ है। माँ व सुलेखा के द्वारा सिलाई करके व दरियाँ आदि बुनकर उसको पढ़ाया जा रहा है। गगन की प्रेमिका रक्षा, जो उसकी सहपाठी भी है, उसे समझाने का प्रयास करती है कि आधुनिक युग में सच्चाई व ईमानदारी काम नहीं आती। परंतु गगन अपने निर्णय पर अटल है। रक्षा का पिता आयकर अधिकारी है, अतः पिता से कहकर वह उसे उन्हीं के कार्यालय में लिपिक के पद पर लगवा देती है। परंतु पिता का साया न होने के कारण उसका मार्गदर्शन करनेवाला परिवार में कोई नहीं है। अतः वह रिश्त के आरोप में पुलिस द्वारा पकड़ा जाता है, परिणामतः उसकी प्रेमिका उसे छोड़कर अपने घर चली जाती है।³²

सुलेखा अपने भाई गगन पर पूर्ण विश्वास रखती थी कि वह नौकरी पर लग जाने के उपरांत अपनी बहन को हँसी-खुशी ससुराल के लिए विदा करेगा, परंतु आज बहन का भी गगन से विश्वास हट गया है। वह भी एक पत्र छोड़कर घर से चली जाती है—

गगन : (चिट्ठी पढ़ने लगता है, गगन के स्वर में) गगन भइया, मैं इस घर को छोड़कर जा रही हूँ, (सुलेखा के स्वर में) एक दिन तो मुझे जाना ही था। अपने आदर्शों के लिए पिता जी मुझे डोली में न बैठा सके। शायद उन्हीं को पीटते हुए तुम भी मेरे हाथ पीले नहीं कर पाओगे। इसलिए मैंने ही अपनी हथेली पर मेंहदी रचाने का फैसला कर लिया है।³³

गगन के कारण माँ भी बीमार है, क्योंकि उसके सिर से पति का साया तो पहले ही उठ चुका था और पुत्र भी परिवार को चलाने में असमर्थ हो रहा है। इसी गम में वह भी संसार छोड़कर जा रही है।³⁴

अब परिवार के नाम पर मकान की चार-दीवारी और उसमें अकेला गगन रह जाता है। यदि वह संयुक्त परिवार में होता, तो आज इस परिवार के सम्मुख ये समस्याएँ न आतीं।

आधुनिक एकल परिवारों में पति-पत्नी एकाधिकार की भावना से पीड़ित हैं। जब पति-पत्नी दोनों की जीवनदृष्टियाँ भिन्न हों और दोनों ही अपने-अपने ढंग से परिवार को चलाना चाहते हों, तो एकल परिवार का वातावरण कलहपूर्ण बन जाता है। पति-पत्नी की क्रमशः आदर्शवाद और धनलोलुपता के विरुद्ध विचारधाराओं और क्रियाओं के कारण दोनों की स्थितियाँ शोचनीय हो जाती हैं। डा० साधना वर्मा के रेडियो नाटक 'साजिश' में एकल परिवार में पत्नी की लोलुपता को उजागर किया गया है। महेश शर्मा एक कार्यालय में हैड क्लर्क है, कृष्णा उसकी पत्नी है। इसके अतिरिक्त उनके एक बेटा हरीश, एक बेटी अर्चना और हरीश की पत्नी संध्या अर्थात् पाँच व्यक्तियों का यह एकल परिवार सुखी और मध्यम श्रेणी का परिवार है। पुत्री अर्चना विवाह-योग्य हो गई है। उसे रिश्ते के लिए दीवान साहब व उनका बेटा सुनील देखने के लिए आते हैं। दीवान साहब तीन लाख की शादी की माँग करते हैं, जबकि सुनील को लड़की पसंद है। फिर भी वे अपनी हैसियत के अनुसार अच्छी शादी चाहते हैं। जबकि महेश शर्मा दो लाख में शादी करना चाहते हैं, क्योंकि उनके पास केवल दो लाख ही हैं। परंतु कृष्णा अपनी पुत्री के विवाह में तीन लाख से भी अधिक धन खर्च करना चाहती है, जिससे कि उसकी बेटी ससुराल में आराम से रहे। परंतु वह धन कहाँ से आए। वह एक योजना बनाती है कि संध्या की हत्या कर दी जाए और हरीश का दूसरा विवाह कर दिया जाए, जो धन व सामान हरीश के दूसरे विवाह में आएगा, वह अर्चना की ससुराल में दहेज के रूप में दे दिया जाएगा। परंतु महेश ऐसा मानता है कि यह समस्या का समाधान नहीं है इसलिए वह अपनी पत्नी से मना करता है।³⁵

कृष्णा यह भी जानती है कि बहू संध्या उनकी कितनी सेवा करती है और प्रातः पाँच बजे हमारे लिए बिस्तर पर चाय लाती है। इसलिए उसने रात्रि को ही गैस का सिलेंडर खोल दिया और रसोई का दरवाजा बंद कर दिया। परंतु उस दिन बहू की जगह उनकी पुत्री अर्चना रसोई में जाकर चाय बनाती है, जिससे कि रसोई में आग लग जाती है। अर्चना जोर-जोर से बचाओ-बचाओ की आवाज़ लगाती है। संध्या उसे जाकर बचाती है तथा महेश कृष्णा से कहता है—

महेश : कृष्णा सुनो तो, कोई चिल्ला रहा है, लगता है कोई दुर्घटना हो गई।

कृष्णा : चुपचाप सोए रहो, उठो मत। कुछ ही देर में मर जाएगी।

महेश : कौन मर जाएगी, तुम नींद में क्या बड़बड़ा रही हो। देखो कोई जोर-जोर से बचाओ-बचाओ की आवाज़ लगा रहा है और कहीं से जलने की बदबू भी आ रही है।

कृष्णा : अरे बहू दम तोड़ देगी और कौन।'³⁶

परंतु महेश बताता है कि यह आवाज़ संध्या की नहीं, अर्चना की है। वे दोनों तुरंत कमरा खोलकर देखते हैं तो अर्चना जल रही है, मौत से लड़ रही है और संध्या उसे यमराज के मुँह में से निकालने का प्रयास कर रही है। जिस बेटी के लिए वह अपनी बहू को मारकर दूसरी शादी करके दहेज एकत्र करना चाहती थी, आज वही बेटी उसकी धनलोलुपता के कारण जीवन और मौत से लड़ रही है। जब अर्चना के लिए रक्त की आवश्यकता होती है, तो वह बहू संध्या अर्चना को रक्तदान भी करती है और अर्चना बच जाती है।

संदर्भ

1. डा. जयनाथ नलिन, निशांत (आलोक), पृ. 25
2. वही, पृ. 91
3. डा. हेमराज 'निर्मम', अंतिम फैसला, पृ. 23-35
4. वही, पृ. 30
5. डा. हेमराज 'निर्मम', एक मुट्ठी भर सुख, पृ. 91-110
6. कृष्ण मानव, रेत का समुंदर, पृ. 11-30
7. वही, पृ. 26
8. वही, पृ. 26
9. कृष्ण मानव, अमावस के सितारे, पृ. 24-40
10. वही, पृ. 35
11. वही, पृ. 40
12. मधुकांत, कमाऊ बीवी, घरेलू बाबू, पृ. 53-60
13. वही, पृ. 55
14. वही, पृ. 57
15. वही, पृ. 56
16. वही, पृ. 56
17. वही, पृ. 59
18. डा. हेमराज 'निर्मम', दीवार के आर-पार, पृ. 87-114
19. वही, पृ. 116
20. वही, पृ. 55-70
21. वही, पृ. 67
22. पूरनचंद पांडेय, क्या सजा होगी, पृ. 32-36 (हरिगंधा, सितंबर-अक्टूबर 1993)
23. वही, पृ. 33
24. वही, पृ. 33
25. पूरनचंद पांडेय, जैसी करनी वैसी भरनी, पृ. 138-148
26. डा. हरिशरण वर्मा, सबक, पृ. 1-15, टंकित प्रति
27. वही, पृ. 2, टंकित प्रति
28. वही, पृ. 15, टंकित प्रति
29. डा. हरिशरण वर्मा, छोटी सी भूल, पृ. 52-60 हरिगंधा, जनवरी-फरवरी, 1986
30. वही, पृ. 59
31. मधुकांत, हरे काँटे पीले गुलाब, पृ. 87-111
32. वही, पृ. 110
33. वही, पृ. 110
34. वही, पृ. 111
35. डा. साधना वर्मा, साजिश, पृ. 19
36. वही, पृ. 20

□ मंगोलपुर खुर्द, दिल्ली

रीतिस्वच्छंद कवि आजम की भक्ति-भावना

जया मिश्रा

हिंदी-साहित्य में सन् 1643 ई. से सन् 1843 ई. तक के काल को रीतिकाल के नाम से जाना जाता है। रीतिकाल के कवियों के प्रायः तीन भेद किए गए हैं— रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध तथा रीतिमुक्त। रीतिबद्ध कवियों के अंतर्गत केशव, भूषण, चिंतामणि, महाराज जसवंतसिंह, कुलपति मिश्र, कविवर देव तथा भिखारीदास प्रमुख हैं। रीतिसिद्ध कवियों में एकमात्र बिहारीलाल को ही स्थान प्राप्त है। ये रीतिशास्त्र में पूर्ण पारंगत थे, पर उससे बँधे नहीं थे, बल्कि बिहारी ही 'रीति' पर हावी थे। घनानंद, आलम, बोधा, ठाकुर, आलम रीतिमुक्त कवियों में आते हैं।

आलम प्रायः श्रृंगार के कवि माने जाते हैं। उन्होंने श्रृंगाररस से परिपूर्ण अनेक छंदों की रचना की है, किंतु उनके द्वारा रचित 'आलम-ग्रंथावली' में स्थान-स्थान पर भक्तिरस से पूर्ण छंदों के दर्शन भी हो जाते हैं। आलम-केलि, माधवानल-कामकंदला, स्याम-स्नेही तथा सुदामा-चरित्र में उन्होंने अनेक छंदों की रचना की है, जो भक्तिरस से परिपूर्ण है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल आलम की काव्य-रचना के संबंध में लिखते हैं— 'आलम रीतिबद्ध रचना करनेवाले कवि नहीं थे। ये प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे। इसी से इनकी रचनाओं में हृदयतत्त्व की प्रधानता है। 'प्रेम की पीर' या 'इश्क का दर्द' इनके एक-एक वाक्य में भरा पाया जाता है। उत्प्रेक्षाएँ भी इन्होंने बड़ी अनूठी और बहुत कही है। शब्द-वैचित्र्य, अनुप्रास आदि की प्रवृत्ति इनमें विशेष रूप से कहीं नहीं पाई जाती। श्रृंगाररस की ऐसी उन्मादमयी उक्तियाँ इनकी रचना में मिलती हैं कि पढ़ने और सुननेवाले लीन हो जाते हैं। यह तन्मयता सच्ची उमंग में ही संभव है।'¹

आलम रीतिमुक्त कवि हैं। उनकी स्वच्छंद मनोवृत्ति न तो भक्त कवियों से मेल खाती है और न रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों से वे आस्तिक या धार्मिक आस्थावान व्यक्ति व कवि थे। इसलिए उनके काव्य में भारतीय धार्मिकता का आधार भक्तिभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है—

राम रमापति विष्णु सुकेशव कृष्ण गोपाल गुबरधनधारी।
नादर सबके सिर पर साहब सुंदर तन घनस्याम मुरारी।
सूरत ख़ूब अजायब मूरत आलम का महबूब बिहारी।
जगमग जगै जमाल जगत में हिलमिल दिल कीजै बलिहारी।²

प्रायः कृष्ण-भक्ति का आधार गोपी, यशोदा, कृष्ण का बाल रूप उनके प्रति विनय का भाव तथा भ्रमरगीत इत्यादि है। भगवान के प्रति उनकी अगाध आस्था ठीक वैसे ही है, जैसे

सूर-तुलसी इत्यादि भक्तिकालीन कवियों में मिलती है।

सेजु सुखासन हेम हीर पर चीर बिबिध बर,
निरखि निरखि मन मुदित होत निज सुख संपति पर।
आपु बनै बनिता बनाइ बिलसत बिलास अति,
जग रक्षक जगदीस सो जु भूल्यो जु अलप मति।
अजहूँ सँभारि 'आलम' सुकवि, जौ लौ अंतप नहिं,
पग डगमगात हेरत हँसत, बिरह भुअंगम को डस्यो।³

कवि की ये चेतावनी उसका आत्मालोचन उन्हीं के साथ-साथ जनसामान्य के लिए विशेष उपदेश भी है, जो संसार के रक्षक जगदीश को भूल जाता है, वह अल्पमति है। उसे सँभल जाना चाहिए। प्रभु की भक्ति करने में ही उसका कल्याण है। इसी प्रकार राधा के महत्त्व का वर्णन करते हुए कवि ने शांतरस शीर्षक में लिखा है—

अति पतंग मृग मीन दीन छवि छीन नलिन पुनि।
गज बाजी कुंदनहि हम सारस कदली गुनि।
कोकिल करि कपोत कुंद जो पटतर भाषहिं।
हौं क्यों यहि बिधि कहौ बुद्धि अनचाहत नाषहिं।
वृषभानुसुता सम कहन कहँ, 'आलम' त्रिभुवन में जु कछु।
यह मन बच क्रम कै जानि यहु कहि कहिबी सो सबै तुछ।⁴

भगवान की सगुणलीला के पाँच प्रमुख आधार हैं—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। 'इनमें से शांतरस में तो न लीला के लिए अवकाश है और न चरित्र के लिए यह रस उन लोगों को आस्वादित होता है, जो ज्ञाननिष्ठ हैं और जिनमें यह इच्छा से भगवद्भक्ति उत्पन्न हो गई है। ज्ञाननिष्ठ पात्र में आधारित होने के कारण यह रति भगवद्स्वरूप के आस्वाद में ही तृप्त रहती है।'⁵

कविवर आलम ने भँवरगीत कवियों की भाँति ही भँवरगीत की रचना करके निर्गुण का खंडन और सगुण का मंडन किया है। एक स्थान पर गोपियाँ उद्धव के निर्गुण ब्रह्म की उपासना-पद्धति को अपने लिए निरर्थक मानती हैं—

'कर्म को बियापी को है धर्म कै समाधि ध्यावै,
श्रम के सुनावै सु तौ ब्रह्म ही के नाम को।
कैसो जोग जुगति, संजोग कैसो, कहा जोग,
ज्ञानहु की गाँठि कैसी ध्यानन को धाम को।
'आलम' सुकवि इहाँ वृंदावन चंद कान्ह,
चित ये चकोर कहौ आन बिसराम को।
जहाँ रस परस सरस मुरली की घोर
तहाँ ऊधौ सगुन निगुन कौन काम को।'⁶

गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधौ! कर्मों का आच्छादक धर्म क्या है? तथा समाधिस्थ होकर ध्यान लगाना और आराधना करना क्या होता है? इसे हम नहीं जानतीं। अति श्रमपूर्वक

जिस ब्रह्म के नाम की चर्चाएँ तुम सुना रहे हो, उससे भी हम अपरिचित हैं। योग की युक्तियाँ कैसी होती हैं, जिसे तुम संयोग का नाम दे रहे हो, वह कैसा है? और योग कैसा है? इससे भी हम अनभिज्ञ हैं। ज्ञान की गठरी और ध्यान के धाम से भी हमारा कोई वास्ता नहीं है। कविवर आलम का कथन है कि हमारे लिए तो कन्हैया ही वृंदावन के चंद्रमा हैं और हमारे चित्त उन्हीं के चकोर हैं। अब तुम ही बताओ कि हम चकोरियों के लिए वृंदावन चंद्र कन्हैया के बिना अन्यत्र कहाँ विश्राम है? हे उद्धव! हमें अपने कन्हैया का प्रेम-भरा स्पर्श और उनकी मुरली का नाद ही वांछनीय है। ऐसी स्थिति में तुम्हारा सगुण अथवा निर्गुण का विवाद हमारे लिए निष्प्रयोजन है। जब उपास्य अपने उपासक को अपने दर्शनों से वंचित रखते हैं तो उपासक की दशा अत्यंत दयनीय हो जाती है। गोपी विरह में आलम कवि ने गोपियों की इसी दशा का चित्रण किया है। इस खंड का एक उदाहरण देखिए—

रजनी उज्यारी ह्वै रहति जग या ते नभ,
ज्वाल पुंज अगिनि जरति एते मान है।
सुधास्त्रई सीतल है सुभग सरूप जाको,
सकल संसार जानै सु तौ ससि आन है।
एक परतीति मन आवै कबि आलम 'सु'
बिनु हरि कछु विपरीति की उठान है।
बिधु गिलि बैठो सु बदन बिधु चाहै मेरो,
बिधु नहीं आली री बिधु तु मेरे जान है।⁷

विरह-वेदना से व्याकुल गोपी को चंद्र-ज्योत्स्ना अग्नि-पुंज के समान दाहक प्रतीत होती है। गोपी को ऐसा लगता है जैसे आकाश में प्रकाश प्रकीर्ण करनेवाला यह उपादान चंद्रमा न होकर राहु है। यशोदा जी कृष्ण की धाय माँ हैं। कृष्ण जोकि सृष्टि पालनकर्ता हैं, उनके प्रति माता यशोदा की भक्ति वात्सल्य भाव के रूप में आई है। जब नंद बाबा कृष्ण और बलराम को मथुरा से वापस लाने में असमर्थ हो गए तो उन्हें अकेला आया देखकर यशोदा जी का धैर्य छूट गया और वे अपने प्रिय पति को उपालंभ देने लगीं। यहाँ पशु-पक्षियों के वात्सल्य का हवाला देकर यशोदा ने मानव कहलाने वाले सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी के वात्सल्य पर तीखा व्यंग्य किया है—

'कपिन को प्रेम देखि छाती साँ लगावें छोना,
बछरू न देखै तौ लौं गैया न पेन्हाति है।
चिरिया की चाह देखि चोंचहू में चारों राखै,
चेटुआ की चाह बिनु सोऊ न अघाति है।
'आलम' कठिन तेरो हियो हौं सराहौं नंद,
चंदहि पिछौड़ों छौंड़ि लायो कारी राति है।
हम निरमोहीं मोहीं बन के पखेरू पसु,
बालक वियोगु कहुँ विपद विहाति है।' ⁸

कवि आलम ने कृष्ण के बालरूप का भी वर्णन करके अपने भक्तिभाव पर प्रकाश

डाला है, जिस प्रकार सूरदास ने अपने पदों में कृष्ण के बालरूप की छवि प्रदर्शित करके अपने भक्तिभाव को स्थान दिया है, उसी प्रकार आलम ने भी आलम ग्रंथावली में कृष्ण के प्रति अपने भक्तिभाव को दिखाया है—

पालने खेलत नंद-ललन छलन बलि,
 गोद लै लै ललना करति मोद गान है।
 'आलम' सुकवि पल-पल मैया पावै सुख,
 पोषति पीयूष सुकरत पयपान है।
 नंद सो कहति नंदरानी हो महर सुत,
 चंद की सी कलनि बढ़तु मेरे जान है।
 आइ देखि आनंद सो प्यारे कान्ह आनन में,
 आन दिन आन घरी आन छबि आन है।⁹

आलम ने कृष्ण के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं के प्रति भी अपनी अगाध निष्ठा प्रदर्शित की है, जिसमें शंकर, देवी दुर्गा, पुरुषोत्तम राम और गणेश की वंदना मुख्य है। भगवान शंकर की स्तुति करते हुए उनकी कृपा और अनासक्ति का निरूपण करते हुए लिखा गया है—

गोरख सुढौरी लिए संभु ताको मत दिए,
 आपुन अकेलो संग गौरी तिहि लोग ना।
 बरूनी विभूति बार-बार लै लै मुख लावै,
 उरहु लगावै पुनि भावै कछु भोग ना।
 अधारी लै धौरें धरी संपत्ति धतूरा भरी,
 वृषभ लै चलै जाए कोऊ ताको सोग ना।
 जटा छिटकाए छबि छोनी में बिछाए छाल,
 बासुकी बिरागी वाकी टेक बैठो जोगना।¹⁰

इस पद में आलम बताते हैं कि नाथ संप्रदाय के वास्तविक प्रवर्तक गोरखनाथ को भगवान शंकर की अनुकंपा प्राप्त हुई और उसी के परिणामस्वरूप उन्हें सुमति मिली। गौरी सहित वे अकेले रहते हैं और कोई समाज उनके साथ नहीं होता। वटवृक्ष की जटाओं की भस्म को वे बार-बार अपने मुख में मलते रहते हैं और उसी भस्म को अपने हृदय में भी लगाते रहते हैं। अन्य वस्तुओं का भोग उन्हें प्रिय प्रतीत नहीं होता है। अधारी और धतूरे से परिपूर्ण पात्र ही उनकी संपत्ति है। अपनी इस संपत्ति को वे अपने निकट रखते हैं। वृषभ भगवान शंकर का वाहन है, जिस पर आरूढ़ होकर वे भ्रमण करते रहते हैं। किसी के गमन से उन्हें खेद नहीं होता है। वे अपनी जटाओं को छिटकाए रखते हैं। भूमि पर बाघंबर बिछाकर और अनासक्त भाव से नागराज वासुकी का सहारा लेकर महायोगी शिव योगी मुद्रा में आसीन रहते हैं। शिव जी की इस स्थिति से कवि की उनके प्रति आस्था तथा भक्ति-भाव का सम्मित परिचय मिल जाता है।

आलम सगुण-मार्ग के उपासक हैं। इसलिए उन्हें हिंदू देवी-देवताओं के रूप तथा उनकी कथाओं का अच्छा ज्ञान था। तुलसीदास राम के उपासक थे। उन्होंने रामचरितमानस में राम की महिमा का वर्णन अनूठे ढंग से किया है। आलम ने भी अपने ग्रंथ 'आलम ग्रंथावली' में

जगह-जगह भगवान राम से जुड़ी कथाओं का वर्णन किया है। इस पद में राम के वन-गमन के उपरांत वात्सल्य से अभिभूत माता कौशल्या वन की कठिनाइयों की कल्पना-मात्र से उद्भिन्न हैं। वे सोचती हैं कि—

‘पसुन में बैतुन परोसी भये पच्छिनि के,
झारन के डार घर-बार करि रहिहैं।
‘सेख’ भूमि डसिहैं कि बिस-बेलि बासिहैं कि,
कुस हैं कि काँसि है कौसल्या काहि कहिहैं।
वन गिरि बेरनि करेरे दुख कैसे करि,
काँवरे कुमार सुकुमार मेरे सहिहैं।
मैले तन कर एक कसैले छाल रूखनि के,
वनफल फोरि छोलि छाल खाइ रहिहैं।¹¹

माता कौशल्या अपने पुत्र और पुत्रवधू के विषय में चिंता करते हुए सोचती हैं कि उन्हें कटीली झाड़ियों के मध्य आश्रय लेना पड़ रहा होगा। वे सोचती हैं कि आज वे उनके पास नहीं हैं, जिन्हें वे माता कहकर अपना कष्ट सुना सकें। मेरे कोमल अंगोंवाले राजकुमार इन कठोर कष्टों को भला कैसे सहन कर पाते होंगे। वे वन के वृक्षों की कसैली छाल को अथवा वन के तिक्त तथा स्वादहीन कठोर फलों को जैसे-तैसे फोड़ते होंगे और अपनी क्षुधा शांत कर लेते होंगे। इसी प्रकार एक अन्य प्रसंग में हनुमान जी के लंका दहन का भी वर्णन आलम ने अपने ग्रंथ में किया है—

जीत गई प्राननि अनीत भई भीति बसि,
बीति गयो औसर बनावै कौन बतिया।
ऊक भई देह बरि चूक है न खहे भई,
हूक बढी पै न बिबि टूक भई छतिया।
‘सेख’ कहि साँस रहिबे की सकुचानि कपि,
कहा कहौ लाजनि कहौगे निलज तिया।
और न कलेस मेरो नाथ रघुनाथ आगे,
भेसु यहै भाखियो सँदेस यहै पतिया।¹²

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रीतिमुक्त कवि होते हुए भी आलम की रचनाओं में ठीक वैसा ही भक्ति-भाव मिलता है, जैसा कि मध्यकालीन भक्त-कवियों में दृष्टिगोचर होता है। आलम प्रेम के चितरे थे और आराध्य के प्रति उनके प्रेम का स्वरूप निश्चित रूप से प्रशंसनीय है। रीतिबद्ध कविता के व्यापक परिवेश में उनका यह प्रयास रीति-स्वच्छन्दता का एक विशेष कारण भी माना जा सकता है।

संदर्भ

1. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० 229
2. आलम ग्रंथावली (सुदामा चरित्र), संपादक विद्यानिवास मिश्र, पृ० 263
3. वही, पृ० 118

4. वही, पृ० 118
5. श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, ललिताचरण गोस्वामी, पृ० 331
6. आलम ग्रंथावली (आलम केलि), संपादक विद्यानिवास मिश्र, पृ० 75
7. वही, पृ० 84
8. वही, पृ० 82
9. वही, पृ० 11
10. वही, पृ० 92
11. वही, पृ० 92
12. वही, पृ० 95

□ द्वारा श्री गोविंद मिश्रा
513, बबलू टैंट हाउस वाली गली, मढ़ीनाथ रोड
बरेली (उ.प्र.)

हिंदी-पत्रकारिता, संचार-क्रांति की वर्तमान स्थिति

श्रीमती मीनू मिश्रा एवं मुकेश कुमार

तकनीकी विकास से संचार के क्षेत्र में अभूतपूर्व परिवर्तन आया है। यह स्वतःसिद्ध है कि इसका सीधा संबंध अंतरिक्ष में उपग्रहों के प्रक्षेपण से है। संचार ने पृथ्वी के साथ-साथ आकाश को भी अपनी परिधि में ले लिया है। जिस 'सूचना-युग' में हम जी रहे हैं, उसमें सूचना प्राप्त करने के त्वरित साधन उपलब्ध हैं। त्वरित सूचना की प्राप्ति अंतरिक्ष-उपग्रहों के द्वारा संभव हुई है। सन् 1957 में विश्व का प्रथम उपग्रह आकाश में भेजा गया था। दिसंबर, 1968 में प्रथम संचार-उपग्रह अंतरिक्ष में भेजा गया था, जिसके द्वारा सूचना-प्रसारण-सुविधा चौबीस घंटे उपलब्ध हो सकी थी। भारतवर्ष में सर्वप्रथम 'आर्यभट्ट' नामक उपग्रह 19 अप्रैल, 1975 को अंतरिक्ष में भेजा गया था। इस प्रकार उपग्रहों के माध्यम से संचार-जगत् में नवीन क्रांति उत्पन्न हो गई थी, संचार-जगत् में अंतरिक्ष-संचार-प्रणाली के कारण समाचारों और चित्रों के संप्रेषण में एक क्रांति-सी आ गई।

आज सूचना-शक्ति का युग है। भूस्थिर उपग्रह संचार-उपग्रह कहलाते हैं। ये प्रसारण में सुविधा देते हैं, जिससे राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय संचार-प्रणाली का विकास होता है। श्री एन.सी. पंत ने सूचना एवं संचार के क्षेत्र में उपग्रहों के उपयोग की तथ्यात्मक जानकारी दी है।¹ थुम्बा भूमध्यरेखीय राकेट प्रक्षेपण केंद्र, 1962, त्रिवेंद्रम स्थित अंतरिक्ष विज्ञान और तकनीकी केंद्र 1965, अहमदाबाद स्थिति प्रायोगिक उपग्रह संचार भू-केंद्र, 1967, आर्यभट्ट 1975, भास्कर प्रथम 1979, प्रथम उपग्रह प्रक्षेपण यान 'एस.एल.वी.-3', 1980, 'एपल' 1981 एवं भास्कर द्वितीय 1981 के कारण भारत विश्व-स्तर पर उभरकर आया। 30 अगस्त, 1983 ई. को बहुउद्देशीय उपग्रह इनसेट-1बी, अमेरिकी अंतरिक्ष शटल 'चैलेंजर' द्वारा प्रक्षेपित हुआ, जिसने मौसम-संबंधी सूचनाएँ दीं तथा संचार-प्रसारण के क्षेत्र में क्रांति कर दी। इनसेट-1बी, अंतरिक्ष विभाग, दूरसंचार विभाग, मौसम विभाग, आकाशवाणी और दूरदर्शन संगठनों का सामूहिक प्रयास है। ये विभाग अपनी आवश्यकता-हेतु उपग्रह का उपयोग करते हैं। इनमें समन्वय बना रहे, इसलिए एक उच्चस्तरीय इन्सेट समन्वय समिति का गठन हुआ।

भारत का दूसरा उपग्रह 'आई.आर.एस.-1' का प्रक्षेपण 17 मार्च, 1988 ई. को सोवियत संघ से हुआ। समुद्र-विज्ञान, मौसम-विज्ञान, मत्स्य-विज्ञान, सूखे और बाढ़ की मॉनीटरिंग, पेट्रोलियम उद्गमों एवं प्राकृतिक संसाधनों-संबंधी सामयिक सूचनाएँ प्राप्त करने के लिए उस उपग्रह का उपयोग हुआ। 22 जुलाई, 1988 ई. को भारत के बहुउद्देशीय उपग्रह इन्सेट-1सी की स्थापना हुई। पृथ्वी पर मौसम की सतत जानकारी, रेडियो के क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय कार्यक्रमों का प्रसारण, पूरे देश में दूरदर्शन-कार्यक्रम का सीधा प्रसारण एवं दूरसंचार-व्यवस्था को विकसित करना ही उसका लक्ष्य था, पर यह समाप्त हो गया था। 'इन्सेट-1डी' का प्रक्षेपण किया गया, जो इस समय कार्य कर रहा है। इसका प्रक्षेपण-स्थान मास्को था। उपग्रह 'एपल' के

माध्यम से 13 अगस्त, 1981 ई. को भारतीय दूरदर्शन के इतिहास में एक अनोखी घटना घटित हुई थी। उस समय इसी उपग्रह के कारण दिल्ली, मुंबई, चेन्नई तथा तीन अन्य महानगरों में हजारों लोगों ने दूरदर्शन पर देखा कि तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी दिल्ली दूरदर्शन के स्टूडियो से अहमदाबाद के स्पेस सेंटर में इकट्ठे हुए वैज्ञानिकों से इस तरह बातचीत कर रही हैं, जैसे एक-दूसरे से प्रत्यक्ष वार्तालाप हो रहा हो। इस दिशा में और अधिक विकास के कार्य नियमित रूप से जारी हैं। वर्तमान में अंतरिक्ष पत्रकारिता का पूर्णरूपेण विकास हो चुका है।

सेटेलाइट द्वारा सुदूर क्षेत्रों की भी जानकारी प्राप्त हो जाती है। ज्ञान-विज्ञान के नए-नए आयाम खुलते जा रहे हैं। समाचार के क्षेत्र में बहुविध विकास हुआ है। किसी एक प्रदेश में तैयार किया जा रहा समाचार-पत्र किसी दूसरे प्रदेश में प्रकाशित होकर 'इन्सेट-बी' के सहारे आ जाता है। समाचार, लेख आदि समाचार-पत्रों में नई-नई टैकनीक द्वारा पलक झपकते ही छप जाते हैं। फोटो ट्रांसमीटर के द्वारा किसी भी देश की खेल आदि की सचित्र सूचना सभी देशों के पत्रों में प्रकाशित होकर आ जाती है।

संचार-क्रांति की नवीनतम उपलब्धियाँ केवल दूरदर्शन आदि तक ही सीमित नहीं रह गई हैं। ये पत्रकारिता के विविध क्षेत्रों में भी दिखाई देती हैं। अब समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं का स्वरूप ही बदल गया है। मुद्रण की भी तकनीक बदल गई है। उपग्रहों के कारण पत्रकारिता-जगत् में ही सर्वाधिक क्रांति आई है। अब अपने देश में उपग्रहों द्वारा अनेक पत्रों का मुद्रण हो रहा है। एक ही पत्र के अनेक संस्करण अलग-अलग नगरों से निरंतर निकल रहे हैं। इलैक्ट्रॉनिक्स क्षेत्र में आशातीत विकास हुआ है। इसीलिए पूरी दुनिया में संवादों का नेटवर्क फैलता चला जा रहा है। पंत जी का कथन दृष्टव्य है— सर्वप्रथम बाहुबल था, उसके बाद भाप की शक्ति। फिर तेल-शक्ति और अब आणविक उपग्रह की शक्ति स्थापित हो चुकी है। नए-नए अद्भुत इलैक्ट्रॉनिक आविष्कारों के परिणामस्वरूप आज विस्मयकारी संचार-उपकरणों का विकास किया जा चुका है। इन्हीं आविष्कारों के फलस्वरूप समाचार-संकलन, संपादन, मुद्रण, प्रति संशोधन और प्रकाशन एवं प्रसारण के क्षेत्र में विचित्र परिवर्तन हो चुके हैं। मुद्रण, संप्रेषण और प्रकाशन के क्षेत्र में हो रहे अनेक नूतन आविष्कारों ने पत्रकारिता के क्षेत्र की काया ही बदल दी है। यह धारणा बिल्कुल गलत साबित हुई कि टी.वी., खासकर न्यूज चैनलों के आने से समाचार-पत्रों के दुर्दिन आ जाएँगे, बल्कि इसके विपरीत हो रहा है। जहाँ टी.वी. कम देखा जा रहा है, वहीं प्रिंट मीडिया की पाठक-संख्या पिछले दो साल में 10 प्रतिशत बढ़ी है; और इस अवधि में प्रिंट मीडिया ने एक करोड़ सत्तर लाख नए पाठकों से नाता जोड़ा है। न्यूज चैनल प्रारंभिक सूचना तो देते हैं, लेकिन उसका ब्यौरा और आगे-पीछे की ख़बर देने का काम अभी भी समाचार-पत्र ही कर रहे हैं।²

साहित्य, फ़िल्म, व्यापार, शिक्षा, फैशन आदि की सूचनाएँ समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य संसाधन बन गई हैं। आज पत्रकारिता का मूल उद्देश्य बहुजन हिताय हो गया है। आज पत्रकारिता निम्नलिखित मानदंडों पर यदि खरी उतरती है, तो उसका भविष्य नूतन सज्जा और संभावनाओं को लेकर उपस्थित होगा। ये मानदंड हैं— पत्रकारिता की सार्थकता, सामाजिक जनमत को प्रतिबिंबित करना, समाज को उचित दिशा-निर्देश देना, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में नई-से-नई जानकारी देना, समाज को मनोरंजन-सामग्री देना। इसके लिए यह भी

आवश्यक है कि पत्रकारिता में सामयिकता और प्रासंगिकता भी हो। उसमें तथ्यों के साथ सत्यता भी होनी चाहिए। पत्रकारिता के इतिहास पर दृष्टिपात करें, तो हमें ज्ञात होता है कि हिंदी पत्र-पत्रिकाओं ने सदा ही जनता-जनार्दन का पथ-प्रदर्शन किया है। 'आज पत्रकारिता समस्त विश्व का दर्पण बनकर हमारे समक्ष सही तस्वीर प्रस्तुत करती है। समस्त समाचार, समाचार-पत्रों में समाए रहते हैं। पत्रकारिता ने मानवता के ज्ञान और चेतना में वृद्धि की है, मूक विचारों को वाणी दी है और स्वप्नों में रंग भरे हैं। यह एक साधारण व्यक्ति के सामर्थ्य से बाहर की चीज़ है कि वह विज्ञान की खोजों और दार्शनिकों के ऊँचे विचारों को आसानी से समझ सके, पर पत्रकारिता ने इसे भी संभव बना दिया है। इसमें गहन-से-गहन विषयों को साधारण भाषा में प्रस्तुत किया जाता है। परिणामस्वरूप सहित्यिकों की ऊँची उड़ान, धर्मगुरुओं का दिव्य ज्ञान, वैज्ञानिकों की गहन खोज और प्रयोग को आकाश से उतारकर सर्वसाधारण के लाभ के लिए धरती पर ला दिया।'³

समाज परिवर्तनशील है। समाज के परिवर्तन को नई दिशा देने का कार्य पत्रकारिता द्वारा हो रहा है। इस परिवर्तन की तीव्रता में बनावटीपन, अति भौतिकतावादी विचार और अपसंस्कृति का बढ़ता हुआ संकट समस्याएँ उत्पन्न करने लगे हैं। अपनी संस्कृति, अपनी विरासत, अपनी अस्मिता को बचाने का कार्य भी अब पत्रकारिता को करना है। पत्रकारिता का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। इससे देश-विदेश की सभी समस्याओं की जानकारी मिलती है। जिन बातों से मानवता प्रभावित हो, राष्ट्रीय भावधारा तथर अखंडता को चोट पहुँचे, उनसे बचने का प्रयास अब नितांत आवश्यक हो गया है।

आज पत्रकारिता का दायित्व निरंतर बढ़ रहा है। इसके अनेक दायित्व हैं—⁴

—समाज को उचित दिशा-निर्देश देना, —ग़रीबी उन्मूलन अभियान, —नवीन आर्थिक योजनाओं का परिचय देना, —सामाजिक कुरीतियों को विश्लेषित करना, —धार्मिक और सांस्कृतिक पहलुओं पर विचार, —राजनीतिक अधिकारों के विषय में सामान्य जनता को सचेत करना, —सरकारी नीतियों का प्रचार-प्रसार, —नई-नई शिक्षानीतियों और उपब्धियों को जनता के बीच ले जाना, —महिला-जगत् से संबंधित समस्याओं का गुण-दोषपरक विवेचन, —बाल-कल्याण कार्यक्रम का परिचय, —परिवार-नियोजन के महत्त्व का विज्ञापन, —विज्ञान की नवीनतम उपलब्धियों को जनता तक पहुँचाना, —दलितोत्थान समस्या का विश्लेषण, —देश की अखंडता की रक्षा और राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाना।

इनके अतिरिक्त भी समाज में व्याप्त अनेक समस्याएँ हैं— जैसे नशाखोरी, राजनीति और शिक्षा के क्षेत्र में फैला भ्रष्टाचार, युवा-विद्रोह, समानाधिकार आदि के बारे में भी आज की पत्रकारिता सचेष्ट है और आवाज़ उठा रही है।

आज के अधिकांश पत्रकार और समीक्षक मानते हैं कि आज की हिंदी दैनिक पत्रकारिता ही असली पत्रकारिता है। वह कल तक की 'मिशनवादी नैतिकता' की कायल नहीं रह गई है। 'इन दिनों हिंदी दैनिक पत्रकारिता ही असली पत्रकारिता है, जो मार्केट मित्र और मार्केट चतुर हो रही है। जो किसी एक विचार की कायल नहीं है।... इन दिनों हिंदी दैनिक पत्रकारिता में एक बार फिर रद्दोबदल होती दिखती है। देखने में आ रहा है कि महानगर केंद्रित हिंदी के अख़बार संकट में हैं, जबकि छोटे नगरों से निकलने वाले अख़बार चिट फंडों तथा वित्तीय संस्थाओं द्वारा निकाले जाते हैं, संपादक के पदों से रहित, सिर्फ़ कार्यकारी संपादकों के बल पर चलनेवाले अख़बार अधिक आगे

बढ़ रहे हैं। उनके बीच भीषण स्पर्धाएँ हैं। नए बाज़ार पर कब्ज़ा करने के लिए मूल्य-हास करने से लेकर नई-नई ग्राहक-योजनाएँ देते हैं, विशिष्ट-परिशिष्ट देते हैं। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान में ऐसे नए अख़बार सामने आ रहे हैं, जो राष्ट्रीय अख़बारों से किसी मायने में कम नहीं दिखते। तकनीक और बढ़ते बाज़ार ने हिंदी-पत्रकारिता को एकदम बदल डाला है। हिंदी-पत्रकारिता 'दीन हीन मलीन' कलेवर वाली नहीं रह गई है और न उसके पत्रकार ही 'दयनीय' दिखते हैं। वे आजकल मारुति-सैलूलर-हवाई जहाज़ से चलनेवाले नए किस्म के तेज़ पत्रकार हैं। हिंदी-पत्रकारिता आज सच्चे मानकों में स्वतंत्र हो रही है, मार्केट चतुर हो रही है और उद्योग बन रही और... अँग्रेज़ी के मुक़ाबले पर है। यह अब 'मिशन' नहीं है, 'प्रोफेशन' है। नए पत्रकारों की एक बड़ी पीढ़ी नई स्थितियों में ऐसी पत्रकारिता कर रही है। हिंदी-पत्रकारिता नए सूचना समाज के एक नए चुनौतीपूर्ण मोड़ पर खड़ी है और उसके लिए निस्संकोच तैयार हो रही है।⁵

आज के कुछ साहित्यकार यह मान रहे हैं कि आज पत्रकारिता पर बहुत बड़ा संकट छाया हुआ है। दुनिया के बदलते परिदृश्य में पत्रकारिता में भी बदलाव आना आवश्यक है, परंतु यह भी सच है कि पत्रकारिता ने ही सैकड़ों साहित्यकारों को यश और प्रतिष्ठा दी है। मीडिया की बदौलत ही अनेक साहित्यकार प्रकाश में आए और प्रतिष्ठित हुए, प्रसिद्धि को प्राप्त हुए। '... इतिहास में पहली बार हिंदी-पत्रकारिता के दिन फिरे हैं। हिंदी-अख़बारों की शकलें बदली हैं। उनकी दीनता दूर हुई है और वे दुनिया के किसी भी अख़बार के मुक़ाबले में खड़े हैं। उन्हें सत्ता और व्यापार के गलियारों में पढ़ा जाता है। उन्हें जनता पढ़ती है। उन्होंने जनता में सूचना की भूख जगाई है। वे एक नया सूचना-समाज बनाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। टी.वी. के बाद उन्होंने अपना कायाकल्प किया है। हज़ारों हिंदी के फ्रीलांस पत्रकार अपनी रोज़ी-रोटी पत्र-पत्रिकाओं में लिखकर कमा रहे हैं। युवा पत्रकार उनमें काम कर रहे हैं। पत्रकारिता अब एक बड़ा उद्योग है और उसे सूचना का व्यवसाय करना आ रहा है। बहुराष्ट्रीय निगम जब आते हैं तो पहले वे हिंदी-अख़बारों और हिंदी-मीडिया की जानकारी चाहते हैं, क्योंकि माल तो उन्हें हिंदी-क्षेत्र में बेचना है। हिंदी-क्षेत्र यानी हिंदीभाषी जनता का क्षेत्र देश की पचास-साठ करोड़ जनता का क्षेत्र है। यह सबसे बड़ा उपभोक्ता-बाज़ार है। यूरोप, अमरीका को मिला दें, तो भी इतना बड़ा बाज़ार नहीं बनता।'⁶

पत्रकारिता पहले मिशन के रूप में थी, अब मैसेज-रूप में है। सूचना की नवीन तकनीक में 'समाचार ही विचार' है। सूचना में विचार समाहित है। पहले विचार अलग होता था, सूचना अलग। इस पर तकनीक ने सूचना का चरित्र बदल डाला है, उसे तीव्रगामी और सार्वभौमिक कर दिया है। वर्तमान समय में विश्वविद्यालयों में साहित्य के अंतर्गत भी और पृथक् रूप में भी 'पत्रकारिता' को भी पाठ्यक्रम में लिया गया है।

हिंदी-पत्रकारिता ने अब तक बहुत प्रगति कर ली है। अब हिंदी केवल साहित्य की या हिंदू-जाति की भाषा नहीं, अब वह भूमंडलीय सूचना-संजाल की भाषा है। 'जो लोग हिंदी-भाषा को 'हिंदी-जाति' (नेशन) और अंततः 'हिंदू-जाति' की 'संपर्क भाषा' के रूप में मानते आए हैं या जो संविधान के उल्लेखों और राजभाषा अधिनियम लागू किए जाने की बातें करते हैं या हिंदी को राष्ट्रीय भाषा घोषित करते-कराते रहे हैं, वे इस परिवर्तन की ताकत को नहीं समझते कि भूमंडलीय सूचना संजाल, उपभोक्तावाद, खुली अर्थव्यवस्था आदि ने

‘हिंदी-भाषीजाति’ को ‘जाति’ की ‘पूर्णता’ प्राप्त करने से पहले ही एक भूमंडलीय नागरिकता दे दी है और उधर भाषा की उपभोक्तावादी प्रक्रिया ने हिंदी-भाषा के प्रति बने हुए उन हठों और प्रतिरोधों को तोड़ दिया है, जो संविधान या अधिनियमों को लागू करने के आग्रहों ने पैदा किए थे। इस नई आर्थिक-सामाजिक संचार-प्रक्रिया ने हिंदी-भाषी जनता को एक अनिवार्य उपभोक्ता ध्रुव बना दिया है, जिसकी जरूरतों की अवहेलना असंभव है और यह सब ‘माँग और पूर्ति’ के नियम से हो रहा है, सरकारी आदेश से नहीं।’⁷

जीवन की प्रक्रिया बदलने के साथ-साथ भाषा भी बदलती है। हिंदी की भी यही स्थिति रही है। श्री सुधीश पचौरी तो यहाँ तक मानते हैं⁸ कि जनसंचार साधनों के बदलने के जरिए भाषा तेजी से बदलती है और यह सदा से होता आया है। इसी क्रम में बाज़ार से जनता का सूचना आदान-प्रदान, विनियम, जनसंचार माध्यमों में सूचना का विनियम भाषा को लगातार बदलता है। भाषा कभी ‘स्थिर’ नहीं होती। किताबों में छपी जो भाषा दिखती है, वह कहने-भर को स्थिर होती है, वरना हर पाठक उसे अपने ढंग से बरता करता है...। जिसे व्याकरण कहा जाता है, वह भी कोई अंतिम ढाँचा नहीं होता। शब्दकोश ही भाषा को कैद करते हैं। वे सहारे होते हैं, बंधन नहीं। इसलिए भाषा हमेशा प्रवाह में ही रहती है, अशुद्ध ही होती है। ‘अशुद्ध’ होना ही उसकी शुद्धता का प्रमाण है, जीवन का प्रमाण है। ज़्यादा शुद्धता के चक्कर में संस्कृत देवताओं की भाषा बनी रह गई अन्यथा अशुद्ध होकर वह आज तक ही हिंदी में जीवित है।... दो ढाई सौ साल पहले जब भारत में प्रिंट मीडिया शुरू हो रहा था और पत्रकारिता बढ़ रही थी, तो हिंदी के पाठक गिनती के ही रहे होंगे। प्रथम विश्वयुद्ध के आसपास हिंदी-पत्रकारिता व्यावसायिक बनी, यानी उसके स्वतंत्र पाठक (ग्राहक) बने। फिर धीरे-धीरे पत्रकारिता बढ़ती गई, हिंदी बढ़ती गई। आज हिंदी यदि देश की सबसे बड़ी भाषा है, तो मीडिया के फैलाव के कारण ही। यदि आज पचास-साठ करोड़ लोग हिंदी बोलते-बरतते हैं, तो हिंदी-मीडिया की वजह से ही बोलते बरतते हैं। अब यह कैसे हो सकता है कि पचास-साठ करोड़ हिंदी बरतने वाले हों और उनकी बोली भाषा में ‘अशुद्धता’ न हो।

उपभोक्ता-क्रांति ग्लोबल बाज़ार की जरूरतों से जुड़ी है, इसलिए मीडिया की भाषा हिंदी में अंग्रेज़ी के अनेक शब्द आ गए हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि यह हिंदी-भाषा साहित्यिक भाषा को अपदस्थ नहीं करती, बल्कि उसे व्यापक पाठक वर्ग भी दे रही है। प्रिंट मीडिया के कारण ही आज हिंदी ‘ग्लोबल भाषा’ है।

कंप्यूटर ने पत्रकारिता-जगत् में अभूतपूर्व क्रांति उपस्थित कर दी है। दूरसंचार-व्यवस्था को सफल बनाने में कंप्यूटर का विशेष हाथ है। कंप्यूटर के कारण ही समाचार-प्रेषण में क्षिप्रता आई है। कंप्यूटर के स्क्रीन पर इलैक्ट्रॉनिक विधि से पेस्टिंग हो रही है तथा पूरा पृष्ठ कैमरा के लिए तैयार हो जाता है। कम लागत में पत्रों के संस्करण शीघ्रतापूर्वक निकलने लगते हैं। कंप्यूटर द्वारा संचालित वीडियो डिस्प्ले इकाइयाँ कार्यरत हैं, जिनसे समाचारों का वर्गीकरण, संपादन और वितरण संभव होता है। प्रेस ट्रस्ट की ‘स्कैन’ सेवा अत्याधुनिक संचार-सेवा है, जिसमें टी.वी. की तरह परदे पर 15-15 पंक्तियों के समाचार प्रत्येक डेढ़ मिनट पर आते-जाते हैं। आजकल वीडियो पत्र-पत्रिकाओं का प्रचलन भी बहुत है। ‘इंडियन बुक हाउस ने वीडियो कैसेट पर एक पत्रिका ‘मूवी वीडियो’ का प्रकाशन सन् 1988 ई. के मार्च महीने में प्रारंभ किया। 15000

वीडियो समाचार-पत्रिकाओं के बाद अब हिंदी बाज़ार में भी वीडियो पत्रकारिता का जन्म हो चुका है। 'कालचक्र' नाम से यह इस प्रकार का प्रथम प्रयास है। इसके निर्माण से विनीत नारायण ने हिंदी वीडियो-पत्रकारिता के क्षेत्र में हलचल मचा दी है।⁹

श्री अर्जुन तिवारी का कथन सटीक प्रतीत होता है¹⁰ कि संप्रेषण, मुद्रण, प्रसारण के क्षेत्र में क्षण-प्रतिक्षण हो रहे आविष्कारों- उपग्रहों, कंप्यूटर बैंकों, लेसर किरणों, अंतर्महाद्विपीय प्रतिकृति ने वस्तुतः पत्रकारिता जगत् में अद्भुत क्रांति मचा दी है। इस द्रुतगामी संचार-व्यवस्था के साथ पत्रकार को कदम-से-कदम मिलाकर चलना पड़ेगा, ताकि 21वीं सदी की आपाधापी और हलचल में उसके रचनात्मक विचार समाज को स्वस्थ दिशा दे सकें। संप्रति संचार-क्रांति के बाद 'सांस्कृतिक आक्रमण', 'वैचारिक आक्रमण' और 'इलैक्ट्रॉनिक आक्रमण' जैसे शब्द प्रचलित हो रहे हैं। अमेरिकी संचार-विशेषज्ञ प्रो. अलबर्ट शिलर ने बीस वर्ष पूर्व ही चेतावनी दी थी कि निकट भविष्य में युद्ध के द्वारा जमीन पर झंडे नहीं गाड़े जाएँगे, अपितु सांस्कृतिक आक्रमण द्वारा देशवासियों के दिलो-दिमाग पर प्रभुत्व स्थापित होगा। 'सूचना ही शक्ति है' और इसका नियंत्रक ही शासक है। वस्तुतः कोई सूचना तटस्थ, निष्पक्ष नहीं होती, वह अपने साथ संप्रेषक के जीवन-मूल्य, उसकी चिंतनधारा, उसकी संस्कृति और राजनीति लेकर आती है। सही-गलत, सत्य-असत्य, सभ्य-असभ्य, गुण-दोष के फ़ैसले सूचना के प्रवाह से ही तय होते हैं। इस सांस्कृतिक और वैचारिक आक्रमण का शिकार, तीसरी दुनिया का वह कुलीन तबका है, जो अपनी बौद्धिक खुराक का स्रोत विदेश में ही पाता है।

इस प्रकार संचार-क्रांति की यह यात्रा बदलते हुए, आगे बढ़ते हुए मानव-जीवन की ही यात्रा है। यह विकास-यात्रा, बौद्धिक, सामाजिक और आर्थिक सरोकारों को लेकर चलनेवाली यात्रा है। संचारक्रांति और हिंदी-पत्रकारिता का यह विकास, वस्तुतः आज के मानव का ही विकास है। सूचना-तंत्र के प्रभाव ने तथा संचार-माध्यमों में आई संचार-क्रांति ने पूरे विश्व को छोटा कर दिया है और मनुष्य और भी अधिक मनुष्य के समीप आ गया है। नई संचार-प्रणाली में नए समाज की भी परिकल्पना है। इसने शिक्षा, साहित्य, मनोरंजन आदि के नए क्षेत्रों की पहचान कराई है तथा विश्व-परिदृश्य को जनमत से जोड़ा है।

संदर्भ

1. पत्रकारिता का इतिहास, एन.सी. पंत, पृ. 259
2. वही, पृ. 261
3. वही, पृ. 266
4. वही, पृ. 268
5. साइबर स्पेस और मीडिया, सुधीश पचौरी, पृ. 61
6. वही, पृ. 215-16
7. वही, पृ. 215-16
8. हिंदी-पत्रकारिता का वृहद् इतिहास, अर्जुन तिवारी, पृ. 430
9. वही, पृ. 436

□ बी.डी.एम.एम. गर्ल्स पी.जी. कालेज
शिकोहाबाद-205135 (उ.प्र.)

हिंदी की वर्तमान साहित्य-पत्रकारिता : संचार-क्रांति और युगीन चेतना कु० अंशुल मलोनिया एवं श्रीमती मीनू मिश्रा

वर्तमान युग संचार-क्रांति का युग है। विगत पूरी शताब्दी सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक क्रांति की प्रबल लहरों से उद्वेलित रही है। क्रांति द्वारा ही चेतना का उदय हुआ और युगीन चेतना को सर्वाधिक गति पत्रकारिता ने ही दी। पत्रकारिता को समाज से विषय-सामग्री मिली, तो समाज को पत्रकारिता से नवीन स्फूर्ति, शक्ति, साहस और प्रेरणा। वस्तुतः पत्रकारिता समाज का दर्पण है। सामाजिक बदलाव पत्रकारिता का प्रथम प्रयोजन है, यह बदलाव क्रांति का वह अंकुर है, जो धीरे-धीरे बोया जाता है तथा जो परंपरा या विरासत को पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी लय में बदलता जाता है। यह मूक परिवर्तन की तरह जब सामने आएगा, तो एक क्रांति की तरह चमकता हुआ, एक चमत्कार की तरह दिखाई देगा। इसी में टूटते जाते हैं सारे भ्रम, सारी बासी हो चुकी मान्यताएँ, फीके पड़ जाते हैं समस्त नैतिक मूल्य। नई परंपरा का विकास ही क्रांति का संवाहक कौशल है।

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में संचार-माध्यमों द्वारा विविधमुखी नवीन क्रांति का सूत्रपात हुआ। भावनाओं, विचारों, अनुभवों, समाचारों, आविष्कारों आदि की जानकारी एवं सामग्री को द्रुतगति से जनसमूह तक संप्रेषित करना संचार-क्रांति का लक्ष्य बना। मानव के लिए जनसंचार के रूप में ऐसी शक्ति का विकास हुआ है, जिनका प्रभाव सर्वोपरि है। अब मानवीय जीवन में संचार-माध्यम महत्त्वपूर्ण बन गए हैं। मानव की प्रगति से संचार-माध्यमों का गहरा संबंध जुड़ गया है। उनकी भूमिका के अनेक रचनात्मक पक्ष मानवीय संवेदनाओं को नवीन सामाजिक सरोकारों से जोड़ रहे हैं।

इस शताब्दी के अंतिम दशकों में संचार-माध्यमों द्वारा नवीन क्रांति का सूत्रपात हुआ। प्रेस और टेलीविजन के विस्तार ने सामाजिक मान्यताओं, सांस्कृतिक मूल्यों, सामाजिक-राजनीतिक चेतना, वैचारिक क्रांति के क्षेत्र में नवीन परिवर्तन का सूत्रपात किया है। एक व्यक्ति या एक स्थान की समस्या आज विश्व की समस्या बन सकती है। समूचे विश्व का घटनाक्रम कहीं की, किसी भी ग्राम या नगर की भी चेतना का हिस्सा बन सकता है। कंप्यूटर ने संचार-क्रांति की गति को नया स्वरूप दिया है। टेलीफोन, टैलेक्स से आगे फैक्स और ई-मेल और इंटरनेट की यात्रा ने इसके विभिन्न आयामों का मार्ग प्रशस्त किया है। साइबर-प्रणाली के उदय ने युद्ध की नवीन पद्धतियों के प्रति मानव-समाज को भ्रयग्रस्त कर दिया है। टेली कंप्यूटिंग की नवीन अवधारणा ने शिक्षा, व्यवसाय आदि क्षेत्रों में नई क्रांति उपस्थित कर दी है। विश्व की अनेक कंपनियों ने अनेक उपभोक्ताओं को ध्वनि एवं दृश्य-संपर्क प्रदान किए हैं। वीडियो-कॉन्फ्रेंस जैसे संचार-सूत्र द्वारा समय, संसाधन की बचत होती है। नई-नई वैज्ञानिक खोजों के द्वारा संचार-क्रांति की गति किस ओर कितनी होगी, यह चिंतनीय है। दूरसंचार माध्यमों के द्वारा हमारी राष्ट्रीय संस्कृति पर जो हमला

हो रहा है, उससे मीडिया और हम सब अनजान हैं। हमारा राष्ट्रीय अस्मिता-बोध नष्ट होता जा रहा है, क्योंकि जितनी तीव्रता से हमें संवाद, समाचार और संदेश मिलने लगे हैं, उतनी ही तीव्रता से उनकी प्रतिक्रियाएँ भी होने लगी हैं। अनास्था, विघटन, अराजकता, संत्रास, कुंठा, घुटन, नैराश्य, अलगाव, भय सर्वत्र व्याप्त होता जा रहा है, जिसकी जिम्मेदार हैं, हमारी पारिवेशिक परिस्थितियाँ, पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव, अतः नवीन और सकारात्मक संचार-क्रांति की अब अत्यंत आवश्यकता है। संचार-क्रांति से सर्वाधिक आघात हमारी संस्कृति को पहुँच रहा है, क्योंकि इसके द्वारा उपभोक्ता संस्कृति को बढ़ावा मिल रहा है। पहले पत्रकारिता सबसे बड़ा संचार-माध्यम थी और वह समाज तथा साहित्य की दशा और दिशा को निर्धारित करने, शोध करने, मूल्यपरक बनाने में सहयोग करती थी, परंतु आज इलैक्ट्रॉनिक मीडिया के बीच उसे बहुत बड़ी प्रतिस्पर्धा से गुजरना पड़ रहा है और उन सब आयामों का सामना करना पड़ रहा है, जो यांत्रिक सभ्यता में व्यापार और आर्थिक संसाधनों को बढ़ावा देते हैं। फिर भी अब हिंदी-पत्रकारिता के 'साइबर स्पेस' में आ जाने से इसके कलेवर को विस्तृत क्षितिज मिल गया है। यह भी निश्चित है कि इक्कीसवीं सदी की हिंदी-पत्रकारिता साइबर स्पेस की ही पत्रकारिता होगी। इस प्रिंट मीडिया का पूरा कलेवर नवीन स्पेस के कारण परिवर्तित हो जाएगा। इंटरनेट के कारण समाचार-पत्र अब एक 'इंटर-एक्टिव' माध्यम बन जाएँगे।

अपने देश की साहित्य-पत्रकारिता का विकास अत्यंत तीव्र गति से हुआ है। भारत की विभिन्न प्रमुख भाषाओं में हिंदी-भाषा की पत्रकारिता ने साहित्य को बीसवीं सदी के प्रत्येक कालखंड में परिवर्तित किया है और नया दिशाबोध दिया है। पत्रकारिता का साहित्य की लगभग सभी विधाओं से सह-संबंध होता है। भाषा के स्वरूप और साहित्य के विकास में पत्रकारिता का अमूल्य योगदान रहा है। आज स्थितियाँ बदल गई हैं।

अब हम भाषा और साहित्य को भी वैश्विक दृष्टि से देख रहे हैं और यांत्रिक विभीषिकाओं का सामना करने को विवश हो रहे हैं। भारतेंदु-युग से स्वाधीनता-प्राप्ति तक की अवधि में पत्रकारिता से हिंदी-भाषा और हिंदी-साहित्य समृद्ध हुए थे, परंतु आज मीडिया पर पश्चिमी सभ्यता के बढ़ते प्रभाव ने हिंदी-भाषा के स्वरूप को विकृत करने का प्रयास किया है। पत्रकारिता ही एक ऐसा संचार-माध्यम है, जो भाषा एवं साहित्य की मूल प्रवृत्ति, प्रकृति और उसके मूल स्वर तथा लक्ष्य को सुरक्षित रखने में सहयोग कर सकता है। सामाजिक संदर्भ में पत्रकारिता और साहित्य दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। समाज से ही उत्प्रेरित होकर पत्रकार संदेश प्रेषित करता है और समाज के ही विविध पक्षों को साहित्यकार लेखनी के माध्यम से उजागर करता है। समाज और मानवता की सेवा-दोनों का लक्ष्य है। समाज में व्याप्त अनाचार, अत्याचार, अन्याय और शोषण को दूर करने का प्रयास दोनों का प्रयोजन है। 'समसामयिक परिवेश से किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक लेखक प्रेरणा ग्रहण करता है, चाहे वह साहित्यकार हो या पत्रकार। दोनों ही लेखक हैं, दोनों ही सर्जनाकार हैं, दोनों के कार्य किन्हीं ऐसे गुणों की अपेक्षा करते हैं, जो दोनों के लिए अपरिहार्य हैं—अनाविल दृष्टि, चिंतन-लेखन में प्रेषणीयता की शक्ति। दोनों देश और काल के आयामों पर अपनी-अपनी विशिष्ट परंपराओं के अतिरिक्त उस संश्लिष्ट सांस्कृतिक परंपरा, उस सामाजिक चेतना-प्रवाह से भी संबद्ध हैं, जिससे उन्हें अपनी बात औरों के प्रति निवेदित करने की प्रेरणा और शक्ति मिलती है। प्रत्येक पत्रकार अंशतः साहित्यकार भी

है, प्रत्येक साहित्यकार अनिवार्यतः पत्रकार भी है।'¹

पत्रकार और साहित्यकार मानवता के पोषण के लिए कटिबद्ध रहते हैं। 'पत्रकार साहित्यकार की भाँति ही हर व्यक्ति के स्वर की गहराई, उसके अंतर्द्वंद्व, उसकी रामत्व और रावणत्व शक्तियों को उचित रूप से नापने-परखने में समर्थ रहता है। अपनी कल्पनाशीलता, भाव-प्रवणता, अनुभूति, विवेक, बुद्धि, तर्क तथा विश्लेषण-क्षमता के कारण पत्रकार और साहित्यकार दूरबीन का काम करते हैं। अत्यधिक संवेदनशीलता और कल्पनाशीलता के कारण कभी-कभी साहित्यकार का पैर धरातल पर नहीं पड़ता है, परंतु पत्रकार तो यथार्थ की दुनिया का यथार्थ अवलोकन एवं अंकन करता है। भावुकता साहित्यकार का अपना गुण होता है, लेकिन पत्रकार तो तात्कालिक यथार्थ को परखता है तथा भविष्य की संभावनाओं को सूचित करता है।'²

पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सामग्री पुस्तकाकार छपकर साहित्य का रूप धारण कर लेती है। पत्रकारिता ने सदैव समाज में साहित्यिक चेतना जगाई है। अपने देश में हिंदी साहित्य का शुभारंभ ही पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ है। पत्र-पत्रिकाएँ साहित्य की प्रवर्तक रही हैं। हिंदी-भाषा और साहित्य के सभी आंदोलन पत्र-पत्रिकाओं से मुखर हुए और समाज तथा साहित्य को दिशा देने में समर्थ हुए। भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, निराला, प्रेमचंद द्वारा संचालित पत्र-पत्रिकाएँ और लिखित स्थाई स्तंभ साहित्य की महत्वपूर्ण सामग्री बन चुके हैं। 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' ने हिंदीभाषा के स्वरूप और प्रचार के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया। उसके पश्चात् 'माधुरी', 'सुधा', 'सरस्वती', 'हंस', 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 'कादम्बनी' आदि ने साहित्य को समृद्ध किया। आज भी अनेक शोध-पत्रिकाएँ— 'भाषा-भारती', 'हिंदी-अनुशीलन', 'शोध-दिशा' आदि हिंदीभाषा और साहित्य की विविध विधाओं को समृद्ध कर रही हैं।

हिंदी में निबन्ध, संस्मरण, आत्मकथा, यात्रावृत्त, गद्यगीत, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, भेंटवाता तथा कविता आदि विधाओं को पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से सर्वाधिक रूप में पढ़ा और सराहा गया है। 'हंस', 'सरस्वती', 'माधुरी', 'सारिका', 'धर्मयुग', 'साहित्य अमृत' के माध्यम से ही शताधिक साहित्यधर्मी और उत्कृष्ट समालोचक हिंदी-जगत में अपने को स्थापित करने में समर्थ रहे हैं। साहित्य की सभी विधाएँ पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से गतिशीलता प्राप्त करती हैं। श्री अर्जुन तिवारी का कथन अत्यंत प्रासंगिक लगता है, 'समाज के विचारों और साहित्य की संवाहिका का ही नाम पत्रकारिता है, जो समाज और साहित्य के इतिहास में अपना एक स्थान तो बना ही लेती है, उसका निर्माण भी करती है। ग्रंथों में समाहित साहित्य से जो संभव नहीं है, वह पत्र-पत्रिकाओं के साहित्य ने कर दिखलाया। स्वतंत्रता से पूर्व के पत्र धर्मयुद्ध के अस्त्र-शस्त्र थे, आंग्ल-शासकों के कोप का भाजन बनकर पत्रों ने समाज को एक दिशा दी। 'यंग इंडिया', 'हरिजन', 'आज', 'स्वेदश', 'कर्मभूमि', 'प्रताप', 'रणभेरी' और 'सेनापति' जैसे असंख्य पत्रों ने भारतीय जनता को प्रभावित किया।'³... पत्रकारिता को साहित्यकार की पहली सीढ़ी कहा गया है। प्रारंभ में साहित्यकार पत्रकारिता में लगा रहता है, अपनी फुटकर रचनाएँ पत्रों में प्रकाशित करवाता है। आलोचना, समालोचना एवं पुरस्कार-प्राप्ति से उसका मनोबल बढ़ता है तथा वह साहित्य-सृजन में रम जाता है। दैनिक पत्रों के साप्ताहिक अंक साहित्य की श्रीवृद्धि करते हैं और हर पत्र के साहित्य-संपादक पत्रकारिता को साहित्य से संश्लिष्ट रखते हैं।

साहित्य के लिए पत्रकारिता सहायिका होती है। दोनों में पात्र-शैली का भेद होता है। सच्चाई को सम्मुख रखना दोनों का कार्य है। साहित्य में चरमसीमा या क्लाइमेक्स की स्थिति अंत में होती है, परंतु पत्रकारिता में उत्कंठा का समाधान प्रस्तुत करते हुए अत्यंत रोचक ढंग से बात आगे बढ़ाई जाती है। वस्तुतः दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। श्री अर्जुन तिवारी ने श्री हेरम्ब मिश्र का कथन प्रस्तुत किया है, 'सर्वोत्तम पत्रकारिता साहित्य है और सर्वोत्तम साहित्य पत्रकारिता है।'⁴ माध्यम दोनों हैं और दोनों ही मानव-सापेक्ष हैं। भौतिक स्तर पर प्रत्येक क्षेत्र में संचार-माध्यम के कारण दूरियाँ कम हुई हैं। साहित्य की जटिलता और बोझिलता, काल्पनिक आदर्शवादिता कम हुई है। साहित्य एवं संस्कृति दोनों में पत्रकारिता के कारण अनेक आयामी विकास हुआ है।

विविध संस्कृतियों तथा विविध भाषाओं से परिपूर्ण भारत जैसे देश में संचारनीति सांस्कृतिक एवं रचनात्मक प्रगति के संवर्धन का अंग बनकर सार्थकता प्राप्त कर सकती है। जनसंचार को व्यापक आयाम देने तथा लोकतांत्रिक बनाने में इसकी भूमिका महत्वपूर्ण हो सकती है।

विविध संचार-माध्यमों में भी परस्पर प्रतिस्पर्धा बढ़ रही है। संचार-माध्यमों की रेडियो, दूरदर्शन, फ़िल्म आदि शृंखला में प्रिंट मीडिया का अत्यधिक योगदान रहा है। मानव की संवाद-प्रक्रिया की ही यह विकसित कड़ी है। स्वतंत्रता के बाद राष्ट्र के सामाजिक मानदंडों में बदलाव भी आया है और बिखराव भी। हिंदी-पत्रकारिता की भूमिका तब भी महत्वपूर्ण थी और आज भी है, आगे भी रहनी चाहिए। ब्रिटेन, भारत और विश्व के कई देश ऐसे भी हैं, जहाँ इलैक्ट्रॉनिक मीडिया के अतिक्रमण के बावजूद अखबारों के पाठकों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है।

आज का सजग चिंतक चिंतित है कि विज्ञान और टैक्नोलॉजी को मानवीय समझ के व्यावहारिक उपयोग के सबसे शक्तिशाली अस्त्र के रूप में स्वीकृति दी जाती रही है। टैक्नोलॉजी अथवा ज्ञान-विज्ञान अपने-आपमें निरपेक्ष और असंपृक्त विधाएँ हैं, जिनमें मानव-समाज की व्यापक खुशहाली के लिए इस्तेमाल किए जाने की अपरिमित संभावनाएँ हैं, परंतु चिंतनीय विषय है— इनके दुरुपयोग से उत्पन्न विषम स्थितियाँ। पत्रकारिता रचनात्मक साहित्य की एक सशक्त विधा है। समाज के सकारात्मक चिंतन और परिवर्तन में इसकी बहुमुखी भूमिका हो सकती है। एक नवीन युग-चेतना का सूत्रपात पत्रकारिता द्वारा ही सर्वाधिक संभव है।

आज यह आवश्यक हो गया है कि हिंदी की साहित्य-पत्रकारिता की वास्तविक सामाजिक स्थिति का सम्यक् आकलन करते हुए हम उन संभावनाओं को खोजें, जो पत्रकारिता की स्वार्थ-साधन, अन्याय-शोषण से विलग रहकर सत्य की, मानवीय मूल्यों की, राष्ट्र की भावात्मक एकता की पक्षधर हैं। एक मिशन के रूप में अपनी सेवा देनेवाली पत्रकारिता समाज और जीवन के अंतर्सूत्र को जोड़ने का कार्य करे और समाज में मूल्यपरक नई चेतना का संचार करे।

संदर्भ

1. बालकृष्णराव, माध्यम, वर्ष 1, अंक 1
2. आधुनिक पत्रकारिता, डा० अर्जुन तिवारी, पृ. 41
3. वही, पृ. 44
4. वही, पृ. 43

□ अंशुल मलोनिया, हाउस नं. 9, के.सी. कालोनी, हिंद लैप्स लिमिटेड, शिकोहाबाद

संचार-माध्यमों द्वारा महिला-शोषण

डा० कमलेश भारद्वाज, वरिष्ठ प्रवक्ता, समाजशास्त्र विभाग

एस.डी. कालेज गाज़ियाबाद

डा० एस. के. भारद्वाज, शिक्षा विभाग, विक्रमादित्य कालेज ऑफ एजुकेशन

मोरखेड़ी, रोहतक

हिंदी में संचार शब्द संस्कृत की 'चर' धातु से बना है, जिसका अर्थ है— चलना। अतः व्यापक अर्थ में चलने, दौड़ने, आगे बढ़ने आदि क्रियाओं के लिए संचार शब्द का प्रयोग हो सकता है। सामान्य भाषा में संचार का अर्थ सूचनाओं एवं विचारों को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक भेजना है।

अँग्रेज़ी में संचार को कम्युनिकेशन कहते हैं। यह लैटिन भाषा के कम्युनिस से बना है, जिसका अर्थ है 'समझ का साझा आधार'। संचार एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के विचारों का सहभागी होता है।

आदिकाल से व्यक्ति की प्रवृत्ति रही है कि वह जो भी देखता, सोचता या अनुभव करता है, उसे दूसरों को बताए। इस जानकारी या सूचना की अभिव्यक्ति की लालसा के परिणामस्वरूप मानव ने भाषा को विकसित किया होगा। भाषा के माध्यम से मौखिक रूप से वह इस आवश्यकता की पूर्ति करता रहा। इससे वह संतुष्ट नहीं हुआ और सूचना के आदान-प्रदान के लिए अन्य साधनों का आविष्कार किया। सूचनाओं के आदान-प्रदान के लिए संचार माध्यमों ने जन्म लिया और तीव्रगति से इनका विकास हुआ। वर्तमान युग संचार-क्रांति का युग है। लिखित माध्यम के रूप में समाचारपत्रों एवं पत्रिकाओं व अनेक प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के साहित्य का विकास हुआ। इसके बाद रेडियो, टेलीविज़न, टेलीफोन, उपग्रह और कंप्यूटर आदि का आविष्कार हुआ।

राष्ट्रीय विकास में जनसंचार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यह सामाजिक परिवर्तन के संवाहक के रूप में कार्यरत होता है। जनसंचार से नई रीतियों व व्यवहारों और स्थितियों में विभिन्न सामाजिक संबंधों को निष्पादित करने की अपेक्षा की जाती है। सामाजिक दायित्वों को निभाने की इतनी अपेक्षाओं के बावजूद जनसंचार माध्यम ऋणात्मक भूमिका भी निभाते हैं। महिलाओं की छवि के संदर्भ में यह कटु सत्य है। दुनियाभर के संचार-माध्यमों की यह प्रायः ऋणात्मक भूमिका महिला के प्रति होनेवाले लिंग आधारित भेदभाव को दूर करने में एक बहुत बड़ी बाधा रही है। संचार-माध्यमों ने महिला की रूढ़िवादी छवि को ही सँजोए रखा और उसे ही पोषित भी किया है।

संचार-माध्यमों द्वारा महिला का चित्रांकन नकारात्मक तथा अपमानजनक स्थिति में किया गया है। इनमें महिला की परंपरागत स्थिति को ही मजबूत बनाने का प्रयास किया जाता है। नारी को पुरुष की तुलना में कमज़ोर और मूर्ख रूप में प्रस्तुत किया जाता है, उन्हें भोग

की वस्तु समझा जाता है।

पत्रिकाएँ संचार-माध्यम का एक महत्वपूर्ण साधन हैं। परंतु दुर्भाग्य से स्वातंत्रोत्तर काल की पत्रिकाओं ने महिला की छवि के संदर्भ में अपना अपेक्षित सामाजिक दायित्व नहीं निभाया है। पत्रकार बी.जी. बर्गीज ने अपने एक पत्र 'वीमैन एंड मीडिया' में लिखा है कि 'इस युग की पत्रकारिता में महिला की एक पिष्टपोषित छवि ही पेश की गई है, जिसके तहत विकास में उसकी भूमिका गौण रही। विभिन्न पत्रिकाओं में महिला को एक बड़ी सीमा तक एक घरेलू पत्नी, माता एवं आश्रित रूप में दिखाया जाता है। यदि उन्हें आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर दिखाया भी जाता है तो घमंडी, निष्ठुर, रौब डालनेवाली के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। महिला के घर और बाहर उनका शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक शोषण होने की सामग्री को पत्र-पत्रिकाओं में सही रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है।

भारत सरकार के मानव-संसाधन विकास मंत्रालय के महिला एवं बाल विकास विभाग द्वारा प्रकाशित परिप्रेक्ष्य योजना में इस बात को स्वीकार किया गया है कि पत्र-पत्रिकाओं ने महिलाओं की उपेक्षा की है तथा उनका नुकसान किया है। स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि 'प्रचार-प्रसार माध्यम बेटे-बेटियों में भेदभाव करने के मौजूदा पक्षपातपूर्ण रवैये के लिए काफ़ी सीमा तक जिम्मेदार हैं। विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित अधिकांश व्यंग्य-चित्रों (कार्टून) में महिला को जड़बुद्धि, कामोत्तेजना वाली मशीन, मानसिक एवं शारीरिक रूप से कमजोर, झगड़ालू आदि रूपों में दिखाया जाता है। व्यंग्य-चित्रों में महिला की वर्तमान स्थिति का तो मज़ाक बनाया ही जाता है, साथ ही महिला की स्थिति को सुधारने के प्रयासों पर कहीं अधिक हँसा जाता है।

समाचार-पत्रों ने भी महिला की स्थिति को प्रदर्शित करने में वह भूमिका नहीं निभाई है, जिसकी अपेक्षा की गई थी। अधिकांश समाचार-पत्रों में न केवल महिलाओं के मुद्दों को कम स्थान दिया जाता है बल्कि कुछ ऐसा भी छपा जाता है, जो आपत्तिजनक है और जिससे महिला की एक वस्तु के रूप में पहचान बनती है। विभिन्न समाचार-पत्रों में महिला की अनेक परंपरागत छवियाँ देखने को मिलती हैं, जिनकी कीमत पर अन्य महत्वपूर्ण छवियों को अनदेखा कर दिया जाता है। अनेक समाचार-पत्रों में सौंदर्य प्रतियोगिताओं के चित्र व ख़बरें बहुतायत से देखने को मिलती हैं। यदि सही चित्र छपें तो कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन आपत्ति तब होती है, जब इन चित्रों के माध्यम से महिला के रूप व यौवन को भुनाया जाता है। समाचार-पत्रों में नारी की छवि को समाज में सताई गई, लाचार, कमजोर और भयभीत रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है। चंद उदाहरणों के आधार पर समूची आधुनिक, पढ़ी-लिखी, आत्मनिर्भर महिला के चरित्र व चाल-चलन पर सवाल उठाए जाते हैं। अक्सर बड़े लोगों के वक्तव्यों एवं विचारों के माध्यम से महिला को महिला के दुश्मन के रूप में भी उभारा जाता है।

महिला से जुड़ी ख़बर यदि हिंसा, राजनीति या काम-वासना से संबद्ध होती है तो मीडिया की भाषा में गर्म ख़बर होती है, अन्यथा उसे नर्म ख़बर का दर्जा ही मिल पाता है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बलात्कार और वेश्यावृत्ति सरीखे विषयों पर ख़ूब लिखा जाता है, किंतु मूलभूत समस्या की तरफ़ ध्यान कम दिया जाता है। इन विषयों पर छापे गए लेखों में इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है कि वे लेख पाठकों को गुदगुदाने वाले हों। इन लेखों में महिला

की तकलीफों का भुनाया जाता है। महिलाओं से संबंधित उन्हीं ख़बरों में दम नज़र आता है, जिनमें कुछ उत्तेजक आँकड़े होते हैं।

महिलाओं में जागरूकता व सशक्तिकरण लानेवाली सामग्री कम होती है। बढ़ती हुई यौन-उत्पीड़न एवं यौन-शोषण की घटनाओं के विषय में जसवंतसिंह विरदी सिनेमा एवं समाचार-पत्रों को जिम्मेदार ठहराते हुए लिखते हैं—

‘एक और बात मैं बहुत विनम्र भाव से कहने की गुस्ताखी कर रहा हूँ, वह बात यह है कि हमारे समाचारपत्र वाले, लड़कियों को अगुवा करनेवाले, छेड़खानी और रेपवाले समाचारों को बहुत चटकारे लेकर छापते हैं। कई बार तो भीतर की कहानी का वर्णन ऐसे करते हैं जैसे वे स्वयं उस एक्शन में शामिल हों’

महिलाओं की स्थिति और बलात्कार-संबंधी घटनाओं के प्रति पत्रकारिता ने जो रुख अपनाया है, उस पर ममता कालिया ने अपने एक लेख ‘आज़ादी के बाद मध्यमवर्गीय नारी’ में खुलकर अपना रोष प्रकट किया है। उनके अनुसार आज़ादी के बाद महिलाओं की स्थिति ख़राब करने की सबसे बड़ी जिम्मेदारी फिल्म और पत्रकारिता पर है। इन दोनों ने महिला को व्यक्ति से वस्तु बना दिया है। वे आगे लिखती हैं—

‘रीतिकालीन जुगुप्सा से भरे इन संचार-माध्यमों का जमकर दुरुपयोग किया गया है। पत्र-पत्रिकाएँ कभी मथुरा, कभी माया त्यागी कांड पर सचित्र लेख छापती हैं। मथुरा और माया त्यागी महज तमाशा बनकर रह जाती हैं। शोभारानी हो या ललिता, रमीजा बीबी हो या छविरानी महिला की गति हर स्तर पर एक है दुर्गति।’

अधिकांश टी.वी. धारावाहिकों एवं फिल्मों में महिला की स्थिति को पुरुष से निम्न दर्शाया जाता है। महिलाओं के लिए अनेक अपमानजनक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। अधिकांश धारावाहिकों एवं फिल्मों में महिला का शोषण दिखाया जाता है। पुरुष महिलाओं को शोषण का खिलौना-मात्र मानते हैं। महिलाओं को पुरुषों के प्रति वचनबद्ध दिखाया जाता है तथा पुरुषों को वंचक होने, कामुक होने तथा विवाहेतर संबंध रखने का पूरा अधिकार होता है। अधिकांश फिल्मों में ऐसा मान लिया जाता है कि रोना ही इनका अधिकार है। महिला को विकृत स्वरूपों में दिखाया जाता है। उसे कुलटा, धूर्त, कर्कश, चरित्रहीन आदि रूपों में दिखाया जाता है। पुरुष से अलग व विरोधी सामाजिक, सांस्कृतिक संरचनाओं में महिला की स्थिति को अधिक बंधनयुक्त व जटिल रूप में प्रस्तुत किया जाता है। महिला का शोषण केवल पुरुषों द्वारा ही नहीं, बल्कि महिला के द्वारा भी दिखाया जाता है। अधिकतर महिलाओं को केवल घर तक ही सीमित दिखाया जाता है। विधवा एवं तलाकशुदा महिला की स्थिति ज़्यादातर दयनीय ही दिखाई जाती है, जिनका पुरुष हमेशा शोषण करने के लिए तत्पर रहते हैं। यदि कोई महिला उन्नति करना चाहे तो उसे यौन-उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता है। पुरुष की कामुकता को हमेशा महिला का पीछा करते दिखाया जाता है। महिला के मन में हमेशा सामाजिक असुरक्षा का भय दिखाया जाता है।

आज़ादी के बाद भारतीय निजी उद्योग स्थापित होने के बाद संचार-माध्यमों में पनपती विज्ञापनप्रियता में भी महिला का शोषण हुआ है। घी, साबुन, तौलिए और यहाँ तक कि पुरुषों के प्रयोग में आनेवाली वस्तुओं में भी नारी-देह का उपयोग आरंभ हुआ है। बिक्री-योग्य

छोटी-से-छोटी वस्तु महिला की बड़ी-से-बड़ी नग्नता को लेकर आ खड़ी होती है। विज्ञापन के क्षेत्र में जहाँ छपाई और फोटोग्राफी की तकनीकी में भारी सुधार हुआ है, वहीं महिला की देह के आकर्षण द्वारा बिकाऊ माल की तरह ग्राहकों का ध्यान खींचने की प्रवृत्ति भी विज्ञापन-निर्माताओं में लगातार बढ़ती जा रही है। महिला की देह का ऐसा अश्लील एवं सार्वजनिक इस्तेमाल चिंता का विषय है। महिला-देह का सर्वाधिक घृणित उपयोग अंतर्वस्त्रों के विज्ञापनों में देखने को मिलता है। जहाँ मॉडल की तस्वीरें जानबूझकर ऐसी खींची जाती हैं कि उनके शरीर का भूगोल साफ़-साफ़ झलकने लगे और तस्वीरों की रही-सही कमी ज़रूरी स्थानों पर उजाले और शेड का टच देकर प्रोसेसिंग के दौरान पूरी कर ली जाती है। विज्ञापनों में वस्तु-विशेष का विज्ञापन कम नारी के शरीर का विज्ञापन और वह भी कम-से-कम कपड़ों में अधिक दिखाई देता है। यह समझ पाना भी मुश्किल हो जाता है कि विज्ञापन किसी वस्तु का है या मात्र नारी का। ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञापनदाताओं ने विज्ञापन के माध्यम से सेक्स का भौंडा प्रदर्शन करके महिला का अपमान करने की ठान ली है।

संचार-क्रांति के इस युग में हमें एक क्रांतिकारी आंदोलन को प्रारंभ करना होगा, जिससे नारी के नग्न और अर्द्धनग्न दृश्यों, तस्वीरों, कामचेष्टाओं और कुत्सित किस्मों पर आधारित अश्लील साहित्य किशोरों को पथभ्रष्ट न कर सके। इसके लिए न केवल युवक-युवतियों को जागरूक बनाया जाना आवश्यक है बल्कि उन्हें यह अहसास कराया जाना भी अनिवार्य है कि दहेज-हत्या करनेवालों, अश्लील एस.एम.एम. भेजनेवालों एवं महिलाओं का उत्पीड़न करनेवालों को दंड-व्यवस्था का प्रावधान किया जाएगा। संचार-माध्यमों में महिला-उत्पीड़न रोकने के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं—

1. सेंसर बोर्ड में समाजशास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों को शामिल किया जाए, जिससे इस प्रकार के अनावश्यक दृश्यों को अलग किया जा सके, जिससे मर्यादा का उल्लंघन होता है तथा जो हमारी संस्कृति एवं समाज के अनुकूल नहीं हैं।
2. सेंसर के नियमों को कठोर बनाया जाए।
3. साइबर अपराधों की शिकायत दर्ज कराई जाए।
4. बलात्कार जैसी घटनाओं को मनमाने ढंग से छापने, फिल्माने एवं प्रदर्शित करने पर रोक लगाई जाए।
5. महिलाओं के व्यक्तित्व के उन पक्षों को प्रदर्शित किया जाए, जिसके कारण वे विभिन्न क्षेत्रों में अपनी प्रकार्यात्मक भूमिका बखूबी निभा रही हैं।
6. महिलाओं को आर्थिक लाभ से ऊपर उठकर अपनी सोच बनानी होगी। उन्हें फिल्मों में या टी.वी. धारावाहिकों में ऐसी कोई भूमिका नहीं करनी चाहिए, जो महिलाओं और भारतीय संस्कृति के अनुकूल न हो। उन्हें पहले यह विचारना होगा कि पैसों के लिए कोई ऐसा प्रदर्शन न हो, जो समाज के लिए हानिप्रद हो।
7. महिलाओं के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण बदलना होगा।

अंततः संचार-साधनों के प्रचार-प्रसार की इस आँधी में हम आँखें बंद करके नहीं बैठ सकते। हमें हवा का रुख देखकर प्रगति-पथ पर दौड़ना ही होगा। यदि मीडिया अपरिहार्य हो गया है तो हमें इसके सकारात्मक पक्षों को हितों के अनुरूप ढालने के लिए पहल करनी ही होगी।

महादेवी जी काव्य : एक समालोचनात्मक अध्ययन

डा० अशोक उपाध्याय

श्रीमती महादेवी वर्मा आधुनिक हिंदीसाहित्य की सबसे ज़्यादा लोकप्रिय और प्रतिष्ठित कवयित्री हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार महादेवी जी ने शून्य, अंधकार और अभाव को गौरव प्रदान किया है। 'बादल उमड़-घुमड़कर आते हैं, एकाएक महाशून्य भर उठता है, नीलमंदुर शोभा को क्षण-संचारिणी विद्युत उद्भासित कर जाती है, फिर सब समाप्त। यह कैसी विचित्र लीला है। सबकुछ क्षणभंगुर, सबकुछ अस्थिर और फिर भी कितना सरस, कितना मनोहर, कितना काम्य। महादेवी विराट् विश्व में व्याप्त इस क्षणिक उल्लास-संवेदना की महिमा की गायिका हैं।' ¹ सच तो यह है कि वेदना आनंद का अद्भुत आवेग है। स्मृतियों के कंपन और सुप्तव्यथा के उन्मीलन में स्वप्नलोक की परियाँ भी अपनी मुस्कान भूल जाती हैं। इसमें बादलों के अंचल में इंद्रधनुष के समान मिटने का अभिमान और वातविकंपित दीपशिखा के समान प्रज्वलित होने का अम्लान गौरव है। इस असार संसार में दुख की दो प्रमुख स्थितियाँ परिलक्षित होती हैं। पहली वह, जो मानव के संवेदनशील हृदय को संपूर्ण लोक के साथ एक अविच्छिन्न रज्जु में आबद्ध कर देती है और दूसरी वह, जो समय तथा समाज की सीमाओं में निबद्ध असीम चेतन की करुणा-विगलित पुकार है। कवयित्री को दुख की ये दोनों ही स्थितियाँ अच्छी तथा ग्राह्य प्रतीत होती हैं। उसके लिए यह संसार आँसुओं का देश है—

खोज रही चिर प्राप्ति का वर
साधना ही सिद्धि सुंदर
सदन में सुख की कथा है
विरह मिलने की प्रथा है
शलभ जलकर दीप बन जाता निशा के शेष में!
आँसुओं के देश में!²

महादेवी जी के लिए कल्पना सुगम एवं अनुरंजनशील विधायिका शक्ति है। इसके द्वारा उन्होंने प्रत्येक संभाव्य किंतु अभीप्सित वस्तु का मानसिक अंकन किया है। उनके समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म निर्माणों में इसका न्यूनाधिक उपयोग सदैव रहता है। इससे तीव्र मनोवेगों के उद्वेलन की संभावनाएँ प्रबल होती हैं। काव्य-रस में निमग्न रहने के लिए उत्सुक पाठकों को सोचने-समझने का अवसर कम मिलता है, लेकिन भावानुभूति सबसे अधिक होती है। उनकी कल्पना उन्हीं के समान निरंतर क्रियाशील तथा चंचल रहती है—

वे निर्धन के दीपक-सी बुझती-सी मूक व्यथाएँ,

प्राणों की चित्रपटी में आँकी-सी करुण कथाएँ
मेरे अनंत जीवन का, वह मतवाला बालकपन,
इसमें थककर सोता है लेकर अपना चंचल मन।³

कवयित्री के जीवन में मनोवेगों का आरोह-अवरोह व्यापक रूप में परिलक्षित होता है। इनके आधारों का संयोजन भावनाओं द्वारा किया गया है, जो कि कल्पना से अधिक स्थिर और सुकोमल है। यहाँ मन की एकाग्रता के लिए आंतरिक या बाह्य आधार भावनाओं द्वारा प्रस्तुत हुए हैं। महादेवी जी ने अपने इष्ट की सगुण कल्पना नहीं की है, उन्होंने उसकी भावनाओं द्वारा उपासना की है—

मैं तुमसे हूँ एक, एक है
जैसे रश्मि-प्रकाश,
मैं तुमसे हूँ भिन्न-भिन्न ज्यों
धन में तड़ित्-विलास।⁴

इस भावना में कवयित्री की रागात्मक सत्ता ऐसे संश्लिष्ट रूप में प्रतिफलित हुई है कि उसके संयमित रहने पर इसका विघटन हो सकता है। उसने जीवन को जितनी गहराई से स्पर्श किया है, उसे उतनी ही गंभीर आस्था की आवश्यकता हुई है। इस आस्था को रागात्मक सौंदर्य भावनाओं द्वारा ही प्राप्त हुआ है—

क्यों इन तारों को उलझाते?
अनजाने ही प्राणों में क्यों
आ आ कर फिर जाते
पल में रागों को झंकृत कर
फिर विराग का अस्फुट स्वर भर
मेरी लघु जीवन-वीणा पर
क्या यह अस्फुट गाते?⁵

महादेवी जी में सूक्ष्म सौंदर्य के निरूपण की शक्ति अप्रतिम है। अतींद्रिय सुख की अनुभूति में तल्लीन होकर अनुपम एवं अलौकिक सौंदर्य-सागर में निमग्न होना उनका स्वभाव है। उन्होंने 'चिंतन के कुछ क्षण' में लिखा है— 'सत्य काव्य का साध्य और सौंदर्य-साधन है। एक अपनी एकता में रहता है और दूसरा अपनी अनेकता में अनंत। इसी से साधन के परिचय-स्निग्ध खंड रूप से साध्य की विस्मय-भरी अखंड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनंद की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है।' ⁶ उन्होंने प्राचीन इतिवृत्तात्मक पद्धति को त्यागकर नवीन सौंदर्य बोध से युक्त गीतों का सृजन किया है। सच तो यह है कि 'एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में छायावादी कविता ने भाषा की स्थूल तर्कसंगति से परे ले जाने के लिए कल्पना की सृष्टिविधायिनी क्षमता का जो काव्यात्मक उपयोग किया, उसमें महादेवी की भी सार्थक भूमिका है। इतिवृत्त की जड़ता को भंग करने के लिए उनके लचीले, कोमल, रागधर्मी, अंतःशृंगार-प्रधान शब्द-संकेतों की अपनी गुणात्मकता अर्थवत्ता रही है।' ⁷ उदाहरणार्थ निम्न पंक्तियाँ देखिए—

आज तार मिला चुकी हूँ सुमन में संकेत लिपि

चंचल विहग स्वर-ग्राम जिसके
 वात उठता, किरण के
 निर्झर झुके व्यय-भार जिसके,
 वह अनाम रागिनी अब साँसों में ठहरा चुकी हूँ।⁸

छायावादी काव्य-सौंदर्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता है प्रकृति का मार्मिक एवं सजीव चित्रांकन। महादेवी जी के काव्य में आदि से अंत तक प्रकृति-चित्रण के इंद्रधनुषी रूप बड़ी सहजता से अंकित हुए हैं—

सौरभ का फैला केशजाल,
 करतीं समीर परियाँ विहार,
 गीली केसर मद झूम-झूम
 पीते तितली के नवकुमार
 मर्मर का मधु संगीत छेड़—
 देते हैं हिल पल्लव अजान।⁹

महादेवी जी ने रहस्यवाद को छायावादी काव्य का दूसरा सोपान माना है। इसके रहस्यमय रूप के कारण ही इसको रहस्यवाद की संज्ञा प्रदान की गई है। आज हम जिस रहस्यवाद की बात करते हैं, वह प्राचीन भारतीय दर्शन तथा पूर्ववर्ती रहस्यवादी परंपरा की विशेषताओं से युक्त होते हुए भी उन सबसे भिन्न हो गया है। इसमें पराविद्या की अपार्थिवता के साथ अद्वैतवेदांत की छाया तथा लौकिक प्रेम की तीव्रता के समन्वित रूप को कबीर के सांकेतिक दांपत्यभाव-सूत्र में लपेटकर एक ऐसे स्नेह संबंध का सृजन हुआ, जो जीवन-शिशिर में थके-हारे मानव-हृदय को आलंबन देकर उसे पार्थिव प्रेम से अपार्थिव की उन्नत स्थिति में ले जाकर मस्तिष्क को हृदययुक्त और हृदय को मस्तिष्कयुक्त बनाने में सफल हुआ। 'इसमें संदेह नहीं कि इस वाद ने रूढ़ि बनकर बहुतों को भ्रम में डाल दिया है, परंतु इने-गिने व्यक्तियों ने इसे वास्तव में समझा, उन्हें इस नीहारलोक में भी गंतव्य मार्ग स्पष्ट दिखाई दे सका। इस काव्य-धारा की अपार्थिव-पार्थिवता और साधना की न्यूनता ने सहज ही सबको अपनी ओर आकर्षित कर लिया है, अतः यदि इसका रूप कुछ विकृत होता जा रहा है, तो आश्चर्य की बात नहीं। हम यह समझ नहीं सके हैं कि रहस्यवाद आत्मा का गुण है, काव्य का नहीं।'¹⁰ महादेवी जी के काव्य की उत्कृष्टता इस प्रकार के रहस्यमय विषय-विशेष पर आश्रित नहीं है। उनका हृदय तो उस स्पर्शमणि की तरह है, जिसने अपने भावुक संस्पर्श से इस सबको सौभाग्य-मिश्रित स्वर्णमयता का वरदान दिया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार— 'छायावादी कहे जाने वाले कवियों में महादेवी जी ही रहस्यवाद के भीतर रही हैं। उस अज्ञात प्रियतम के लिए वेदना ही उनके हृदय का भाव केंद्र है, जिससे अनेक प्रकार की भावनाएँ फूट-फूटकर झलक मारती रहती हैं। वेदना से इन्होंने अपना स्वाभाविक प्रेम व्यक्त किया है, उसी के साथ वे रहना चाहती हैं। उसके आगे मिलन-सुख को भी वे कुछ नहीं गिनतीं।'¹¹ उन्होंने लिखा है—

विरह की घड़ियाँ हुई अति मधुर मधु की यामिनी-सी,
 दूर के नक्षत्र लगते पुतलियों के पास प्रियतर
 शून्य नभ की मूकता में गूँजता आह्वान का स्वर,

आज है निस्सीमता लघु प्राण की अनुगामिनी-सी।¹²

उन्हें विरह में दुखमय सुख और सुखमय दुख एक जैसा प्रतीत होता है। इसी वजह से उन्होंने विरह बारीश पर शूलों का सेतु बाँध दिया है। उनके आँसुओं में न जाने कौनसी मदिरा घुल गई है, जिसे पीकर संपूर्ण विश्व झूमता रहता है, क्योंकि नयनों में प्रिय का हास सपनों की रज आँजकर चला गया है। उनका कथन है—

मेरा प्रतिपल छू जाता है कोई कालातीत
स्पंदन के तारों पर गाती एक अमरता गीत
भिक्षुक-सा रहने आया दृग-तारक में आकाश।¹³

छायावादी काव्य नारी-जागृति तथा उसके महत्त्व की प्रतिष्ठा की दृष्टि से अत्यंत सफल तथा प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। इसमें नारी की विभिन्न विशेषताओं को निरूपित करते हुए, उसे मनुष्य की संजीवनी प्राण-शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। महादेवी जी नारी-उत्थान की प्रबल पक्षधर थीं। उनके अनुसार समाज में नारी की दुर्दशा का बहुत कुछ उत्तरदायित्व स्वयं नारी पर है। उसे जीने की कला नहीं आती है। युग-युगांतर से प्रचलित सिद्धांतों का भार संवहन करते हुए वह स्वयं को भारवाहक यंत्र-मात्र समझने लगी हैं। केवल काल्पनिक स्वर्ग में विचरण करना उसका अभीष्ट नहीं होना चाहिए। उसे संसार के कंटकाकीर्ण पथ को सुगम बनाने में तत्पर होना चाहिए। उसके लिए सही प्रकार से जीवन व्यतीत करने के लिए आंतरिक और बाह्य विकास की सापेक्षता अति आवश्यक है। 'हमारे समाज में अपने स्वार्थ के कारण पुरुष मनुष्यता का कलंक है और स्त्री अपनी अज्ञानमय नितांत सहिष्णुता के कारण पाषाण-सी उपेक्षणीय। दोनों के मनुष्यत्वयुक्त हो जाने से ही जीवन की कला विकास पा सकेगी, जिसका ध्येय मनुष्य की सहानुभूति, सक्रियता, स्नेह आदि गुणों को अधिक-से-अधिक व्यापक बना देना है।' ¹⁴ महादेवी जी के काव्य में छायावादी शैली की चित्रोपम भाषा का यथासंभव प्रयोग हुआ है। इसमें व्यक्तिगत तथा सामाजिक मनोभावों, दृश्यों एवं घटनाओं के संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करने की आश्चर्यजनक क्षमता समाहित है। चिर प्रतीक्षा में तल्लीन मन में जब प्रियतम की मिलन-स्मृति उदित होती है, तब उसे समस्त संसार एक दिव्य आनंद से अनुरंजित प्रतीत होता है। प्रकृति का प्रत्येक कण भावनाओं के प्रभाव से एक नए प्रकार की सौंदर्य-चेतना से परिपूर्ण हो जाता है। प्रियतम का स्पर्शमात्र ही उनके लिए इतना दिव्य है कि प्रभातकालीन प्रकृति का सुंदर रूप उसमें साकार हो जाता है—

चुभते ही तेरा अरुण वान
बहते कन-कन से फूट-फूट
मधु के निर्झर-से सजल गान।¹⁵

महादेवी जी की प्रतीक-योजना युगानुरूप तथा मानवीय मनोभावों को अभिव्यंजित करने में पूर्णतया सफल सिद्ध हुई है। इसके द्वारा उनके सहज काव्य-सृजन में अभूतपूर्व चमत्कार की सृष्टि हुई है। मर्मवेदना एवं सुकोमल भावनाओं के चित्रण में प्रतीकों की प्रभावशीलता देखते ही बनती है। निर्झर, टूटा दर्पण, नीरदमाला, विद्युत, इंद्रधनुष, किरण, प्रभात, वीणा आदि उनके प्रिय प्रतीक हैं। निरंतर जलनेवाले दीपक को उन्होंने अपनी साधना, आत्मा एवं तन्मयता का प्रतीक बनाकर अत्यंत मर्मस्पर्शी प्रयोग किए हैं। प्रमाण के लिए निम्न पंक्तियाँ

देखिए—

शलभ मैं शापमय वर हूँ
किसी का दीप निष्ठुर हूँ।
ताज है जलती शिखा
चिनगारियाँ श्रृंगारमाला,
ज्वाल अक्षय कोप-सी
अंगार मेरी रंगशाला,
नाश में जीवित किसी की साथ सुंदर हूँ।¹⁶

प्रायः शलभ को समर्पणशील उद्दाम प्रेमी के रूप में याद किया जाता है। महादेवी जी ने उसे भौतिक भोग-विलास में सुख का अनुभव करने वाले चंचल मन का प्रतीक मानकर अपनी भावनाओं को बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया है, जो कि कहीं-कहीं सायास होते हुए भी निरर्थक और अस्वाभाविक नहीं है। जीवात्मा संसार की विभिन्न समस्याओं के माया-जाल में उलझे हुए परमतत्त्व का आंशिक रूप है। वह जब सांसारिक वासनाओं को महत्त्व देता है, तो उसके लिए बाह्य संघर्ष दुखदायक हो जाता है, लेकिन अध्यात्म पथ के पथिक के लिए मार्ग के कंटक प्रभु का वरदान बन जाते हैं। विरह की जलन और पीड़ा भी दिव्य प्रेम-पंथ का उपहार है। प्रिय का वियोग जल-जलकर चिरंतन होने का अवसर देता है। उसकी तन्मयता अभूतपूर्व संयोगावस्था का आनंद प्रदान करती है और फिर प्रियतम का पथ आलोकित करना भी तो उसका कर्तव्य है—

तू जल-जल जितना होता क्षय
वह समीप आता छलनामय,
मधुर मिलन में मिट जाना तू—
उसकी उज्ज्वल स्मित में धुल-खिल
मदिर-मदिर मेरे दीपक जल
प्रियतम का पथ आलोकित कर।¹⁷

महादेवी जी के काव्य में छायावादी अभिव्यंजना परंपरा प्रमुख विशेषता 'उपचार-वक्रता' का प्रयोग बड़ी सहजता से हुआ है। उनके प्रयोगों में कहीं भी कृत्रिमता नहीं है। मूर्त में अमूर्त का, अचेतन में चेतन का और घन में द्रव का अभेदारोप करके उन्होंने नूतन प्रभाव-संयोजन से परिपूर्ण उच्चकोटि के अप्रस्तुतों का चयन किया है। इनसे काव्य में सरसता, रमणीयता एवं प्रभावशीलता की अभिवृद्धि हुई है—

प्रिय सांध्य गगन मेरा जीवन
यह छितिज बना धुंधला विराग
नव अरुण-अरुण मेरा सुहाग
सुरभित हैं जीवन मृत्यु-तीर
रोमों में पुलकित कैरव वन।¹⁸

इस उदाहरण में मानव-भावनाओं का प्रकृति के साथ अपूर्व रागात्मक संबंध तथा जीवन के सांध्य-गगन का तादात्म्य या अभेदारोप द्रष्टव्य है। जीवन के सांध्यकालीन आकाश में करुणा, वेदना और निराशाजनित धुंधलापन स्पष्ट है। क्षितिज में परिव्याप्त अस्पष्टता हृदय की

विराग-भावना की निरूपक है। विवाहित जीवन में सुख, सुहाग तथा आनंद की झलक सांध्यकालीन आकाश की लालिमा के रूप में है। इस वातावरण में अश्रु और हास से परिपूर्ण लालिमा के रूप में ओस की बूँदों की सृष्टि कवयित्री के जीवन की उस आनंदमय अनुभूति का संकेत देती है, जो प्राप्त होकर भी उसके लिए अप्राप्य बनी रही। ऐसे काल्पनिक सुख की अनुभूति से शरीर सांध्यकाल में प्रफुल्लित कैरववन की तरह रोमांचित और पुलकित हो जाता है। महादेवी जी की काव्य-भाषा में नाद-सौंदर्ययुक्त पदावली का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। उनके काव्य में ऐसे ध्वन्यात्मक शब्दों की अधिकता है, जो पदार्थ और ध्वनि दोनों का बोध करते हैं—

समुच्च सलज खिलती शेफाली,
अलस मौलश्री डाली-डाली
बुनते नव-प्रवाल कुंजों में रजत-श्याम तारों से जाली,
शिथिल मधु-पवन, गिन-गिन मधुकण
हरसिंगार झरते हैं झर-झर।¹⁹

ध्वन्यर्थ व्यंजना नामक अलंकार के माध्यम से उन्होंने नाद-सौंदर्यात्मक अभिव्यंजना के बहुत सार्थक प्रयोग किए हैं। उत्प्रेक्षा, रूपक, विशेषण-विपर्यय और मानवीकरण अलंकार इत्यादि का उपयोग भी कवयित्री ने यथासंभव कुशलता से किया है। प्रकृति के मानवीकरण में तो कल्पनाशक्ति का सौष्ठव अविस्मरणीय है। 'वर्षा-सुंदरी' के संदर्भ में निम्न पंक्तियाँ देखिए—

रूपसि तेरा घन केश-पाश!
कंपित हैं तेरे सजल अंग, सिहरा तन है सद्यस्नात!
दीपक से देता बार-बार, तेरे उज्वल चितवन विलास!²⁰

महादेवी जी छायावादी युग की सर्वाधिक सफल एवं लोकप्रिय गीतिकार हैं। उनके अनुसार— 'सुख-दुख भावावेशमयी अवस्था-विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। इसमें कवि को संयम की परिधि में बँधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है, वह सहज प्राप्य नहीं, कारण हम प्रायः भाव की अतिशयता में कला की सीमा लाँघ जाते हैं और उसके उपरान्त भाव के संस्कार-मात्र में मर्मस्पर्शिता का शिथिल हो जाना अनिवार्य है।' ²¹ महादेवीजी के गीतिकाव्य में संगीतमयता के साथ-साथ वैयक्तिकता की भी प्रधानता है। व्यक्ति-वैचित्र्य बहुत कम है। बाबू गुलाबराय जी ने लिखा है— 'सुख-दुख की गीतमय अभिव्यक्ति जीवन को एक प्रकार का संतुलन प्रदान करती है। भावावेग के अवरुद्ध जल को बाँधने के लिए मानव-शरीर बड़ा दुर्बल है। हमारे साधारण आवेग भी अश्रुक्रंप, हास, रोमांच, भ्रू-भंग आदि द्वारा मस्तिष्क की चहारदीवारी में बंद न रहकर अपनी झलक दिखा जाते हैं, फिर तीव्र आवेगों का तो कहना ही क्या?' ²² कवयित्री के द्वारा रचित गीतों में व्यापक मानव-अनुभूतियों की ऐसी वैयक्तिकतापूर्ण अभिव्यंजना हुई है कि प्रत्येक पाठक बड़ी सरलता से रसानुभूति का साक्षात्कार कर लेता है। इनमें विशुद्ध मानवीय धरातल पर जीवन का उद्घाटन उसके अंतर्मुखी स्तर पर हुआ है। इनके द्वारा हर्ष, उल्लास, सुख-दुख एवं व्यक्तिगत विचार-दर्शन को शब्द-रूप में गेय स्वरलहरी से अनुरंजित किया गया है। मधुर रागात्मक भावना-संपन्न आत्मनिवेदन इनमें मर्मस्पर्शिता की टंडी-गहरी निर्झरिणी बन गया है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ देखिए—

मैं बनी मधुमास आली!

आज मधुर विषाद की चिर करुण आयी यामिनी,
बरस सुधि के इंद्रु-सी छिटकी पुलक की चाँदनी
उमड़ आई री दृगों में सजनि कालिन्दी निराली! ²³

महादेवी जी कुशल चित्रकार होने के साथ-साथ अच्छी संगीतकार भी थीं। संगीत की मधुर लहरियों के माध्यम से ही उनके गीतों में गगनचुंबी उड़ान भरने की सामर्थ्य हासिल की है। 'उनके संपूर्ण गीतिकाव्य में संगीत की मधुर-सरिता प्रवाहित हो रही है। स्वर एवं लय का संधान करके आपने प्रत्येक गीत को भाव-प्रवण बनाया है और संगीतात्मकता द्वारा अपने प्रत्येक गीत में गेयता की मधुर सृष्टि की है। आपने अन्य छायावादी कवियों की भाँति न तो संगीतात्मकता के राज-पथ से तनिक हटकर छंद-बंधन का परित्याग करते हुए छंदविहीन बीहड़ मार्ग पर चरण रखा है और न कभी तुकांत की कुंज-गली का परित्याग करके अतुकांत के कंटकाकीर्ण पथ का अनुसरण किया है।' ²⁴ उन्होंने अपनी गीति रचनाओं में कोमलकांत पदावली का यथासंभव प्रयोग किया है। भाषा में स्वरमैत्री के साथ-साथ व्यंजनमैत्री भी यथेष्ट मात्रा में दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक चरण में कोमल तथा सहज शब्द-विन्यास मिलता है। सानुस्वार एवं सुकोमल वर्णों की लालित्यपूर्ण शब्दावली ने गीतों की प्रभावशीलता में अभिवृद्धि की है। सुकुमार रचना-शैली प्रत्येक प्रकार के मनोभावों के संवहन में समर्थ है। स्वर-माधुर्य और नाद-सौंदर्य का जैसा वैशिष्ट्यपूर्ण समन्वय महादेवी जी के गीतों में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने अपने आर्तक्रंदन के पीछे छिपे दुखातिरेक को दीर्घ उच्छ्वास में छिपे हुए संयम से बाँधने का प्रयत्न किया है। इसीलिए उनके सभी गीत दूसरों के हृदय में उसी भाव का साधारणीकरण करने में सफल रहे, जो उनके अपने अंतःस्थल में विद्यमान है। उन्होंने वेदना को अपने गीतों का मूल द्रव्य बनाकर स्थापित किया है। वेदना निश्चित रूप से दुखमूलक है, परंतु उसकी प्रत्येक स्थिति दुखदायक नहीं होती है। उच्चकोटि के गीतों में वही भावनाएँ होती हैं, जो उनके रचनेवाले को प्रिय हों। 'वेदना भी प्रिय लगने पर ही काव्य का रूप धारण करती है। कवयित्री ने दुखवाद को अपने काव्य का विषय बनाकर सुखवाद से बैर नहीं ठाना, प्रत्युत सुखवाद का उल्लास प्राप्त करने के लिए उन्होंने वेदना से मैत्री स्थापित की है। यदि वेदना की अभिव्यक्ति में उन्हें उल्लास न मिले, तो उनसे काव्य-रचना भी नहीं हो सकती। काव्य-रचना की मूल प्रेरणा सुख से ही होती है, पर अपनी रुचि-भिन्नता के कारण उसका विषय चाहे जैसा कुछ हो।' ²⁵ विरह तथा परोक्ष सत्ता के प्रति आंतरिक स्नेह के कारण महादेवी जी को आधुनिककाल की मीरा कहा जाता है। मीरा के समान ही उनके हृदय में स्थित विरहाकुल प्रेमदीवानी के लिए भावातिरेक सहज समुपलब्धि था। बाह्य तथा आंतरिक जीवन में सामाजिक प्रतिष्ठा इत्यादि के कारण अंतःसाधना एवं संयम के लिए उन्हें यथा-आवश्यक समय मिलता रहता था। मीरा के समान ही उनकी वेदना भी आत्मा का अनुभव थी। यही कारण है उनके गीतों को सुनकर या पढ़कर हृदय में उनकी ही प्रतिध्वनि गूँजने लगती है और वेदना की मर्मस्पर्शिता अंतर्जगत् में हाहाकार उत्पन्न कर देती है। यह बहुत से लोगों के लिए आश्चर्य का विषय भी हो सकता है कि सुख-दुख के सप्तरंगी रेशों से बुने हुए जीवन में उन्हें दुख ही इतना रुचिकर क्यों लगता है? वास्तविकता यह है कि दुख जीवन में उन्हें प्राप्त हुए दुलार, सत्कार और आदर

इत्यादि की अपार्थिव प्रतिक्रिया है। वेदना की दिव्यता ने उन्हें भक्तों की श्रेणी में पहुँचा दिया है—

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात!
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास,
जो तुम्हारा हो सके लीला-कमल यह आज,
खिल उठे निरुपम तुम्हारी देख स्मित का प्रात
जीवन विरह का जलजात! ²⁶

महादेवी जी के गीतों ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस संबंध को शाश्वत प्रदान की है, जो अनादिकाल से बिंब-प्रतिबिंब परिव्याप्त है। इसके कारण ही प्रकृति अपने सुख में सुखी और दुख में दुखी प्रतीत होती है। उनके लिए प्रकृति घर, कूप, सरिता तथा सागर के जल की समरूपता की तरह वैविध्यपूर्ण एकता एवं महाप्राणता से परिपूर्ण सजीव सत्ता हो गई है। मेघ के जल-बिंदु, पृथ्वी के ओस-बिंदु और मनुष्य के अश्रु-बिंदु एक ही कारण से उद्भूत तथा एक जैसे मूल्यवान हैं। छोटे से तिनके से लेकर बड़े-बड़े वृक्षों में सुकोमल किसलयों से लेकर कठोर शिलावज्रों में, निरंतर प्रवाहमान जल से लेकर स्थिर पहाड़ों में तथा घनीभूत श्यामल अंधकार से लेकर उजली-उजली विद्युत-मालाओं में मानव-जीवन की लाघवता एवं विशालता, कोमलता एवं कठोरता, अस्थिर-चंचलता एवं अचलता और आसक्ति तथा अनासक्ति में मात्र साधर्म्यभाव ही नहीं है, अपितु ये सभी एक ही विराट् परम सत्ता के सहोदर रूप हैं। उन्होंने जब अनेकरूपा प्रकृति की परिवर्तनशील प्रवृत्तियों में ऐसी समानता की ओर दृष्टिपात किया, जिसका एक किनारा चैतन्य अनंत असीम और दूसरा उनके सीमाबद्ध हृदय में समाविष्ट था, तब प्रसुप्त प्रकृति का प्रत्येक कण एक अलौकिक व्यक्तित्व धारण करके जागरण के गीत गाने लगा—

मैं सजग चिर साधना ले,
सजग प्रहरी से निरंतर,
जागते अति प्रेम निर्झर,
निमिष के बुद-बुद मिटाकर,
एकरस है समय-सागर।' ²⁷

इन गीतों के अनुशीलन से एक बात बहुत साफ़ झलकती है कि महादेवी जी की यह इच्छा कदापि नहीं रही है कि वे जीवन-भर आँसू की मालाएँ प्रियतम की प्रस्तर-मूर्ति पर चढ़ाती रहें और जीवन के अनंत वैभव से आँखें मूँद लें। उन्होंने परिवर्तन को जीवन का पर्याय माना है। व्यक्ति सुख विश्व-वेदना में समाहित होकर जीवन को सार्थक बना देता है और व्यक्तिगत दुख विश्व के सुख में मिश्रित होकर जीवन को अमरता देता है। वे कभी निराश नहीं हुईं। जिस प्रकार जीवन के प्रभातकाल में उनके सुखों की हँसी उड़ाती हुई करुणा की उष्ण और सुशीतल वारिधारा विश्व के कण-कण से फूट पड़ी थी, उसी प्रकार सायंकाल में जब सुदीर्घ यात्रा से चकित-थकित जीवन स्वयं के ही बोझ से आक्रांत होकर कराह उठा, तब संसार के प्रत्येक कोण से एक अभूतपूर्व सुख की लालिमा विकीर्ण हो गई और वे उसी में सपनीली नींद सो गईं। उनके गीतों का विचार-दर्शन निराशा और नश्वरता में आशा एवं अमरत्व का संदेश है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है— 'गीत लिखने में जैसी सफलता

महादेवी जी को हुई, वैसी और किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध और प्रांजल प्रवाह और कहीं मिला है, न हृदय की ऐसी भाव-व्यंजना। जगह-जगह ऐसी ढली हुई और अनूठी व्यंजना से भरी हुई पदावली मिलती है कि हृदय खिल उठता है।' ²⁸

संदर्भ

1. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, विरह और अकेलेपन के लिए नया अर्थ, महादेवी, पृ० 1, संपादक डा० परमानंद श्रीवास्तव, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
2. महादेवी वर्मा, दीपशिखा, पृ० 93, भारती भंडार, इलाहाबाद
3. महादेवी वर्मा, नीहार, यामा, पृ० 26, भारती भंडार, इलाहाबाद
4. महादेवी वर्मा, रश्मि, यामा, पृ० 106, भारती भंडार, इलाहाबाद
5. वही, पृ० 75
6. महादेवी वर्मा, दीपशिखा, पृ० 3, भारती भंडार इलाहाबाद
7. परमानंद श्रीवास्तव, छायालोक की स्मृति और महादेवी की काव्यानुभूति, महादेवी, पृ० 142, संपादक परमानंद श्रीवास्तव, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
8. महादेवी वर्मा, दीपशिखा, पृ० 76, भारती भंडार इलाहाबाद
9. महादेवी वर्मा, रश्मि, यामा, पृ० 71, भारती भंडार, इलाहाबाद
10. महादेवी वर्मा, यामा, अपनी बात, पृ० 8, भारती भंडार, इलाहाबाद
11. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृ० 487, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
12. महादेवी वर्मा, सांध्यगीत, यामा, पृ० 223, भारती भंडार, इलाहाबाद
13. वही, पृ० 256
14. महादेवी वर्मा संचयन, पृ० 65-66, शिप्रा प्रकाशन, आगरा
15. महादेवी वर्मा, रश्मि, यामा, पृ० 71, भारती भंडार, इलाहाबाद
16. महादेवी वर्मा, सांध्यगीत, यामा, पृ० 224, भारती भंडार, इलाहाबाद
17. महादेवी वर्मा, नीरजा, यामा, पृ० 150, भारती भंडार, इलाहाबाद
18. महादेवी वर्मा, सांध्यगीत, यामा, पृ० 209, भारती भंडार, इलाहाबाद
19. महादेवी वर्मा, नीरजा, यामा, पृ० 135, भारती भंडार, इलाहाबाद
20. वही, पृ० 144
21. महादेवी वर्मा, अपनी बात, यामा, पृ० 6, भारती भंडार, इलाहाबाद
22. बाबू गुलाबराय, काव्य के रूप, पृ० 109, आत्माराम एंड संस, दिल्ली
23. महादेवी वर्मा, नीरजा, यामा, पृ० 162, भारती भंडार, इलाहाबाद
24. डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, हिंदी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि, पृ० 320, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा
25. डा० लक्ष्मीनारायण सुधांशु, जीवन के तत्त्व और काव्य-सिद्धांत, पृ० 254, ज्ञानपीठ प्रा० लि० पटना
26. महादेवी वर्मा, नीरजा, यामा, पृ० 142, भारती भंडार, इलाहाबाद
27. महादेवी वर्मा, सांध्यगीत, यामा, पृ० 227, भारती भंडार, इलाहाबाद
28. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृ० 487, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

□ रीडर, हिंदी विभाग, बरेली कालेज, बरेली
6/7 खन्ना भवन, सुभाषनगर बरेली।

‘शबरी’ खंडकाव्य में आधुनिक युगचेतना नीलम कुमारी

युगचेतना से तात्पर्य सामान्यतः युग की मान्यताओं, स्थितियों एवं संदर्भों का बोध होता है। वस्तुतः प्रत्येक युग की अपनी एक विशिष्ट अथवा समान विचारधारा होती है। युगचेतना की महत्ता उसके विकसित या परिवर्तित होने में है। इसलिए आदियुग की चेतना भक्तियुग की चेतना से भिन्न है तथा भक्तियुग की चेतना रीतियुग एवं आधुनिकयुग की चेतना से। इसके पीछे कारण यह है कि प्रत्येक युग की अपनी स्थितियाँ होती हैं, जिनके प्रति साहित्यकार तटस्थ नहीं रह सकता।

‘युग’ शब्द अपनी व्याप्ति में अपनी संपूर्ण संस्कृति का कालसापेक्ष अर्थ देता है। इसलिए जब हम हिंदी साहित्य के इतिहास के संदर्भ में किसी विशिष्ट युग (अथवा काल) की चर्चा करते हैं तो उस युग की सामान्य प्रवृत्तियों, परिस्थितियों एवं उपलब्धियों का अर्थबोध हो जाता है। भक्तियुग से हिंदी-साहित्य के स्वर्णयुग का सहज बोध हो जाता है और हम एक विशिष्ट काल की स्थितियों से परिचित होते हैं।’

‘युग का संबंध जितना अर्थबोध से है, उससे कहीं अधिक मूल्यबोध से। वैयक्तिक मूल्य व्यापक अर्थों में प्राप्त होने पर अपना सीमित दायरा त्याग सामाजिक बन जाते हैं, फलस्वरूप युग-विशेष की मान्यताएँ घोषित होती हैं। वस्तुतः युग-परिवर्तन मूल्यों के कारण ही होता है। इसलिए कोई मूल्य बहुत से समान धर्मों के व्यक्तियों को प्रभावित करता है, तब वह बोध की वृत्ति धारण करता है और इस तरह ‘युगबोध’ का निर्माण स्वयं हो जाता है।’

‘युग’ शब्द के साथ ‘चेतना’ शब्द का प्रयोग आज व्यापक संदर्भ में हो रहा है और इसी चेतना के कारण व्यक्तियों में विकास एवं संघर्ष की स्थिति जन्मती है। वर्तमान क्षण की संज्ञात क्रियाओं को चेतना कहकर पुकारा जाता है। चेतना व्यक्ति-सापेक्ष, सूक्ष्म एवं गतिशील अवधारणा है। आध्यात्मिक चिंतकों एवं अनुभवी मनीषियों ने क्रिया-संवेदना के मूल की आधारभूत शक्ति को चेतना कहा है।

चेतना विश्व अस्तित्वबोध की परिमाणक इकाई है। कार्यचेतना के माध्यम से ही स्वयं विश्वानुभूतियों के आकलन का केंद्रबिंदु बनकर एक विशिष्ट नवसर्जन करता है।

व्यक्ति-मन चेतना का मूल उत्स है और चेतना व्यक्ति-मन का प्रधान गुण। रवींद्रनाथ टैगोर ने भी कहा है कि मनुष्य-मात्र प्राकृतिक नहीं, मानसिक भी है। मनःप्रवित होने के कारण चेतना मननशील है। इसकी क्रिया विचार या मनन की है। विलियम जेम्स ने भी चेतना को विचार की धारा माना है। चेतना का प्रभाव हमारे अनुभव वैचित्र्य से प्रभावित होता है और चेतना की अविच्छिन्न एकता हमारे व्यक्तिगत तादात्म्य के अनुभव से। यह मननशील चेतना संकल्प-शक्ति

का वाष्प पाते ही गतिशील बनती है और भाषा के द्वारा चिर और स्मृति को स्वरूप देती है।

हर नए युग की अपनी चेतना होती है। सच्चा कवि परंपरागत धाराओं को पोषित नहीं करता। वह युगचेतना की सापेक्षता में नया सर्जन करता है। इस प्रकार पिछले युगों की सापेक्षता में हर नए युग का सर्जक कवि युगचेतना वाला होता है। वह नई चेतना, जो उसे आधुनिक युग ने दी है। युग अपनी विशिष्ट प्रकृति के कारण पिछले सभी युगों से भिन्न होता है। पिछले सभी युग भी एक-दूसरे से भिन्न हैं तथापि वे सभी समान आत्मा के एक सूत्र में बँधे हैं। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि सारे पिछले युगों की मूल चेतना आध्यात्मिक या धार्मिक रही है। मूल सत्य ब्रह्म माना गया है और उसी की अभिव्यक्ति यह जगत् है। जगत् में जहाँ कुछ हो रहा है, ईश्वरी संकेत पर हो रहा है। मनुष्य अपने पूर्वजन्म के कर्मों का फल भोगता है। अतः सामाजिक व्यवस्था के मूल में ईश्वरी न्याय है। आधुनिककाल ने युगों-युगों की इस धर्मचेतना या आध्यात्मिकता को तोड़कर फेंक दिया है और घोषणा कर दी है कि संसार ही सत्य है। इसी संसार में सुखी और तृप्त होना है। इस तरह आधुनिककाल की समग्र दृष्टि भौतिकवादी है।

जीवन के यथार्थबोध को समझना ही युगचेतना है। लेकिन जीवन किसका? स्वयं कलाकार का या कलाकार के इतर जगत् का? कलाकार अपनी अनुभूतियों के माध्यम से जगत् की अनुभूतियों और चेतना को व्यक्त करता है। वह स्वयं जगत् नहीं है, उसे जगत् को समझना होता है। जीवन का कोई एक स्तर नहीं है। वह बड़े नगरों, छोटे शहरों सामान्य कस्बों और नगण्य गाँवों में फैला है। यथार्थवादी सर्जक की, वह शहरी जीवन का चितेरा हो चाहे देहाती जीवन का, कलात्मक ईमानदारी इस बात में है कि वह उस जीवन की धड़कनों को युगचेतना के संदर्भ में समझे। उसे वह अपने व्यक्तित्व तक सीमित न रखें।

श्री नरेश मेहता जी द्वारा रचित खंडकाव्य 'शबरी' आधुनिक युगचेतना से भरपूर है। 'शबरी' खंडकाव्य सन 1977 में प्रकाशित हुआ। शबरी एक निम्न जाति की नारी है, जिसे समाज में सम्मान प्राप्त नहीं है; परंतु वह अपने ही आधार पर ऊँची उठ जाती है। प्रस्तुत खंडकाव्य में पाँच खंड हैं। आलोच्य काव्य में 'शबरी' अपनी नगण्यता-साधारणता को कर्मदृष्टि के सहारे वैचारिक उच्चता के शिखर तक ले गई है। कवि का कथन भी है— 'सामाजिक मूढ़ता, परिवेशगत जड़ता तथा अपने युग के साथ संलापहीनता की स्थिति में व्यक्ति केवल अपने को ही जाग्रत कर सकता है। व्यक्ति समाज बन सकता है।' आलोच्य खंडकाव्य के माध्यम से कवि ने युगचेतना की अभिव्यक्ति के लिए अत्यधिक प्रताडित नारी 'शबरी' के चरित्र का चयन किया है। 'शबरी' की कथा में जो समस्याएँ हैं, वे केवल शबरी की समस्याएँ नहीं हैं, बल्कि सभी मनुष्यों की समस्याएँ हैं। समस्याएँ त्रेता युग में भी विद्यमान थीं और आज भी विद्यमान हैं। इन्हीं का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक आधार पर विवेचन शबरी खंडकाव्य की विशेषता है।

'शब्दी' खंडकाव्य में सामाजिक चेतना के घटक हमें प्राप्त होते हैं। कला एक सामाजिक प्रक्रिया है। कवि कलाकार सामाजिक प्राणी होने के नाते परिस्थितिजन्य समस्त अनुभव और भविष्य के सुखद स्वप्नों को काव्य के माध्यम से व्यक्त करता रहा है। स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक पटल पर होनेवाले विविध परिवर्तनों को कवि-मानस ने बड़े करीब से देखा और अनुभव किया है। 'शबरी' उसी अनुभव-संसार की प्रतिक्रिया है, जिसमें सामाजिक युगचेतना

स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित हुई है। 'शबरी' खंडकाव्य में शबरी ने इन्हीं सामाजिक संबंधों को तोड़कर अपना जीवन सफल बनाया और शबरी के मन का चिंतन व्यक्त किया है—

'घोर वितृष्णा घिर आयी
श्रमणा शबरी के मन में,
त्यागो यह परिवार-मोह
यदि करना कुछ जीवन में।'

कवि शबरी के माध्यम से त्रेतायुग में प्रचलित सामाजिक वर्ण-व्यवस्था का दिग्दर्शन कराना चाहता है। वह यह स्पष्ट कर देना चाहता है कि निस्संदेह राम के काल में आर्यसमाज के सामाजिक ढाँचे में वर्ण-व्यवस्था को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। फिर भी यह व्यवस्था अपनी कट्टरता के बावजूद इतनी जटिल नहीं हो गई थी कि व्यक्ति अपने जन्म के वर्ण से मुक्ति ही न पा सके। कहने का अभिप्राय यह है कि उस काल में यदि कोई निम्न कुल या निम्न वर्ण में जन्म लेता था, तब यदि उसके मन में अपनी उन्नति की सच्ची लगन उत्पन्न हो जाए तो वह अपने कर्मों की श्रेष्ठता से उच्च वर्ण की महत्ता को प्राप्त कर सकता था। कवि अपने काव्य का आरंभ ही युग-संबंधी सामाजिक वातावरण के विधान के साथ करता है। सबसे पहले कवि यह स्पष्ट कर देता है कि काव्य में वर्णित कथा का संबंध त्रेतायुग के साथ है। कवि के ही शब्दों में 'त्रेतायुग की व्यथामयी यह कथा दीन नारी की' कथा के साथ सीधा संबंध रखती है। इसके बाद वह त्रेतायुग के देशकाल की अवतारणा प्रारंभ कर देता है।

'बदल गया सतयुग का सारा समाज त्रेता में,
बन अरण्य की ग्राम सभ्यता नागर थी त्रेता में।'

कवि ने शबरी को अंतर्द्वंद्व से व्यथित चित्रित किया है। वह अपने पार्श्ववर्ती समाज के हिंसात्मक वातावरण से अत्यंत उद्विग्न रहती है। परंतु आत्मीयता और ममता के बंधन को ढीला नहीं कर पाती है। चिरकाल के संघर्ष के पश्चात् इस निर्णय पर पहुँचती है कि सब बंधनों की अपेक्षा प्रभु का बंधन ही श्रेष्ठ है। इसी कारण वह गृह त्यागकर वर्णमूलक जाति के हिंसा-प्रधान वातावरण से मुक्ति पाने में सफल नहीं हो जाती है। कवि उसे सामाजिक संघर्ष की स्थिति में विन्यस्त करता है। वहाँ उसे मतंग आदि की शरण मिल जाती है और उनकी छत्रछाया में रहकर सामाजिक संघर्ष में विजय प्राप्त कर लेती है। उसकी विजय की घोषणा त्रेतायुग के आर्यजाति के नायक भगवान राम स्वयं करते हैं—

'शबरी अंत्यज है तो क्या वह भक्तिरूप है शूद्रा
है तेजरूप वह केवल शिव शक्ति रूप है शूद्रा।
है अन्य कौन त्रेता में जो श्रेष्ठ भक्त, शबरी से,
है यंत्र यज्ञ यह सबकुछ सिद्ध इसी शबरी से।'

शबरी की इस सिद्धि में युग की सामाजिक स्थिति झलक उठती है। उस युग में व्यक्ति को अपनी उन्नति करने का अधिकार प्राप्त था। निस्संदेह उसे संघर्ष करना पड़ता है; परंतु समाज के सम्मानित व्यक्ति प्रयत्नशील लोगों को उत्साहित अवश्य करते थे और उनके लिए समाज में प्रतिष्ठित स्थान देने को उद्यत रहते थे।

अतः कहा जा सकता है कि 'शबरी' खंडकाव्य में सामाजिक युगचेतना स्पष्ट रूप से

प्रतिपादित की गई है। सामाजिक वातावरण बड़ी विशदता के साथ वर्णित किया गया है।

‘शबरी’ खंडकाव्य में राजनीतिक युगचेतना भी दृष्टिगत हुई है। स्वाधीनता के बाद भारत की राजनीति सिद्धांतों की अव्यावहारिकता के कारण असफल रही। अदूरदर्शी राजनीतिज्ञ अतिवादी सिद्धांतों पर अडिग रहे। कभी-कभी राष्ट्रहित में आपदधर्म श्रेयकर होता है, किंतु उसकी ओर मुड़ने का साहस राजनीतिज्ञ नहीं जुटा पाए। जगद्गुरु बनने की अमिट अभिलाषा ने सिद्धांतों के चलते देश का स्वाभिमान भी गिरवी रख दिया, जिसका सूद आज भी भारत को पग-पग पर चुकाना पड़ रहा है। ‘शबरी’ खंडकाव्य में बताया गया है कि त्रेतायुग में राजनीति संबंधी झगड़े होते थे अर्थात् त्रेता युग में भी हिंसा, लूटपाट, हत्याएँ होती थीं—

‘हिंसा लूटपाट हत्याएँ इनका जीवन-दर्शन
रेवा से लेकर कावेरी तक फैले थे ये जन।’

हिंसा, लूटपाट, हत्याएँ ये आधुनिक युग में भी होती हैं तथा प्रचीनकाल में भी होती थीं। इसी कारण ‘शबरी’ खंडकाव्य में राजौतिक युगचेतना पाई गई है।

‘शबरी’ खंडकाव्य में आर्थिक युगचेतना भी है अर्थात् जो अर्थ कमाने के साधन प्राचीनकाल (त्रेता) में थे वे ही साधन आज के युग में भी विद्यमान हैं। व्यापार त्रेतायुग में भी हुआ करता था और आधुनिक युग में भी व्यापार अर्थ कमाने का साधन बना हुआ है—

‘व्यापारीगण सार्थ बनाकर सीमांतों तक जाते
सिंधु-तटों से माल लाद
नौकाओं में ले जाते।’

‘शबरी’ खंडकाव्य में युगचेतना के वैयक्तिक संदर्भ भी हैं। शबरी के वैयक्तिक निर्णय और वैयक्तिक विशेष ने समस्त युग को प्रभावित कर युगांतर प्रस्तुत किया। उसकी दृष्टि वैयक्तिक भाव से उद्भूत होकर समष्टि में लीन होती गई। इसलिए उसके वैयक्तिक दृष्टिकोण भी समाज में आमूलचूल परिवर्तन लाने में सफल रहे। शबरी एक अछूत नारी थी और उसका घर एक बूचड़खाना था, जहाँ हर समय पशु कटते रहते थे और मांस पकता रहता था। शबरी को यह सब पसंद नहीं था। वह इस सबसे घृणा करती थी। इसलिए शबरी ने एक दिन निर्णय कर लिया कि वह अब इस घर में नहीं रहेगी। शबरी के वैयक्तिक निर्णय का पता हमें निम्नलिखित पंक्तियों से चलता है—

‘सब बंधन से कहीं श्रेष्ठ, उस प्रभु का ही बंधन।
कुल-कुटुंब की चिंता से, अच्छा है प्रभु-आराधन।
घोर वितृष्णा घिर आयी, श्रमण शबरी के मन में,
त्यागों यह परिवार-मोह, यदि करना कुछ जीवन में।’

‘शबरी’ खंडकाव्य में नैतिक युगचेतना के भी दर्शन होते हैं। शबरी नामक श्रमणा जब अपना घर छोड़कर मतंग ऋषि के आश्रम में पहुँचती है और मतंग ऋषि उनके पास आते हैं अर्थात् सम्मुख आते हैं तो शबरी जल्दी से उठकर उनके चरणों में शीश झुकाती है—

‘देखा सम्मुख भव्य व्यक्ति था, मानों तप ही आया
शबरी ने उठकर ऋषि-चरणों में शीश झुकाया।’

शबरी हिंसा से घृणा करती है। उसे अपनी ही शबर जाति की हिंसा, लूटपाट, हत्याएँ

अनुचित लगती हैं। उसे पशु-हिंसा से भी घृणा है। कटते पशुओं का काँपना उसे स्वप्न में दिखाई देता है—

‘यह देख शबरी को, जाने कैसे लगता
कटते पशुओं का काँपना, उसको सपने में दिखता।’
शबरी सेवाभाव में ही संतोष करती है। वह मतंग ऋषि से कहती है—
‘मैं चाह रही, केवल प्रभु के, श्रीचरणों की सेवा करना
मैं कर लूँगी संतोष मिले, यदि गायों की सेवा करना।’

श्री नरेश मेहता जी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक चेतना के कवि हैं। उन्होंने शबरी के माध्यम से भारतीय सांस्कृतिक महत्ता का प्रतिपादन किया है। कवि ने मूलतः सांस्कृतिक विकास की यात्रा को रूपायित किया है। कवि ने ऐसे प्रतीक पात्रों को ग्रहण किया है, जो समाज के तथाकथित विद्वानों का विरोध करते हैं। अपने चरित्र के बल पर, तपस्या के बल पर, तर्क के बल पर ये सामान्य वर्ग के पात्र उच्चवर्ग की वर्णीयता पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं? परंपरा से चले आ रहे, जड़ विचारों-धारणाओं पर ये पात्र ऐसे प्रहार करते हैं कि स्तंभ लगते जड़ विचार चरमराकर ढह जाते हैं।

प्रस्तुत काव्य में शबरी पशु-हिंसा से दूर अपने परिवार की मोह-माया छोड़कर भगवान की भक्ति ग्रहण करती है और अध्यात्म-पिपासा में सोचती है कि मनुष्य कितना मूढ़ है, जो यह नहीं जानता कि इसका क्या परिणाम होगा? शबरी आत्मा की उन्नति को तथा प्रभु-आराधना को उच्चवर्ग तक ही सीमित नहीं मानती।

‘शबरी’ खंडकाव्य में युगचेतना के धार्मिक संदर्भ भी हैं। शबरी परिवारवालों के पास रहना पसंद नहीं करती है। परिवार के लोग उसे हत्यारे प्रतीत होते हैं। एक दिन शबरी अपने परिवारवालों को छोड़ देती है और शबरी के मानस की यह पीड़ादायिनी अवस्था उसमें भगवद्भक्ति जगाती है।

अंततः वह अर्द्धरात्रि में अपने घर-परिवार का मोह त्यागकर, बच्चों को सोता छोड़कर भगवद्भक्ति के लिए पंपासर पहुँचती है। पंपासर में शबरी मतंग ऋषि के आश्रम में पहुँचती है।

‘शबरी’ खंडकाव्य में कवि ने शबरी के माध्यम से आधुनिक युगचेतना का निर्माण किया है। आधुनिक मानव की समस्याओं को दर्शाया है। आधुनिक युग की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक परिस्थित से परिचित करवाया है। अनास्था, अविश्वास, कुंठा, निराशा, आत्मघात, हिंसा आदि नकारात्मक मूल्यबोध ने युगचिंतन को गहरे से आच्छादित किया है। खंडकाव्यकार ने इस स्थिति को जटिलता से पहचानकर सत्य, मर्यादा और आस्थावादी मूल्यों की पुनःस्थापना का प्रयास किया है। विकृतियों के संदर्भ में कवि द्वारा नई नैतिकता की माँग स्वाभाविक है। यह कवि के साहित्य और समाज के शाश्वत दायित्व हैं।

सारांशतः प्रस्तुत खंडकाव्य ‘शबरी’ में प्राचीन रूढ़ियों, विषमताओं, विकृतियों, विसंगतियों को नकारकर आस्था, प्रेम, मर्यादा तथा सत्य जैसे मूल्यों पर बल दिया गया है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक स्तरों पर प्राचीन का परिष्कार कर नवीन युगचेतना का संस्कार ‘शबरी’ खंडकाव्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

□ 55 लिंक नगर, लाडोवाली रोड, जालंधर

वैदिककाल में प्रतिनिधि संस्थाएँ : सभा एवं समिति

जगबीरसिंह, शोधछात्र, इतिहास विभाग

चौधरी चरणसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ

वैदिक आर्यों के राजनीतिक सिद्धांतों एवं उनके व्यावहारिक रूप के अध्ययन हेतु उनके जीवन से संबंध रखनेवाली संस्थाओं का क्रमबद्ध एवं विधिवत् अध्ययन करना अनिवार्य हो जाता है। वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस काल में कतिपय प्रतिनिधि संस्थाओं का आविर्भाव हो चुका था। वैदिक काल में राष्ट्रीय स्तर पर भी कुछ संस्थाएँ अपना कार्य करती थीं और उनके कुछ नियम भी निर्धारित होते थे, जिनके अनुसार उन संस्थाओं का कार्य संपन्न होता था। इन संस्थाओं में अपने-अपने क्षेत्राधिकार के अनुसार जीवन-संबंधी समस्याओं पर गंभीरता एवं शांतिपूर्वक विचार किया जाता था। वेदों में उल्लिखित इन संस्थाओं में सभा-समिति विशेष महत्त्वपूर्ण थी। इन संस्थाओं के विषय में वैदिक साहित्य में जो सामग्री हमें उपलब्ध है, उसके आधार पर आर्यों की इन संस्थाओं का परिचय इस प्रसंग में दिया गया है।

सभा :

वैदिक आर्यों की प्रतिनिधि संस्थाओं में सभा का प्रमुख स्थान था। यह आर्यों की राष्ट्रीय संस्था थी। सभा अत्यंत प्राचीन संस्था है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में सभा का अनेक बार उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद में सभा और समिति को प्रजापति अर्थात् राजा की दो पुत्रियाँ कहा गया है।¹ इसका अभिप्राय यह है कि राजा ही सर्वप्रथम सभा और समिति नामक दो संस्थाओं का जन्मदाता था। इसी प्रकार वेद के एक प्रसंग में ब्राह्मण अथवा आदिपुरुष से सभा की उत्पत्ति बतलाई गई है।² इससे भी ज्ञात होता है कि सभा नामक संस्था अत्यंत प्राचीन है।

इन प्रसंगों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिककालीन प्रतिनिधि संस्थाओं की उत्पत्ति प्राचीन प्रजापति, आदिपुरुष अथवा ब्राह्मण से हुई है। इसी प्रकार वैदिक सभा की उत्पत्ति भी आदि सृष्टि के साथ हुई थी।³ सभा का सर्वप्रथम निर्माण चाहे जिसने भी किया हो और जिस भी काल में हुआ हो, परंतु वैदिक आर्यों की जिन संस्थाओं का उल्लेख वैदिक साहित्य में है, उनमें सभा एक ऐसी संस्था है, जिसके विषय में सबसे अधिक परिचयात्मक प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध है।

‘ऋग्वेद’ में सभा का कई बार उल्लेख हुआ है। एक स्थान पर ‘सभासु’ कहकर कई प्रकार की सभाओं का संकेत है। यजुर्वेद में भी सभा का बहुवचन में निर्देश है। तैत्तिरीय संहिता में ब्राह्मणों की सभा का वर्णन है। मैत्रायणी संहिता में राजा की सभा का वर्णन है। इससे पता चलता है कि सभा काफ़ी प्राचीन संस्था है और वैदिक काल में यह अनेक रूपों में प्रचलित थी। सभा-समिति की प्राचीनता को लेकर अनेक विद्वानों ने अपने मत दिए हैं, जिनमें सबसे पहले ‘सभा’ शब्द की प्राचीनता स्पष्ट करने का प्रयास हॉपकिंस नामक विद्वान ने किया, जिसने ‘सभा’ शब्द का संबंध जर्मन भाषा के शब्द ‘सिप्पे’ से जोड़ा है और मूलतः संबंध प्राचीन यूरोपीय भाषा

के 'सुब' और गॉथिक भाषा के 'सिब्ज' से जोड़ा है।' ⁴

सभा के विषय में विविध मत :

वैदिक काल में सभा का वास्तविक स्वरूप क्या था, इस विषय में विद्वानों में काफी मतभेद है। कुछ विद्वान सभा-स्थल को ही सभा मानते हैं, कुछ ग्रामसभा को सभा कहते हैं, कुछ सभा का संबंध ग्राम-मात्र से मानते हैं और कुछ सभा को समिति का अंग मानते हैं। इस प्रकार वेदकालीन सभा की विद्वानों ने अनेक रूपों में कल्पना की है। इनमें से कुछ विद्वानों के प्रमुख मत इस प्रकार हैं :

प्रो० आल्फ्रेड हिलेब्रांड का विचार है कि सभा और समिति एक ही संस्था थी। सभा उस स्थान को कहा जाता था, जहाँ पर लोग इकट्ठे होते थे। समिति एकत्रित लोगों के समूह को कहा जाता था। इस प्रकार के जनसमूह के द्वारा किसी समस्या के समाधान-हेतु विचार-विमर्श किया जाता था। डा० लुडविग का मत है कि सभा और समिति एक प्राचीन संस्था के दो सदन थे। इन दोनों में जन-साधारण और उच्च वर्ग के लोग भाग लेते थे। प्रो० एच०एफ० सिमेर का मानना है कि 'सभा' ग्राम संस्था थी और 'समिति' पूरे 'जन' की केंद्रीय परिषद् थी। डा०के०पी० जायसवाल का मत है कि समिति एक राष्ट्रीय संस्था थी। यह राजा के चुनाव में अहम भूमिका निभाती थी। यह मुख्यतः केंद्रीय न्यायालय के रूप में भी कार्य करती थी।

डा० अततेकर का मत है कि सभा एक ग्रामीण संस्था थी। इसका मुख्य कार्य न्यायिक है। समिति एक केंद्रीय संस्था थी। केंद्रीय शासन और सेना पर समिति का काफी प्रभाव होता था। इन विद्वानों के विशेष विचारों के अलावा वैदिक साहित्य में भी कुछ उल्लेखनीय तथ्य प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर सभा-समिति के स्वरूप का ठीक-ठाक अनुमान लगाया जा सकता है। ऋग्वेद के 'एक मंत्र में जुआरी जुआ खेलने के लिए सभा में जाता है, इस प्रकार का उल्लेख मिलता है।' ⁵ ऋग्वेद के इस तथ्य से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में जुआरियों का अड्डा भी सभा कहलाता था। अथर्ववेद के एक अन्य मंत्र में स्पष्ट उल्लेख है, 'कि सभा-समिति और सेना नामक संस्थाएँ ब्राह्मण राजा के पीछे चलीं।' ⁶ इसी वेद के एक अन्य मंत्र में सभा-समिति में सुंदर व्यक्तित्व की प्रशंसा की गई है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सभा-समिति वैदिककालीन स्वतंत्र संस्थाएँ थीं और उनमें सुरुचिपूर्ण भाषण को महत्त्व दिया जाता था। अथर्ववेद के एक स्पष्ट निर्देश के अनुसार, 'सभा के सदस्य सभ्य एवं सभासद कहलाते थे।' ⁷ वे सभा में भाषण किया करते थे।

इसमें संदेह नहीं कि सभा-भवन, सभा की बैठक के स्थान को भी सभा ही कहते थे। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सभा संस्था नहीं थी। सभा केवल स्थानीय अथवा ग्राम की संस्था-मात्र भी न थी। सभा-समिति दोनों का अलग-अलग अस्तित्व वेदों में स्पष्ट बतलाया गया है। इसमें भी संदेह नहीं है कि स्थानीय अथवा ग्राम्य स्तर पर भी सभाएँ होती थीं, परंतु उससे उनके केंद्रीय संस्था होने में किसी प्रकार का संदेह करना उचित नहीं है।

सभा शब्द का अर्थ :

सभा का शाब्दिक अर्थ चमकना है। स+भा। स-सहित, भा-तेज अर्थात् प्रकाश या कांति। इस अर्थ में सभा वह है, जो चमकती थी अर्थात् इस संस्था में तेजस्वी और विवेकशील श्रेष्ठ लोग भाग लेते थे। सभा शब्द के नामकरण पर प्रकाश डालते हुए पारस्कर गृह्य सूत्र के

टीकाकार जयराम ने व्याख्या प्रस्तुत की है कि स+भा, 'स' का अर्थ है साथ, जो धर्म के साथ या धार्मिक विषयों पर विचार के साथ, 'भा' अर्थात् शोभित होती है। इस प्रकार से सभा वह संस्था थी 'जिसमें धर्म या न्याय-संबंधी विषयों पर विचार होता है तथा जो सज्जनों से शोभित होती थी।'⁸

सभा एक ओर प्रजा का हितचिंतन करती है तथा दूसरी ओर राजा के कार्य में सहयोग देती है। इस प्रकार सभा राजा और प्रजा दोनों का सहयोग करती है और दोनों में सामंजस्य स्थापित करती है। सभा का एक अन्य अर्थ यह भी हो सकता है कि स+भा अर्थात् जिसके सदस्य, भा अर्थात् तेज या गौरव से युक्त होते थे। सभा के सदस्यों को अथर्ववेद में 'पितर' कहा गया है। 'पितर' का अर्थ है—पिता के सदृश। इससे स्पष्ट है कि 'सभा के सदस्य वृद्ध, विद्वान और आदरणीय व्यक्ति ही होते थे।'⁹

वैदिक काल में 'सभा' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न आशयों से हुआ है। ऋग्वेद की 'एक ऋचा में सभा को अक्ष (पासा) और जुआ खेलने का जमाद कहा गया है।'¹⁰ उत्तर-वैदिक काल में सभा शब्द का प्रयोग सामूहिक नृत्य, संगीत आदि क्रीड़ाओं के स्थल के रूप में भी किया जाता था। सभा के स्वरूप पर विचार करते हुए हॉपकिंस कहते हैं कि 'महाकाव्य' में सभा को अनेक रूपों में पाते हैं। कहीं पर वह न्यायसभा अर्थात् न्यायालय है तो कहीं राजकीय सभा अर्थात् राजदरबार है, कहीं आमोद-प्रमोद के लिए एकत्र सामाजिक सभा है तो कहीं राजनीतिक सभा यद्यपि यह कहना कठिन है कि उपर्युक्त कथन में सभा के जिस स्वरूप का वर्णन हुआ है, उसका संबंध किस काल-विशेष से है।

सभा का संगठन :

सभा के संगठन के विषय में समुचित मात्रा में प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। संपूर्ण वैदिक साहित्य में इस विषय का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं है। वेदों के आधार पर केवल सभा के संगठन की रूपरेखा का अनुमान किया जा सकता है। सभा-सदस्यों की नियुक्ति एवं उनकी समय-सीमा, उसकी निर्माण-विधि अथवा कार्य-प्रणाली आदि पर कुछ भी प्रकाश स्पष्टतः नहीं डाला गया है। सभासदों की उपस्थिति के नियम, गणपूर्ति आदि विषयों का भी उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं है। इसलिए इस शोध-पत्र में इस प्रसंग में इन विषयों का परिचय सप्रमाण दिया जाना संभव नहीं है। परंतु सभा के संगठन के विषयों में जो कुछ भी अल्प एवं अस्पष्ट सामग्री संकेतों के रूप में उपलब्ध है, उसके आधार पर वैदिक सभा के संगठन का कुछ परिचय दिया गया है।

'सभा' का मूल जनजातीय स्वरूप ऋग्वैदिक काल में ही क्षीण पड़ने लगा, जबकि सामाजिक वर्ग विकसित अवस्था में नहीं थे। समाज में भेदभाव और राजपद में स्थायित्व नहीं आया था। कालांतर में यह एक जनजातीय सभा रही होगी। कुछ समय के बाद अभिजात्य वर्ग के धन-संपन्न लोगों के द्वारा सभा का गठन किया जाने लगा। यही लोग राजा के परामर्श-मंडल में भी शामिल होते थे। वैदिक काल में 'सभा का विकास उसी प्रकार से हुआ, जिस प्रकार से ट्युटनों की सरदार परिषद्, रोमनों की सिनेट् या ऐंग्लोसैक्सनों का विरनाजेमुर विकसित हुआ।'¹¹

सभा की सदस्यता :

सभा की सदस्यता कठिनाई से प्राप्त होती थी। सदस्यता की प्राप्ति-हेतु कतिपय

विशिष्ट गुणों एवं योग्यताओं का धारण करना आवश्यक था। इस तथ्य की पुष्टि ऋग्वेद के एक मंत्र में 'सोम की उपासना का फल बतलाते हुए इस प्रकार की गई है— 'जो पुरुष श्रद्धा-भक्ति के साथ सोम की उपासना करता है, सोम उस भक्त के लिए दूध देनेवाली गाय, द्रुतगामी अश्व, कर्तव्यपरायण, गृह, सत्कार, कार्य में कुशल, पितृभक्त, विदथ की सदस्यता-योग्य सभा का सदस्य बनने योग्य पुत्र प्रदान करता है।' ¹² इस मंत्र में स्पष्ट बतलाया गया है कि वैदिक सभा की सदस्यता प्राप्ति लोक की दृष्टि में विशेष राष्ट्रीय सम्मान मानी जाती थी। इस पद की प्राप्ति हेतु विशेष गुणों एवं योग्यताओं को धारण करना अनिवार्य था।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि 'सभा के सदस्य के लिए 'सभेय' सभ्य और सभासद, ये तीन शब्द प्रचलित थे।' ¹³ ऋग्वेद और यजुर्वेद में सभेय शब्द का प्रयोग मिलता है और अथर्ववेद में सभ्य और सभासद शब्द का प्रयोग मिलता है। अथर्ववेद के एक मंत्र से ज्ञात होता है कि सभासद का यह कर्तव्य होता था कि वह सभा में केवल अपनी योग्यता ही प्रदर्शित न करे, अपितु सभा के अनुशासन का भी पालन करे। ऐसा कोई कार्य न करे, जिससे अभद्रता या अशिष्टता प्रतीत हो। अतएव सभासद के द्वारा सभा की सुरक्षा और समिति प्रतिष्ठा की प्रार्थना की गई है। सभा-सदस्यों की संख्या के विषय में वेदों में कोई उल्लेख नहीं है। बृहस्पति स्मृति के अनुसार, 'सभा-सदस्यों की संख्या सात, पाँच या तीन होती थी। आवश्यकतानुसार सदस्यों की संख्या बढ़ाई जा सकती थी।' ¹⁴

सभा-समिति की सदस्य-संख्या के संबंध में भी एकता का अभाव है। वैदिक-साहित्य-सभा शब्द का मुख्यतः प्रयोग दो रूपों में दिखाई देता है। एक रूप मंत्रिपरिषद् अथवा दूसरा राजसभा का है। मंत्रिपरिषद् में कुछ गिने-चुने सदस्य होते थे और राजसभा में सदस्यों की अनेक समितियाँ होती थीं। इसलिए राजसभा को लघुवार्थ मात्र समिति कहने की परंपरा पड़ गई थी। वेदों में किसका प्रयोग किस अर्थ में कहाँ हुआ है, इसकी कसौटी इनकी सदस्य-संख्या मानी जा सकती है। अथर्ववेद के अनुसार यह संख्या 'दशावरा' थी, क्योंकि इसकी सदस्य-संख्या अधिक-से-अधिक नौ तक थी, जबकि ऋग्वेद के अनुसार यह संख्या तैतीस थी। इस प्रकार से सभा या राजसभा को लेकर भी कुछ मतभेद अवश्य रहे हैं, जिसके आधार पर वैदिककालीन सभा के सदस्यों की संख्या के बारे में स्पष्ट रूप से कहना कठिन है।

सभापति :

वैदिक संहिताओं में सभा के अध्यक्ष की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। यजुर्वेद में सभा के अध्यक्ष को सभापति की संज्ञा दी गई है। यजुर्वेद में सभापति का उल्लेख जिस रूप में है, उससे ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य जनता में सभापति का पद विशेष महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। इस वेद में जहाँ राज्य के सभापति के प्रति भी उसी रूप में विशेष सम्मान प्रदर्शित करने के निमित्त आदेश दिया गया है। यजुर्वेद में प्राप्त इस संकेत से ज्ञात होता है, 'कि वैदिक समाज में सभा के सभापति का पद अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं प्रतिष्ठित समझा जाता था।' ¹⁵

सभा की बैठकें इसी सभापति की अध्यक्षता में होती थीं। सभापति की नियुक्ति किस प्रकार और किसके द्वारा होती थी, इस विषय में वैदिक-साहित्य में कहीं कुछ भी उल्लेख नहीं है। अतः इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार सभापति के विशेष कर्तव्य एवं अधिकार क्या थे, इस विषय की सामग्री के अभाव के कारण कुछ कहना

उचित नहीं है।

सभा के कार्य :

सभा के कार्यों के संबंध में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ ग्रंथों में आए उद्धरणों के सहारे केवल कुछ अनुमान लगाए जा सकते हैं। सभा के स्वरूप और कार्यक्षेत्र को लेकर अनेक विद्वानों में मतभेद है। यह सभा न्यायालय का कार्य करती थी। पारस्कर गृह्यसूत्र में 'सभा को 'आपति' और 'घोरता' कहा है।'¹⁶ यह सभा आपति और घोरता अपराधियों के लिए सिद्ध होती थी। इसीलिए सभा के लिए इस प्रकार का नामकरण मिलता है। सभा के न्याय-कार्य के संबंध में ऋग्वेद में एक उल्लेख मिलता है कि 'सभा से लौटकर सफलतापूर्वक आनेवाले के मित्रों को प्रसन्न आनंदित कहा गया और स्वयं लौटकर आनेवाले को कलंक या अपराध से रहित बतलाया गया है।'¹⁷ वैदिककाल में सभा का प्रधान कार्य विवादग्रस्त विषयों पर विचार करना और तदनुसार निर्णय देना था।

सभा में राजनीतिक और प्रशासनिक कार्यों का भी संपादन होता था। वैदिकसाहित्य के अध्ययन के बाद यह बोध होता है कि सभा को न्यायपालिका और कार्यपालिका दोनों प्रकार के अधिकार थे। मैकडोनेल महोदय का यह भी कहना है कि न्यायिक कार्य पूरी सभा नहीं, बल्कि उसकी स्थाई समिति संपन्न करती थी। डा० के०पी० जायसवाल ने भी सभा के न्यायिक साक्ष्य प्रस्तुत किए हैं। 'सभा को 'कष्ट' और 'प्रचंड' कहा गया है, जिससे यह साबित होता है कि सभा में किसी भी अपराधी को चाहे वह ग़रीब या अमीर हो, विधि के अनुसार दंड दिया जाता था।'¹⁸

अथर्ववेद में 'सभा के लिए 'नरिष्ठा' शब्द प्रयुक्त हुआ है।'¹⁹ सायण नामक विद्वान् ने 'इस शब्द की व्याख्या अनेक लोगों के ऐसे संकल्प के रूप में की है, जो तोड़ा नहीं जा सके या जिसका उल्लंघन नहीं हो सके।'²⁰ डा० के०पी० जायसवाल ने भी यहाँ अपना मत दिया है कि सभा का संकल्प सभी के लिए बंधनकारी और अनुलंघनीय था। सभा में चरागाहों से संबंधित मामलों पर भी विचार-विमर्श होता था, क्योंकि पशुपालन आर्यों का मुख्य व्यवसाय था। आर्य लोग सभा में भी गायों की प्रशंसा करते नहीं अघाते थे और बड़े ओज के साथ उनकी शक्ति का स्मरण करते थे।

राजा सभा के सदस्यों के साथ विचार और परामर्श करता था। सभा के परामर्श के बाद निर्णय लेने का अधिकार स्वयं राजा का था। सभा का एक अन्य कार्य विश्राम के रूप में सेवाएँ प्रदान करना था। 'नल-दमयंती ने सभा में विश्राम लिया था, इसका उल्लेख महाभारत में मिलता है।'²¹

उपर्युक्त उद्धरणों से भी यही सिद्ध होता है कि वैदिक संहिताओं में जिस सभा का उल्लेख है उसका प्रधान कार्य धर्म-निर्णय अथवा न्याय-वितरण करना था। वैदिक आर्यों के दैनिक जीवन में समय-समय पर उपस्थित होनेवाली महत्त्वपूर्ण समस्याओं की गुत्थियों को सुलझाना भी सभा का कार्य रहा होगा।

समिति :

समिति एक अन्य संस्था थी, जिसने प्राचीन भारत में व्यवस्थापिका के दायित्वों का निर्वाह किया। समिति को सभा का परवर्ती माना गया है। वेदों में समिति को प्राचीन संस्था बतलाया गया है। अथर्ववेद में समिति को सभा की यमज, भगिनी और प्रजापति की दुहिता बताया गया है।²² अथर्ववेद में एक अन्य प्रसंग आया है। उसमें सभा और समिति के क्रमिक विकास का सुंदर

वर्णन है। 'इस सूक्त में कथन है कि सबसे पहले 'विराट' दशा थी। उससे उत्क्रमण होकर 'गार्हपत्य' दशा आई। उससे भी उत्क्रमण होकर 'आहवनीय' दशा आई। उससे भी उत्क्रमण होकर 'दक्षिणाग्नि' आई। इससे भी उत्क्रमण होकर 'सभा' की दशा आई। इससे भी उत्क्रमण होकर 'समिति' की दशा आई। इससे भी उत्क्रमण होकर 'आमंत्रण' की दशा आई।'²³ इस सूक्त की सरल व्याख्या यह है कि वैदिककाल में क्रमशः विभिन्न संस्थाओं का विकास हुआ। सबसे प्रथम 'गार्हपत्य' अवस्था में लोग गृह या परिवार के रूप में संगठित हुए। तदंतर 'आहवनीय' की स्थिति में लोग सामूहिक यज्ञ आदि करने लगे। इसके बाद 'दक्षिणाग्नि' अवस्था में लोग समूह में यज्ञ करते समय प्रवचन भी करने लगे। इसके पश्चात् विधिवत् सभा का विकास हुआ। इसका कार्यक्षेत्र भी काफी विस्तृत हो गया और इसने ग्राम पंचायत का रूप ले लिया। सभा के बाद वैदिकसाहित्य में 'समिति' के विकास का उल्लेख है। समिति के कार्यक्षेत्र के अंतर्गत पूरा राष्ट्र आता था। समिति के सदस्य को सामित्य कहा गया है। इसके बाद एक बड़ी संस्था 'आमंत्रण' हुई। यह संस्था समिति के मंत्रिमंडल के रूप में विकसित हुई और यह राष्ट्र की सर्वोत्तम संस्था हुई।

समिति के बारे में डा० के०पी० जायसवाल का विचार है कि राष्ट्रीय जीवन के सब कार्य सार्वजनिक समूहों और संस्थाओं आदि के द्वारा हुआ करते थे। इस प्रकार की सबसे बड़ी संस्था हमारे वैदिककाल के पूर्वजों की 'समिति' थी। इसका अर्थ है— सबका एक जगह मिलना या एकत्र होना। यह समिति जनसाधारण अथवा विशः की राष्ट्रीय सभा थी, क्योंकि हमें पता चलता है कि सब लोगों का समूह अथवा समिति ही राजा का पहली बार चुनाव करती थी। यह माना जाता था कि समिति में सभी लोग उपस्थित हैं। 'अथर्ववेद में एक अन्य प्रसंग में त्रात्य (ब्रह्मा) का उल्लेख करते हुए वर्णन किया गया है कि त्रात्य प्रजा के पीछे चला। उसके पीछे सभा-समिति और सेना चली।'²⁴ इससे ज्ञात होता है कि सभा और समिति अत्यंत प्राचीन संस्थाएँ थीं।

समिति का महत्त्व :

ऋग्वेद और अथर्ववेद में कुछ ऐसे प्रसंग आए हैं, जिनसे समिति के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। समिति भी न्यायपालिका और कार्यपालिका के रूप में कार्य करती थी। अतः राष्ट्र के हित और अहित का उत्तरदायित्व उस पर होता था। समिति के अधिष्ठाता के रूप में समिति में राजा की उपस्थिति अनिवार्य होती थी।²⁵ राजा का उत्तरदायित्व होता था कि वह जनहित के लिए समिति का संगठन करे, जिससे शोषण, अनाचार, दुराचार, अत्याचार न हो। अथर्ववेद के एक अन्य संकेत से भी समिति का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक राज्य में समिति का अभाव अथवा उसका निष्क्रिय हो जाना लोक में महान् अनर्थ समझा जाता था। समितिहीन राज्य मृतवत् समझा जाता था। वैदिक आर्यों द्वारा सार्वजनिक जीवन-संबंधी समस्याओं को परस्पर मिल-जुलकर एवं विचारों के परस्पर आदान-प्रदान द्वारा सुलझाने और संपूर्ण राज्य की जनता के कल्याण का चिंतन कर तदनुसार साधनों को जुटाने में समिति का महान् सहयोग रहता था।²⁶

समिति का सहयोग प्राप्त न होने पर राजा का अस्तित्व संकट में पड़ जाता था। राज्य के केंद्रीय प्रशासन पर तथा सेना पर समिति का प्रभावशाली नियंत्रण था। इस दृष्टि से समिति वैदिक आर्यों की उपयोगी संस्था थी। उसके बिना उनके राष्ट्रीय जीवन का सम्यक् विकास असंभव था।

समिति का संगठन :

समिति शब्द 'सम्' और 'इति' के संयोग से बना है, जिसका अर्थ एकत्र होना है। वेदों में

जो स्फुट सामग्री प्राप्त होती है, उसके आधार पर समिति के संगठन की रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है। समिति शब्द के अर्थ को लेकर भी विद्वानों में मतभेद है। सायण ने समिति शब्द का अर्थ युद्ध से संबद्ध जनसभा से लिया है।²⁷ ग्रिफिथ ने समिति का यज्ञार्थ एकत्र सभा के रूप में अर्थ लिया है। प्रो० हिरवी ने समिति का एकत्र जनसमूह अर्थ लिया है। डा० के०पी० जायसवाल ने समिति का अर्थ राष्ट्रीय महासभा लिया है और इसे समस्त जनता की सभा कहा है।

इस प्रकार से समिति एक राष्ट्रीय स्तर की महासभा थी, जिसमें सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व होता था और इसमें सार्वजनिक जीवन से संबंधित सभी महत्वपूर्ण विषयों पर विचार-विनिमय होता था। इस प्रकार से सभा-समिति के संगठन में सबसे महत्वपूर्ण अंतर यह था कि सभा की सदस्यता का अधिकार केवल उन पुरुषों को प्राप्त था, जो राज्य में विशिष्ट पुरुष समझे जाते थे, परंतु समिति की सदस्यता के लिए कोई प्रतिबंध न था। राष्ट्र के लगभग सभी निवासी समिति में बैठ सकते थे और उसकी कार्यवाही में भाग लेने के अधिकारी थे। इसलिए संगठन की दृष्टि से सभा की तुलना में समिति अधिक उदार थी।

समिति का एक अध्यक्ष होता था। समिति के अध्यक्ष को संभवतः समिति पति कहते थे। इसी समिति पति की अध्यक्षता में समिति की बैठकें होती थीं और कार्य संपन्न होता था। अथर्ववेद के 'एक मंत्र में समिति सदस्य को 'सामित्य' कहकर संबोधित किया गया है।'²⁸ इससे ज्ञात होता है कि वैदिक समिति का सदस्य सामित्य कहलाता था। समिति द्वारा निर्धारित की गई नीति को वैदिक भाषा में मंत्र की संज्ञा दी जाती थी।

समिति के कार्य :

समिति का कार्य विभिन्न महत्वपूर्ण विषयों पर विचार करना तथा राजा के सामने अपनी राय प्रस्तुत करना था। वंधोपाध्याय का कहना है कि यह एक मनात्मक निकाय था। अलतेकर का कहना है कि 'समिति में गहरा वाद-विवाद होता था, राजनीति में नाम करने के इच्छुक नए सदस्य अपनी भाषण-कला से समिति को प्रभावित करने के लिए उत्सुक रहते थे।'²⁹ समिति के अधिकार और कर्तव्यों का विशद् वर्णन वेदों में उपलब्ध नहीं है। इसलिए समिति के कार्यक्षेत्र के बारे में स्पष्ट रूप से कहना कठिन है, परंतु अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त सामग्री के अनुसार समिति के कार्यों का वर्णन इस प्रकार है :

राजा का चुनाव : ऋग्वेद और अथर्ववेद में स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि समिति राजा का चुनाव करती थी। राजा को चुनना समिति के अधिकार-क्षेत्र में था। समिति राजा के लिए 'कुछ उत्तरदायित्व निर्धारित करती थी, जिनका निर्वाह करना राजा के लिए अनिवार्य होता था।'³⁰

राजा को पदच्युत करना : यदि राजा अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं करता था, तो समिति उसे पदच्युत करती थी और उसे राज्य से निर्वासित करती थी।'³¹

निर्वासित राजा को पुनः शासक बनाना : यदि राजा अपने अपकृत्यों के लिए क्षमा-याचना करता था, तो समिति उसे निर्वासन से बुलाकर पुनः राजगद्दी पर बैठा सकती थी।

राजा के कर्तव्य निर्धारित करना : समिति राजा के लिए कुछ कर्तव्य निर्धारित करती थी। जैसे- राज्य की सुरक्षा, राज्य की कृषि-व्यवस्था ठीक रखना, राज्य में जन-कल्याणकारी कार्य करना और राज्य की श्रीवृद्धि करना आदि।

योगक्षेम की व्यवस्था : राज्य के आय-व्यय पर समिति का नियंत्रण होता था और

वह जनता के योगक्षेम के लिए उत्तरदायी होती थी।

विचार-स्वतंत्रता का अधिकार : समिति में किसी भी सदस्य को अपने विचार रखने की स्वीकृति होती थी, जो वक्ता अपने भाषण से सभा या समिति को प्रभावित करता था, वह विजयी होता था।

समिति में राजा की उपस्थिति अनिवार्य :

ऋग्वेद और यजुर्वेद से ज्ञात होता है कि 'समिति में राजा कि उपस्थिति अनिवार्य होती थी।' ³² इन वेदों में एक अन्य शब्द 'राजानः' प्रयोग हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि समिति में राजा के अतिरिक्त अन्य राजा या मांडलिक राजा भी उपस्थित होते थे।

समिति की दिव्यरूपता :

ऋग्वेद और अथर्ववेद का कथन है कि समिति देवी के तुल्य मान्य और आदरणीय है। ऋग्वेद का कथन है कि समिति दिव्य रूप में है, यह अपना उत्कृष्ट तेज चारों ओर फैलाती है।

इस प्रकार समिति वेदकालीन संस्कृति की राष्ट्रीय स्तर की संस्था थी। यह राज्य में शासन-व्यवस्था, अर्थव्यवस्था और अपराध-नियंत्रण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी। राजा का स्थायित्व समिति पर निर्भर होता था। समिति राजा पर अपना नियंत्रण रखती थी। इस संस्था ने वैदिककाल के सार्वजनिक विकास में उल्लेखनीय सहयोग दिया था।

सभा-समिति का पारस्परिक संबंध :

वैदिकसाहित्य के अनुसार सभा-समिति के आरंभिककाल में इन दोनों के गठन और कार्यों में कोई अंतर नहीं था। अथर्ववेद में इन दोनों संस्थाओं को प्रजापति की पुत्रियाँ बतलाया गया है। इसी वेद की एक अन्य ऋचा से ज्ञात होता है कि इन दोनों संस्थाओं की बैठक का कोई निश्चित स्थान नहीं होता था। चैडविक महोदय का कहना है कि 'इन दोनों संस्थाओं में एकमात्र अंतर यही था कि सभा न्यायिक कार्य करती थी, जबकि समिति न्यायिक कार्य नहीं करती थी।' ³³ कुछ समय बाद 'सभा' का रूप परिवर्तित होकर अभिजातीय बन गया और अंततः वह राजदरबार में बदल गई और 'समिति' का लोप हो गया।

सभा और समिति के स्वरूप के संबंध में विद्वानों के बीच एक मत नहीं है। हिलब्रांट के अनुसार सभा और समिति में कोई अंतर नहीं था। परंतु अथर्ववेद में कम-से-कम चार बार सभा और समिति का प्रजापति की दो पुत्रियों के रूप में उल्लेख हुआ है। ब्लुमफील्ड के अनुसार सभा एक सम्मेलन-स्थल था, जहाँ सामाजिक समारोहों के केंद्र का भी काम होता था। मजूमदार महोदय सभा को स्थानीय संस्था मानते हैं, जबकि समिति को केंद्रीय संगठन मानते हैं। इन दोनों वैदिक संस्थाओं के पारस्परिक संबंध के बारे में सामान्यतः लुडविग के विचार को स्वीकार किया गया है। उनके अनुसार समिति समस्त जनसमुदाय की संस्था थी और सभा होमरकालीन गुरुजन सभा जैसी संस्था थी। यह गिने-चुने लोगों की संस्था थी, जिसमें जनसमूह के श्रेष्ठ लोग राजा के साथ परामर्श करते थे। डा० जायसवाल का मत है कि सभा भी जनसाधारण की प्रतिनिधि संस्था थी, लेकिन यह समिति की सत्ता के अधीन कार्य करनेवाले गिने-चुने लोगों की स्थाई और अस्थाई संस्था थी। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि सभा शुरू में जनजातीय और सार्वजनिक संस्था थी और बाद में अभिजातीय बन गई, जबकि समिति ने उत्तर-वैदिककाल तक अपना जनरूप कायम रखा।

संदर्भ

1. वेदों में राजनीतिशास्त्र, डा० कपिलदेव द्विवेदी, पृ० 200
2. वेदकालीन राज्य-व्यवस्था, डा० श्यामलाल पांडेय, पृ० 136
3. वही, पृ० 136
4. प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, रामशरण शर्मा, पृ० 109
5. वेदों में राजनीतिशास्त्र, डा० कपिलदेव द्विवेदी, पृ० 202
6. वही, पृ० 202
7. प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, रामशरण शर्मा, पृ० 110
8. वेदों में राजनीतिशास्त्र, डा० कपिलदेव द्विवेदी, पृ० 203
9. हिंदू पॉलिटी, डा० के०पी० जायसवाल, पृ० 21
10. प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, रामशरण शर्मा, पृ० 110
11. वही, पृ० 114
12. प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, डा० हरिश्चंद्र वर्मा, पृ० 319
13. प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, रामशरण शर्मा, पृ० 110
14. वेदों में राजनीतिशास्त्र, डा० कपिलदेव द्विवेदी, पृ० 204
15. वेदकालीन राज्य-व्यवस्था, डा० श्यामलाल पांडेय, पृ० 142
16. हिंदू पॉलिटी, डा० के०पी० जायसवाल, पृ० 22
17. वही, पृ० 22
18. प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, रामशरण शर्मा, पृ० 112
19. हिंदू पॉलिटी, डा० के०पी० जायसवाल, पृ० 20
20. वेदों में राजनीतिशास्त्र, डा० कपिलदेव द्विवेदी, पृ० 112
21. प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, डा० हरिश्चंद्र वर्मा, पृ० 320
22. वेदकालीन राज्य-व्यवस्था, डा० श्यामलाल पांडेय, पृ० 148
23. वेदों में राजनीतिशास्त्र, डा० कपिलदेव द्विवेदी, पृ० 219
24. वेदकालीन राज्य-व्यवस्था, डा० श्यामलाल पांडेय, पृ० 148
25. वेदों में राजनीतिशास्त्र, डा० कपिलदेव द्विवेदी, पृ० 220
26. वेदकालीन राज्य-व्यवस्था, डा० श्यामलाल पांडेय, पृ० 149
27. हिंदू पॉलिटी, डा० के०पी० जायसवाल, पृ० 26
28. वेदकालीन राज्य-व्यवस्था, डा० श्यामलाल पांडेय, पृ० 150
29. प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, डा० हरिश्चंद्र वर्मा, पृ० 322
30. प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, रामशरण शर्मा, पृ० 117
31. हिंदू पॉलिटी, डा० के०पी० जायसवाल, पृ० 24
32. वेदों में राजनीतिशास्त्र, डा० कपिलदेव द्विवेदी, पृ० 224
33. प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, रामशरण शर्मा, पृ० 118



पंचायतीराज में महिला सशक्तिकरण का अध्ययन (रोहतक ज़िले के संदर्भ में)

वजीरसिंह, शोधछात्र, राजनीतिशास्त्र,

चौ० चरणसिंह विश्वविद्यालय मेरठ

डा० पूरनसिंह उज्ज्वल, शोध निर्देशक

रीडर राजनीतिशास्त्र विभाग, मेरठ कालेज, मेरठ (उ.प्र.)

किसी भी संघात्मक देश में स्थानीय-स्वशासन की व्यवस्था उसकी त्रिस्तरीय प्रशासनिक व्यवस्था का अविभाज्य अंग है। भारतवर्ष में संघीय स्तर पर केंद्रीय सरकार, प्रांतीय स्तर पर राज्य सरकार और स्थानीय स्तर पर स्थानीय शासन नागरिकों से संबंधित आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

स्थानीय स्वशासन का महत्त्व प्राचीनकाल से ही चला आ रहा है। अपितु आज भी विश्व के सभी सभ्य एवं प्रजातंत्रिक देशों में इन संस्थाओं का जाल-सा बिछा हुआ है तथा संघीय या प्रांतीय सरकारें नागरिकों के स्थानीय महत्त्व के अधिकतर कार्य इन संस्थाओं के द्वारा ही करवाने लगी हैं। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि सभी समस्याएँ केंद्रीय अथवा प्रादेशिक नहीं होतीं। अर्थात् अनेक समस्याएँ ऐसी होती हैं, जो स्थान एवं क्षेत्र की अपनी-अपनी होती हैं तथा जिनका समाधान स्थानीय निवासी ही भली-भाँति कर सकते हैं।

इसी प्रकार सत्ता, अधिकार, शक्ति एवं उत्तरदायित्व के विकेंद्रीकरण के द्वारा आधुनिक लोकतंत्रिक राज्यों में स्थानीय शासन की संस्थाओं की स्थापना देखने को मिलती है। स्थानीय स्वशासन की इकाइयाँ न केवल लोकतंत्र की आधारशिला हैं, अपितु रीढ़ भी हैं, क्योंकि यही वह माध्यम हैं, जिसके द्वारा नागरिकों को अपने मामलों का प्रबंध करने का अवसर मिलता है। जो लोकतंत्र की इस मान्यता के अनुरूप है कि सच्चे लोकतंत्र में शासन की शक्ति शिखर से निम्न तल तक बिखरी हुई होनी चाहिए।

हरियाणा में महिला सशक्तिकरण योजनाएँ :

73वें संविधान संशोधन की व्यवस्था के अंतर्गत पंचायतीराज-व्यवस्था को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया, जो कि 24 अप्रैल, 1993 से सभी राज्यों में लागू किया गया, जिसके अंतर्गत इन संस्थाओं में महिलाओं को 33 प्रतिशत आरक्षण दिया गया, जिससे महिलाओं का पंचायतीराज संस्थाओं में आना सुनिश्चित हो गया। पूरे देश के साथ-साथ हरियाणा ने भी इस अधिनियम को मान्यता दी और पंचायतीराज चुनाव, 2000 में 33 प्रतिशत महिलाओं को आरक्षण दिया गया, जो कि निम्न तालिका-1 के द्वारा दर्शाया गया है—

तालिका-1

हरियाणा पंचायतीराज में सदस्यों की स्थिति, चुनाव-2000

पंचायतीराज संस्था	कुल सदस्य	पुरुष	महिला
ग्राम सभा	54159	36231	17928
पंचायत समिति	2418	1611	807
ज़िला परिषद्	303	202	101

स्रोत- स्वशक्ति राष्ट्रीय जनसहयोग एवं बाल विकास संस्थान, नई दिल्ली, 2001

अपनी बेटा-अपना धन योजना : महात्मा गांधी के 125वें जन्मदिवस पर राज्य सरकार ने 2 अक्टूबर, 1994 को इस योजना को लागू किया, जिसके द्वारा लड़की के जन्म पर 2500 रुपये के 'इंदिरा विकास पत्र' सरकार की ओर से खरीदे जाएँगे, जो कि 18 वर्ष के बाद 25000 रुपये उसके विवाह के समय उसको प्राप्त होंगे।

स्वयं सिद्धा कार्यक्रम, 2001 : इस योजना का उद्देश्य महिलाओं में जागरूकता, आर्थिक स्वावलंबन, स्थानीय स्वशासन में भागीदारी बढ़ाने के लिए आत्मविश्वास पैदा करना है।

देवी रूपक योजना : चौधरी देवीलाल के 89वें जन्मदिवस, 2002 को इस योजना का शुभारंभ किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य स्त्री-पुरुष के घटते अनुपात को रोकना है। इसके तहत लड़की के जन्म पर 500 रुपये तथा दूसरे बच्चे जहाँ दोनों लड़कियाँ हों 200 रुपये 20 वर्ष तक प्रतिमाह तक दिए जाएँगे।

राज्य महिला आयोग का गठन (1999) : राज्य सरकार ने महिलाओं के खिलाफ भेदभाव एवं उत्पीड़न के मामलों की छानबीन करने, सरकार को समस्या के समाधान के सुझाव के लिए इस आयोग का गठन 22 दिसंबर, 1999 को किया गया।

विधवा पेंशन योजना : इस योजना के तहत 3.09 लाख विधवा महिलाओं को 350 रुपये प्रतिमाह पेंशन के रूप में मिलता है।

हरियाणा महिला विकास निगम : हरियाणा सरकार द्वारा एक सार्वजनिक उपक्रम चलाया गया, जो शहरी एवं ग्रामीण महिलाओं की प्रगति एवं विकास के लिए प्रयत्नशील है। यह निगम आर्थिक ज़रूरतमंद महिलाओं को ऋण उपलब्ध कराता है और महिला प्रशिक्षण कार्यक्रम भी चलाता है।

शोध के उद्देश्य :

1. महिला सदस्यों की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि का पता लगाना।
2. हरियाणा में महिला सशक्तिकरण कार्यक्रमों का अध्ययन करना।
3. महिला सदस्यों की पंचायतीराज में क्रियाशील भागीदारी का अध्ययन करना।

शोध-विधि और शोध क्षेत्र :

प्रस्तुत अध्ययन हरियाणा के रोहतक ज़िले की पंचायतीराज संस्थाओं से संबंधित है, जिसका मुख्य उद्देश्य महिलाओं की भूमिका का विश्लेषण करना है। इस अध्ययन में शोधकर्ता द्वारा प्राथमिक एवं द्वितीय स्रोतों का प्रयोग किया गया है। साक्षात्कार पद्धति का प्रयोग रोहतक ज़िले की सभी महिला सदस्यों- सरपंच, पंचायत समिति और ज़िला परिषद् सदस्यों पर किया गया। शोध में सन् 2000 की 91 महिला सदस्यों को शामिल किया गया। शोधकर्ता द्वारा रोहतक

जिले का चुनाव इसलिए किया गया, क्योंकि यह राजनीति क्षेत्र में काफी अहमियत रखता है और इस विषय में यहाँ पर न के बराबर अध्ययन-कार्य हुआ है।

रोहतक :

राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली से रोहतक 70 कि.मी. पश्चिम में राष्ट्रीय राजमार्ग नं० 10 पर स्थित है। यह जिला हरियाणा के प्राचीनतम शहरों में से एक है। यहाँ महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय और पंडित भगवतदयाल शर्मा स्नातकोत्तर आयुर्विज्ञान संस्थान स्थित है। रोहतक हरियाणा में साक्षरता में चौथे स्थान पर है। यहाँ सूती कपड़ों का एशिया का सबसे बड़ा बाजार भी स्थित है।

जनगणना, 2001 के अनुसार हरियाणा की जनसंख्या 2,10,82,989 है, जबकि रोहतक जिले की जनसंख्या 9,40,036 है, जो राज्य की जनसंख्या का 4.46 प्रतिशत है। जिले में 5,08,885 पुरुष और 4,31,151 स्त्रियाँ हैं। जनसंख्या की दृष्टि से रोहतक राज्य का 13वाँ और देश का 424वाँ जिला है। यहाँ पर लिंगानुपात 1000: 847 है। जिले में जनसंख्या घनत्व 1991 में 445 से बढ़कर 2001 में 539 व्यक्ति वर्ग किलोमीटर हो गया है। इस तरह रोहतक राज्य में 8वें तथा देश में 188वें स्थान पर है।

साक्षरता की दृष्टि से हरियाणा में 68.59 प्रतिशत है, जिसमें पुरुष 79.25 प्रतिशत और महिला 56.31 प्रतिशत है, जबकि रोहतक में 74.56 प्रतिशत है, जिसमें महिलाएँ 63.19 प्रतिशत एवं पुरुष 84.29 प्रतिशत है।

पंचायतीराज में महिला सदस्यों की भूमिका के निर्धारण में तथा ग्रामीण परिदृश्य के विश्लेषण के लिए ग्रामीण नेताओं की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि का अध्ययन आवश्यक है।

आयु वर्ग : आयु व्यक्ति की वह संपूर्ण विशेषता है, जिसके आधार पर समाज उसे सामाजिक स्थिति प्रदान करता है। नेतृत्व के निर्धारण में आयु एक महत्वपूर्ण कारक है। सामान्यतः ऐसा विश्वास किया जाता है कि अधिक आयु के लोग, कम आयुवालों की अपेक्षा अधिक अनुभवी एवं ज्ञानी होते हैं।

तालिका-2

महिला सदस्यों का आयु-विवरण

आयु वर्ग	ग्राम पंचायत		पंचायत समिति		जिला परिषद्	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
21 से 30 वर्ष	08	16.00	12	33.33	2	40.00
31 से 40 वर्ष	23	46.00	16	44.44	2	40.00
41 से 50 वर्ष	08	16.00	05	13.88	1	20.00
51 से 60 वर्ष	09	18.00	02	5.55	-	-
60 वर्ष से अधिक	02	4.00	01	2.77	-	-
कुल	50	100.00	36	100.00	5	100.00

स्रोत : साक्षात्कार सूची पर आधारित।

तालिका-2 के विश्लेषणात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि ग्राम पंचायत, समिति एवं जिला परिषद् में युवा वर्ग का आधिपत्य रहा है और मध्यम वर्ग को दूसरे स्थान पर

प्रतिनिधित्व मिला है, जबकि वृद्ध वर्ग का प्रभुत्व न के बराबर है। अतः स्पष्ट है कि जनता ने युवा वर्ग को ज़्यादा पसंद किया है।

राजनीतिक दलों से संबंध : सैद्धांतिक रूप से सभी राजनीतिक दल यह स्वीकारते हैं कि स्थानीय निर्वाचनों में राजनीतिक हस्तक्षेप ठीक नहीं है, परंतु व्यावहारिकता में स्थानीय निर्वाचनों में ये दल सक्रिय भूमिका निभाते हैं। आज उम्मीदवार मतदाता से पार्टी के नाम पर मत माँगता है और मतदाता भी पार्टी के नाम पर अपने मत का प्रयोग करते हैं। अतः राजनीति हर क्षेत्र में हावी होती जा रही है।

तालिका-3

महिला सदस्यों का राजनीतिक दलों से संबंध

राजनीतिक दल	ग्राम पंचायत		पंचायत समिति		ज़िला परिषद्	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
काँग्रेस	09	18.00	06	16.66	1	20.00
भाजपा	04	8.00	05	13.88	1	20.00
इनेलो	28	56.00	19	52.77	3	60.00
हविपा	04	8.00	02	5.55	-	-
बसपा	01	2.00	01	2.77	-	-
निर्दलीय	04	8.00	03	8.33	-	-
कुल	50	100.00	36	100.00	5	100.00

स्रोत : साक्षात्कार सूची पर आधारित।

तालिका-3 से स्पष्ट होता है कि ग्राम पंचायत, पंचायत समिति एवं ज़िला परिषद् स्तरों पर इनेलो पार्टी का प्रभुत्व रहा है। दूसरे स्थान पर काँग्रेस और भाजपा को तीसरा स्थान प्राप्त हुआ है। हविपा, बसपा एवं निर्दलीय सदस्यों का प्रतिशत न के बराबर है। इनेलो को हरियाणा में सत्तारूढ़ दल होने के कारण प्रभुत्व ज़्यादा मिला है।

सदस्यों की जाति-संरचना : ग्रामीण क्षेत्रों के राजनीतिक जीवन में जाति प्रभावशाली कारक है। अधिकतर इस समाज में शक्ति, स्थिति और संपत्ति उच्चजातीय समूहों में ही निहित है। परंपरागत समय में केवल सवर्ण जाति को ही महत्त्व दिया जाता था, लेकिन वर्तमान में निम्न जातियों की भी सहभागिता है।

तालिका-4

महिला सदस्यों की जाति-संरचना

जाति श्रेणी	ग्राम पंचायत		पंचायत समिति		ज़िला परिषद्	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
सवर्ण जाति	41	82.00	21	58.33	4	80.00
मध्यम जाति	07	14.00	07	19.14	-	-
निम्न जाति	03	6.00	08	22.22	1	20.00
कुल	50	100.00	36	100.00	5	100.00

स्रोत : साक्षात्कार सूची पर आधारित।

तालिका-4 के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि ग्राम पंचायत, पंचायत समिति एवं जिला परिषद् में सवर्ण जाति की बहुलता है, जबकि मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग का प्रतिनिधित्व काफी कम है। 73वें संविधान संशोधन के बाद ही निम्न जाति को प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ है।

हरियाणा पंचायतीराज अधिनियम (1994) : इस अधिनियम के प्रावधानों की महिला सदस्यों को पूर्ण जानकारी है या नहीं। प्रस्तुत अध्ययन में सदस्यों की राजनीतिक अभिरुचि एवं जागरूकता के साथ-साथ सहभागिता को भी विश्लेषित किया गया है।

तालिका-5

महिला सदस्यों को हरियाणा पंचायतीराज अधिनियम के बारे में जानकारी

पंचायती राज संस्था	हाँ	पूर्ण जानकारी नहीं	नहीं	कुल
ग्राम पंचायत	8 (16)	28 (56.00)	14 (28.00)	50
पंचायत समिति	24 (66.66)	6 (16.66)	6 (16.66)	36
जिला परिषद	4 (80.00)	1 (20.00)	-	05
कुल	36 (39.56)	35 (38.46)	20 (21.97)	91

स्रोत : साक्षात्कार पर आधारित।

तालिका-5 के विश्लेषण से पता चलता है कि कुल 36 (39.56%) सदस्यों को अधिनियम, 1994 के बारे में जानकारी है और 35 (38.46%) को पूर्ण जानकारी नहीं है जबकि 20 (21.97%) सदस्यों को कोई जानकारी नहीं है। अतः संपूर्ण जानकारी रखनेवाले सदस्यों का प्रतिशत काफी कम है।

महिला सदस्यों की बैठकों में भागीदारी :

सहभागिता के द्वारा महिलाएँ वैध एवं दृश्य रूप से निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में भाग लेती हैं। राजनीतिक संस्थाओं में उनकी सहभागिता, पहलकदमी और नेतृत्व बहुत बड़ी संख्या में न केवल उनका विकास करने में बल्कि योजना बनाने, लागू करने एवं ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में एक दृढ़ और निष्कपट स्त्री-जाति का यथार्थ चित्रण करेगा। इन संस्थाओं की बैठकों में भाग लेकर वे ग्रामीण समस्याओं का निदान कर सकती हैं।

तालिका-6

महिला सदस्यों की बैठकों में भागीदारी

पंचायतीराज संस्था	बैठकों में भागीदारी		कुल उत्तरदात्री	
	स्वयं	पति	अन्य	
ग्राम पंचायत	7 (14%)	38 (76%)	5 (10%)	50
पंचायत समिति	26 (72.22%)	8 (22.22%)	2 (5.55%)	36

जिला परिषद	5	-	-	5
	(100%)			
कुल	38	46	7	91
	(41.75%)	(50.46%)	(7.69%)	

स्रोत : साक्षात्कार सूची पर आधारित।

तालिका-6 के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तीनों ही स्तरों पर 38 (41.75%) महिला सदस्य स्वयं बैठकों में जाती हैं और 46 (50.46%) के पति तथा 7 (7.69 प्रतिशत) सदस्यों की जगह परिवार के अन्य सदस्य बैठकों में भागीदारी निभाते हैं। अतः स्पष्ट है कि आज भी महिलाएँ पूर्ण रूप से स्वतंत्र होकर भाग नहीं ले पा रही हैं।

निष्कर्ष :

प्रस्तुत अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि 73वें संविधान संशोधन के बाद पंचायतीराज संस्थाओं को वैधानिक रूप मिलने के साथ-साथ महिलाओं को भी 33 प्रतिशत आरक्षण मिल गया है, जोकि तालिका-1 से स्पष्ट है कि पंचायतीराज के तीनों ही स्तरों पर एक-तिहाई प्रतिनिधित्व महिला सदस्यों का रहा है। इसके अलावा हरियाणा सरकार ने भी महिला सशक्तिकरण को अपनाते हुए अनेक योजनाओं/कार्यक्रमों को लागू किया है। जैसे- अपनी बेटी अपना धन, स्वयंसिद्ध कार्यक्रम (2001), देवी रूपक योजना, राज्य महिला आयोग का गठन (1999), विधवा पेंशन, हरियाणा महिला विकास निगम आदि अनेक योजनाएँ प्रभावी रूप से लागू की गई हैं।

पंचायतीराज चुनाव, 2000 में महिला सदस्यों के आयु-विवरण के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तीनों स्तरों पर युवा वर्ग की बहुलता है। मध्यम वर्ग दूसरे तथा वृद्ध वर्ग को प्रतिनिधित्व काफी कम प्राप्त हुआ है। राजनीतिक दलों से संबंध के विश्लेषण से स्पष्ट है कि इनेलो से संबंध रखनेवाले सदस्यों की बहुलता है, जबकि काँग्रेस और भाजपा का बहुमत काफी कम रहा है, क्योंकि राज्य में इनेलो की सरकार सत्तारूढ़ है। महिला सदस्यों की जाति-संरचना के अध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि सवर्ण जाति का सभी स्तरों पर प्रभुत्व है, जबकि मध्यम और निम्नवर्ग का बहुमत न के बराबर है।

महिला सदस्यों से हरियाणा पंचायतीराज अधिनियम, 1994 के बारे में जानकारी के अध्ययन से स्पष्ट है कि केवल 36 (39.56%) को ही पूर्ण जानकारी है जबकि अन्य को कुछ ही जानकारी है या नहीं है। महिला सदस्यों की बैठकों में भागीदारी के अध्ययन से स्पष्ट है कि आज भी 46 (50.46%) के पति एवं 38 (41.75%) स्वयं ही भाग लेती हैं।

अतः स्पष्ट है कि आज 21वीं शताब्दी में प्रवेश करने के बाद भी महिलाएँ हर क्षेत्र में पुरुषों से पीछे हैं तथा अपने-आपको पुरुषों से निम्न मानती हैं। पुरुष भी इस दोष में भागीदार हैं, जोकि समाज में भेदभाव करते हैं तथा समानता के अधिकार का हनन करते हैं। महिलाओं को पढ़-लिखकर स्वयं आगे आना होगा और पुरुषों के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर स्वयं को हर कार्य करने में सक्षम साबित करना होगा। पुरुषों को भी इसमें अपना पूर्ण योगदान करना चाहिए, ताकि समाज में महिला शोषण से बच सके तथा समाज के विकास में सहायक बन सके।

□ पुत्र श्री ओमप्रकाश

गाँव-बहबलपुर पोस्ट-बीबीपुर (जींद) हरियाणा

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ग्रामीण समुदाय में नेतृत्व का स्वरूप बीरेंद्रकुमार यादव

ईश्वर की अद्भुत सर्जना मनुष्य है। मनुष्य ने अपने जीवन को गतिशील बनाए रखने के लिए अनेक संगठनों तथा संस्थाओं को विकसित किया। भारतीय ग्रामीण समुदाय में भी ऐसे संगठन एवं संस्थाएँ उपलब्ध हैं। गाँवों के विकास पर ही देश का विकास संभव है। यदि गाँव आत्मनिर्भर होंगे तो देश भी संपन्न होगा। ग्रामीण समुदाय को विकसित करने में ग्राम्यवासियों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

प्रत्येक ग्रामीण समुदाय में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जिनमें नेतृत्व की क्षमता पाई जाती है। ये लोग ग्रामीण समस्याओं का अपने विवेक के द्वारा समाधान करने का प्रयास करते हैं। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि नेता किसको कहा जाए। इसका उत्तर यह हो सकता है कि वह व्यक्ति जो सम्मान, सत्ता अथवा प्रस्थिति द्वारा दूसरे व्यक्तियों की क्रियाओं का नियंत्रण, निर्देशन तथा संगठन करके सामाजिक व्यवहार करने के लिए प्रेरित करता है, नेता कहलाता है। सीमित अर्थों में वह व्यक्ति, जो अनुनय-विनय की विशेषताओं तथा अपने अनुसरणकर्ताओं की स्वैच्छिक स्वीकृति के आधार पर अगुवा का कार्य करता है, नेता कहलाता है। कोई भी व्यक्ति नेता की श्रेणी में तब आता है, जब उसमें दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करने की क्षमता, कुशलता एवं निपुणता होती है।

श्री जे०बी० चितांबर का मत है कि प्रत्येक समाज की शक्ति-संरचना में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो लोगों को प्रोत्साहित करने एवं प्रेरणा देने का कार्य करते हैं। इसके साथ ही लोगों का मार्गदर्शन भी करते हैं अथवा लोगों को क्रिया करने के लिए प्रभावित करते हैं। ऐसी क्रिया को हम नेतृत्व और ऐसे व्यक्तियों को हम नेता, शक्ति धारण करनेवाले, शक्ति-मानव, शक्ति-केंद्र और शक्ति-अभिजात कह सकते हैं। ऐसे व्यक्ति समूह के अन्य लोगों से अपनी भूमिका, प्रभाव और सामाजिक शक्ति के कारण ही भिन्न होते हैं। नेतृत्व एक सार्वभौमिक एवं विश्वव्यापी घटना है।

जहाँ जीवन है, वहीं समाज है और जहाँ समाज है, नेतृत्व भी वहीं पर है। वेबस्टर कोश के अनुसार, 'नेता को एक मार्ग-निर्देशक, एक चालक, एक मुखिया, एक आज्ञा देनेवाला, एकदल अथवा समुदाय का मुखिया, व्यवहार, मत तथा कार्य में आगे जानेवाला, दूसरों द्वारा जिसका अनुगमन किया जाता हो आदि विभिन्न रूपों में परिभाषित किया गया है। यह परिभाषा नेतृत्व की विभिन्न संभावनाओं को प्रकट करती है।'

लेपियर तथा फार्न्स बर्थ के अनुसार, 'नेतृत्व वह व्यवहार है, जो दूसरे व्यक्तियों के

व्यवहार को उससे कहीं अधिक प्रभावित करता है, जितना कि उन दूसरे लोगों का व्यवहार नेता को प्रभावित करता है।'

टीड के अनुसार, 'नेतृत्व किसी लक्ष्य के लिए, जिसको वे वांछनीय मानते हैं, सहयोग करने के लिए जनता को प्रभावित करने की क्रिया है।'

उपर्युक्त विद्वानों की परिभाषाओं से नेतृत्व की चार प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं। जैसे-नेता, अनुगामी, परिस्थिति एवं कार्य। नेतृत्व किसी एक अथवा कुछ का विशेषाधिकार नहीं कहा जा सकता। इस संबंध में लूथर एवं बर्नार्ड कहते हैं, 'कोई भी व्यक्ति जो साधारण लोगों की तुलना में दूसरों को सामाजिक, मनोवैज्ञानिक प्रेरणा प्रदान करने में दक्ष हो और सामूहिक प्रत्युत्तर को प्रभावी बना देता हो, वह नेता कहा जा सकता है।'

ऑरेनस्टीन का वर्गीकरण- ऑरेनस्टीन ने गाँवों में पाए जानेवाले नेतृत्व को औपचारिक एवं अनौपचारिक दो प्रमुख भागों में बाँटा है। अनौपचारिक नेतृत्व को दो उपखंडों में विभाजित किया है-

1. औपचारिक नेतृत्व :

इस श्रेणी में गाँव के वे सभी नेता आते हैं, जिनकी नियुक्ति औपचारिक प्रक्रिया एवं नियमों के अनुसार होती है जैसे- गाँव का सरपंच, पटवारी, ग्रामसेवक, अध्यापक आदि औपचारिक नेता की श्रेणी में आते हैं।

2. अनौपचारिक नेतृत्व :

गाँव में कई ऐसे नेता होते हैं, जिनकी नियुक्ति किसी नियम अथवा सरकारी प्रक्रिया के द्वारा नहीं होती है। गाँवों में ऐसे नेता का प्रभाव अधिक होता है। ये औपचारिक नेताओं को भी प्रभावित करते हैं। इन नेताओं को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है-

(अ) स्वीकृत नेता :

ये वे नेता हैं, जिन्हें गाँव के लोग अपना नेता मानते हैं। गाँव में इनका दबदबा और प्रभुत्व होता है। इनके भी दो प्रकार हैं- सक्रिय और निष्क्रिय।

(ब) अस्वीकृत नेता :

गाँव में कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं, जो कार्य को किसी भी प्रकार से पूरा कर लेते हैं, उनमें कोई विशेष गुण नहीं होते और वे अपनी शक्ति के आधार पर ही नेतृत्व करते हैं। वे व्यक्ति शारीरिक बल प्रयोग एवं लाठी के बल पर ही अपना कार्य पूरा करते हैं, लोगों में इनका भय और आतंक छाया रहता है।

नेतृत्व को प्रमुख रूप से व्यक्ति और समूह के समान स्वार्थ पर आधारित संबंध के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो स्वतः निश्चित और निर्देशित तरीकों द्वारा व्यवहार कर रहा हो। वास्तव में नेतृत्व उसी समय अस्तित्व में आता है। एक नेता और समूह के संबंध का अभिप्राय यह होता है कि एक व्यक्ति के पीछे एक समूह अपनी स्वेच्छा तथा विवेक से, न कि किसी दबाव या आदेश के अंतर्गत चल रहा है या उसका अनुसरण कर रहा है।

नेतृत्व को दो दृष्टिकोणों के आधार पर समझा जा सकता है- प्रथम दृष्टिकोण के अंतर्गत नेतृत्व एक व्यक्ति के व्यक्तित्व के लक्षणों पर आधारित होता है, जिस व्यक्ति में ये गुण पाए जाते हैं, वही समूह का नेता होता है अर्थात् नेतृत्व को एक व्यक्तिगत घटना के रूप में देखा

जा सकता है, जिसका संबंध नेता के कतिपय व्यक्तिगत गुणों से होता है, जो उसे अपने समूह के अन्य व्यक्तियों से पृथक् करते हैं।

नेतृत्व का द्वितीय दृष्टिकोण मुख्यतः नेतृत्व के प्रकार्यात्मक पक्षों से संबंधित हैं, जिसके अंतर्गत नेतृत्व को उस समूह या परिस्थिति का परिणाम माना जाता है, जिसमें वह समूह स्थित होता है। (दुबे 1965, गिब्स 1954) इस प्रकार नेतृत्व की उत्पत्ति और विकास समूह के अंदर ही होता है। विस्तृत रूप में नेतृत्व को दो रूपों में परिभाषित किया जा सकता है— पहला प्रतीकात्मक नेतृत्व और दूसरा रचनात्मक नेतृत्व। प्रतीकात्मक नेतृत्व, करिश्माई नेतृत्व के रूप में परिलक्षित होता है, जो समाज के दूसरे व्यक्तियों के लिए उदाहरण प्रस्तुत करता है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तन प्रारंभ हुए। ग्रामीण पुनर्निर्माण के मार्ग में सामुदायिक विकास योजना तथा पंचायतीराज व्यवस्था की अहम भूमिका रही है। भारत में पंचायतें लोकतंत्र की जननी रही हैं। दो हजार वर्ष पूर्व पंचायतों का वर्चस्व था, परंतु धीरे-धीरे इन संस्थाओं के क्रियाकलापों में विसंगतियाँ आने लगीं और लोकतंत्र की बुनियाद पर बनी पंचायतें वंश-परंपरा की धरोहर बनने लगीं।

ग्रामीण समुदाय में विकास की प्रक्रिया का अवलोकन करते समय यह आवश्यक है कि इस प्रक्रिया में समाज के सभी वर्गों विशेषतः उन वर्गों का, जिनकी विकास की प्रक्रिया में मुख्य भूमिका होती है, अवलोकन करना आवश्यक है, तभी संस्थागत विश्लेषण एवं राजनीतिक प्रक्रिया में अभिजात वर्ग की भूमिका को साकार एवं सार्थक बनाया जा सकता है। किसी भी व्यवस्था में राजनीतिक संस्थाओं को केवल आर्थिक और राजनीतिक संबंधों से संबद्ध एक उपसंरचना के रूप में नहीं समझना चाहिए, जिससे समाज की संपूर्ण संरचना संबंधित हो। इस पृष्ठभूमि में नेता मात्र आर्थिक और राजनीतिक लाभार्थी नहीं होता, बल्कि वह समाज के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया में एक रचनात्मक भूमिका-निर्वाहक, दूरदर्शी, सामाजिक परिवर्तन लानेवाला व्यक्ति होता है, नेता को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए।

पंचायतीराज-व्यवस्था में परिवर्तन से ग्रामीण समुदाय में नवीन अभिजात वर्ग/ नेतृत्व का प्रादुर्भाव हुआ है। स्थानीय ग्रामीण धरातल की राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन से नेतृत्व के नवीन प्रतिमानों का उदय हुआ है। प्रस्तुत अध्ययन में ग्रामीण नेतृत्व के विश्लेषण में औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों प्रकार के नेतृत्व को सम्मिलित किया गया है।

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि—

1. ग्रामीण समुदाय में पिछड़ी जातियों एवं अनुसूचित जाति के लोगों का प्रभाव बढ़ा है एवं आगे और अधिक बढ़ने की संभावना है।
2. मध्यम एवं निम्न जातियों में जागरूकता एवं आरक्षित पद-प्राप्ति के परिणामस्वरूप ग्रामीण समुदाय में तनाव एवं असुरक्षा की वृद्धि हुई है।
3. ग्राम-पंचायतों में स्त्रियों की भागीदारी के परिणामस्वरूप परंपरागत नेतृत्व का हास हुआ है।
4. ग्रामीण नेतृत्व में उच्च जातियों का प्रभाव कम हुआ है।
5. आरक्षण सुविधा से नेतृत्व में महिलाओं की सक्रियता के बावजूद प्रभावपूर्ण निर्णयों में पुरुषों का वर्चस्व परिलक्षित हो रहा है।
6. ग्रामीण नेतृत्व में अधिक आयु, अशिक्षित की अपेक्षा कम आयु, शिक्षित व्यक्तियों की

सक्रियता बढ़ी है।

7. एकाकी परिवार एवं निम्न आयवर्ग की अपेक्षा संयुक्त परिवार तथा मध्यम आयवर्ग के लोगों को ग्रामीण नेतृत्व में अधिक अवसर प्राप्त हुए हैं।
8. परंपरागत नेतृत्व के स्थान पर प्रगतिशील नेतृत्व के विकसित होने के अधिक अवसर सुलभ हुए हैं।
9. ग्रामीण नेतृत्व पर जाति का संरचनात्मक प्रभाव है, जो शक्ति-संरचना को प्रभावित कर रहा है।
10. गुटबंदी का ग्रामीण नेतृत्व पर सकारात्मक प्रभाव है, जो शक्ति-संरचना को प्रभावित कर रहा है।
11. लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण को तथ्यपूर्ण बनाने तथा ग्रामीण समुदाय के विकास में ग्राम-पंचायतों की भूमिका सराहनीय है।

अंत में हमने अपने अध्ययन में पाया कि एक नेता के रूप में मध्यम वर्ग (पिछड़ी जाति) एवं निम्न वर्ग के लोग नेतृत्व के लिए आगे आ रहे हैं। मध्यम वर्ग एवं निम्न वर्ग का युवावर्ग अधिक सक्रिय हुआ है। यह परिवर्तन 73वें संविधान-संशोधन के उपरांत ग्रामीण समुदाय में परिलक्षित हो रहा है। हमारे अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो रहा है कि ग्रामीण नेतृत्व में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं, परंतु ये परिवर्तन सामाजिक पुनर्निर्माण की दिशा में असफल सिद्ध हुए हैं इसका प्रमुख कारण—स्वार्थवादिता, रिश्वतखोरी एवं भ्रष्टाचार है। मैंने अपने अध्ययन में यह भी पाया कि विभिन्न राजनीतिक दलों के नेता अपने व्यक्तिगत एवं जातिगत हितों के प्रति अधिक जागरूक हुए हैं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि राजनीति में जाति का प्रभाव बढ़ा है।

□ स्नातकोत्तर समाजशास्त्र विभाग
शिब्ली नेशनल महाविद्यालय, आजमगढ़

भारतीय संसद की सार्वभौमिकता

रविकुमार, शोधछात्र राजनीतिशास्त्र,

चौ० चरणसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ (उ.प्र.)

डा० रोचना मित्तल, रीडर राजनीतिशास्त्र विभाग,

शंभूदयाल कालिज, गाज़ियाबाद (उ.प्र.)

भारत में संसदीय व्यवस्था की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

हमारे देश में राजनीतिक व्यवस्था जिस प्रकार की है, उसे संसदीय लोकतंत्र कहा जाता है। हमारे देश के लिए लोकतंत्र कोई नई बात नहीं है। संसार के सबसे पुराने गणतंत्र भारत में ही जन्मे तथा पनपे हैं। संसद संस्कृत साहित्य का शब्द है। पुराने समय में राजा को सलाह देनेवाली सभा संसद कहलाती थी। बौद्धभिक्षु संघ भी बहुत कुछ संसद की तरह थे। बहुमत का फैसला, खुली बातचीत, ऊँचे पदों के लिए चुनाव, वोट डालना, समितियों द्वारा विचार आदि से हमारी लोकतांत्रिक संस्थाएँ हजारों साल पहले से परिचित थीं।

संसार के सबसे पुराने ग्रंथ ऋग्वेद में 'सभा' तथा 'समिति' के बारे में लिखा हुआ है। 'समिति' एक आम सभा या लोकसभा की तरह हुआ करती थी। 'सभा' कुछ छोटी और चुने हुए बड़े लोगों की संस्था होती थी, जिसकी तुलना आज के समय की राज्यसभा या विधान परिषदों से की जा सकती है। मध्ययुग में आकर संसद सभा और समिति जैसी संस्थाएँ गायब हो गईं। ऊपर के स्तर पर लोकतंत्रात्मक संस्थाओं का विकास रुक गया। सैकड़ों वर्षों तक हम आपसी लड़ाइयों में उलझे रहे। विदेशियों के द्वारा आक्रमण-पर-आक्रमण होते रहे। सेनाएँ हारती-जीतती रहीं। शासक बदलते रहे। हम विदेशी शासन की गुलामी में भी जकड़े रहे।

सिंध से असम तक और कश्मीर से कन्याकुमारी तक, पंचायत संस्थाएँ बराबर चलती रहीं। ये प्रादेशिक जनपद परिषदें नगर परिषद् और सभा, ग्रामसंघ तथा ग्रामसभा जैसे अलग-अलग नामों से पुकारी जाती रहीं। सच में ये पंचायतें ही गाँव की 'संसद' थीं।

भारतीय शासन-तंत्र में संसदीय संस्थाएँ सदा घूमते रहनेवाले पहिए हैं। हमारे संविधान के अनुसार केंद्रीय विधानमंडल को संसद की संज्ञा दी गई है और यह संसद द्विसदनात्मक सिद्धांत के आधार पर संगठित की गई है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 76 में लिखा है, ³ 'संघ के लिए एक संसद होगी, जो राष्ट्रपति और संसद के दोनों सदनों से मिलकर बनेगी, जिनके नाम क्रमशः राज्यसभा और लोकसभा होंगे।' संसदात्मक लोकतंत्र को प्रभावशाली बनाने के लिए भारत में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का समन्वय करना सिद्धांततः आवश्यक था, अतः राष्ट्रपति को भी संसद का अभिन्न अंग बनाया गया है।

हमारी संसद की संवैधानिक स्थिति :

डा० राजेंद्रप्रसाद के अनुसार 'लोकतंत्रात्मक प्रणाली का केंद्रबिंदु देश की संसद है।

शासन की बागडोर चाहे किसी भी दल या वर्ग के हाथ में हो, जब तक संसद को अधिकार प्राप्त है और कार्यक्षेत्र तथा कार्य-संचालन की दृष्टि से उसका स्वरूप संप्रभु है, वह राष्ट्र बड़े-से-बड़े संकट का सामना आसानी से कर सकता है।⁵ संसद की संप्रभुता का विचार ब्रिटिश संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। इस संबंध में सर एडवर्ड कोक का विचार है, 'संसद की शक्ति और अधिकार-क्षेत्र इतना सर्वोपरि है कि इसकी कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती।' डी. लोमे ने तो ब्रिटिश संसद के बारे में यहाँ तक कहा है कि 'संसद सभी कुछ कर सकती है, सिवाय पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष नहीं बना सकती है।' वस्तुतः ब्रिटिश संसद को जो अप्रतिबंधित शक्तियाँ प्राप्त हैं इसे ही 'संसदीय सार्वभौमिकता अथवा संप्रभुता' कहा गया है। संसद जो कुछ चाहे, जिस किसी भी रूप में चाहे, कानून-निर्माण कर सकती है और ब्रिटिश संसद जो कुछ कानून स्वीकृत करेगी, वह देश का कानून होगा।

हमारे देश में संसदीय ढाँचे की जिस शासन-प्रणाली को स्वीकार किया गया है, वह बहुत कुछ ब्रिटिश नमूने पर आधारित है, परंतु फिर भी हमारी शासन-व्यवस्था नितान्त संसदीय नहीं है।⁶ हमारे संविधान का स्वरूप किसी विदेशी संविधान का अनुकरण-मात्र न होकर अपने-आपमें एक अनुपम और नवीन प्रयोग है। हमारे देश के संविधान-निर्माता इस बात से भली-भाँति परिचित थे कि ब्रिटिश ढंग की संसदीय प्रभुता अपनाने में अनेक संस्थात्मक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। भारतीय संविधान-निर्माता तो भारत के लिए व्यावहारिक शासन-व्यवस्था चाहते थे, जोकि भारतीय वातावरण में पोषित हो सके और यही कारण था कि भारतीय संसद को ब्रिटिश संसद की तरह संप्रभु नहीं बनाया गया। अनेक अवसरों भारतीय संसद की संप्रभुता का प्रश्न वाद-विवाद का कारण बना। श्री पालकीवाला ने केशवानंद भारती के मामले में इसी प्रश्न को उठाते हुए संसद की शक्तियों को मर्यादित बतलाया। उनके अनुसार संसद के क्षणिक बहुमत द्वारा बुनियादी मानव-स्वतंत्रता का हरण नहीं किया जा सकता एवं संसद संविधान के अनिवार्य और स्थाई तत्वों को संशोधित नहीं कर सकती।⁸

महान्यायवादी नीरेन डे का मत था कि संसद के संविधान-संशोधन के अधिकार पर कोई सीमा नहीं लगाई जा सकती। प्रायः भारतीय संसद की स्थिति की तुलना ब्रिटिश संसद से की जाती है, जोकि उचित नहीं है क्योंकि ब्रिटेन का कोई संविधान लिखित नहीं है और कानून की दृष्टि से संसद को सार्वभौम प्रभुता प्राप्त है। डा. सुभाष कश्यप के अनुसार, 'भारत में प्रभुता केवल जनता में निहित है, संसद के अधिकार संविधान निर्दिष्ट-मात्र हैं।'⁹ नारमन डी. पामर ने लिखा है, 'भारतीय संसद विस्तृत शक्तियों का प्रयोग करती है तथा महत्वपूर्ण कार्यों का संपादन करती है। यद्यपि इसका मुख्य कार्य भारत राज्य-क्षेत्र के लिए विधियों का निर्माण करना है, तथापि इस दृष्टि से इसके कार्यों पर अनेक सीमाएँ हैं। संघीय प्रणाली तथा संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्निरीक्षण की शक्ति प्रदान करने से इनकी शक्तियाँ सीमित हो गई हैं। इसी प्रकार प्रधानमंत्री की वास्तविक शक्तियों तथा काँग्रेस दल के प्रचंड बहुमत के कारण भी संसद की शक्तियाँ सीमित हो गई हैं। संक्षेप में भारतीय संसद की सार्वभौमिकता की कतिपय मर्यादाएँ इस प्रकार हैं—

1. **लिखित संविधान** : संसद देश के लिखित संविधान की शिशु है। संसद की सार्वभौमिकता हमारे लिखित संविधान के विभिन्न प्रावधानों द्वारा सीमित है। संविधान के

अनुच्छेद 245(1) द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि व्यवस्थापन शक्तियों का उपयोग संसद संविधान के अनुसार करेगी।¹⁰ अमरीकी शासन-प्रक्रिया के सदृश भारतीय प्रणाली में भी दो प्रकार के कानूनों में अंतर पाया जाता है। ये दो प्रकार के कानून 'साधारण कानून' और 'संवैधानिक कानून' के नाम से जाने जाते हैं। साधारण कानून का निर्माण संवैधानिक कानून के अंतर्गत स्थापित विभिन्न व्यवस्थापिकाओं द्वारा किया जाता है। अतः यह स्वाभाविक है कि संविधान द्वारा स्थापित व्यवस्थापिकाएँ संविधान के विरुद्ध कानून का निर्माण नहीं कर सकतीं।

2. **संविधान संशोधन** : संविधान के अनुच्छेदों के संशोधनों हेतु संसद को राज्य विधानमंडल के पुष्टिकरण पर निर्भर रहना पड़ता है। संविधान के वे अनुच्छेद, जिनका संबंध केंद्र-राज्य संबंधों से है, यदि उनमें कोई संशोधन करना हो तो संसद को कम-से-कम आधे राज्यों के विधानमंडलों का समर्थन प्राप्त करना पड़ता है।

3. **संघवाद-संबंधी प्रावधान** : हमारे देश में संघात्मक शासन-व्यवस्था होने के कारण राज्यसूची के विषयों पर संसद की कानून बनाने की शक्ति सीमित हो गई है। प्रो. टी. के. टोपे ने लिखा है कि, 'भारतीय संसद एक संघीय संविधान के अंतर्गत विधायिका है। ब्रिटिश संसद के तुल्य इसकी शक्तियाँ असीमित नहीं हैं।'

4. **राजनीतिक परिसीमाएँ** : संसद राजनीतिक दृष्टि से भी लोकमत के प्रतिकूल कानूनों का निर्माण नहीं कर सकती, क्योंकि संसद को अंतर्राष्ट्रीय कानून का भी समुचित सम्मान करना होता है। प्रधानमंत्री और मंत्रिमंडल का भी नियंत्रण संसद पर होता है। प्रधानमंत्री संसद के निम्न सदन (लोकसभा) का विघटन करवा सकता है।

5. **न्यायिक पुनर्विलोकन** : भारत का सर्वोच्च न्यायालय संसद द्वारा पारित संविधान-विरुद्ध कानून को अवैध घोषित कर सकता है। संसदीय कानूनों को हमारे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा मान्यता देना आवश्यक है। बी.के. मुखर्जी के अनुसार, 'यह निर्णय करना न्यायपालिका का कार्य है कि अमुक कानून वैधानिक है या नहीं। न्यायालय के इसी अधिकार को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति कहते हैं। यह बात सभी को ज्ञात है कि गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य, गोपालन बनाम मद्रास राज्य तथा केशवानंद भारती आदि मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने संसद द्वारा निर्मित कानूनों को अवैध घोषित किया तथा संसद की शक्ति पर प्रतिबंध लगाए।

यह बात सत्य है कि हमारी संसद की शक्तियों का क्षेत्र लिखित संविधान एवं सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार द्वारा प्रतिबंधित किया गया है, फिर भी इसका यह अर्थ नहीं है कि संसद केवल अनुमोदन करनेवाली एवं प्रचार करनेवाली संस्था-मात्र बनकर रह गई है। वास्तव में भारत की संसद वह नीव है, जिस पर हमारे लोकतंत्र की सुंदर इमारत खड़ी है। संसद वह नदी है, जो अपनी अविरल, निर्मल और उन्मुक्त धारा से भारतीय लोकतंत्र के हर खेत को सींचती है, जिससे देश को पोषण मिलता है। संसद हमारे देश का ऐसा केंद्र-बिंदु है, जहाँ जनता की आत्मा का वास है। डा. राजेंद्रप्रसाद के शब्दों में, 'संसद एक दल की नहीं, एक बल की नहीं, किंतु सभी की है और इसलिए वह सार्वभौम है।'¹¹

यदि भारतीय संसद की शक्तियों को तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो यह अन्य संघीय व्यवस्थापिकाओं से अधिक शक्तिशाली है। अमरीकी कांग्रेस तथा आस्ट्रेलियन संसद राज्य-संबंधी विषयों पर कानूनों का निर्माण नहीं कर सकती है, परंतु इसके विपरीत भारतीय

संसद को विशिष्ट परिस्थितियों में राज्य के लिए क़ानून बनाने का अधिकार है। निष्कर्षतः भारतीय संसद की स्थिति कार्य एवं शक्ति के दृष्टिकोण से 'संसदीय प्रभुता' तथा न्यायिक सर्वोच्चता के मध्य की है। डा० राजेंद्रप्रसार के अनुसार, 'संसद की असली संप्रभुता इसी में निहित है कि वह अपने और जनता के अधिकारों के बीच भेद न करे। यदि प्रजातंत्र को स्थिर और सफल बनाना है, तो संसद को अपने अधिकारों की रक्षा के साथ-साथ जनता की आवाज़ सुनने को भी सदा तैयार रहना चाहिए।¹²

6. भारतीय संसद के अंग : भारतीय संसद के तीन अंग हैं— (1) राष्ट्रपति (2) राज्यसभा और (3) लोकसभा। यद्यपि राष्ट्रपति संसद के किसी भी सदन का सदस्य नहीं होता है, किंतु वह संसद का एक अभिन्न अंग है तथा उसकी कार्यवाहियों में भाग लेता है। वह संसद के सत्र को आहूत करता है, उसे स्थगित कर सकता है। वह संसद द्वारा पारित सभी विधेयकों पर अपनी अनुमति देता है।

7. भारतीय संसद की शक्तियाँ एवं कार्य : हमारी संसद संप्रभु नहीं है, परंतु यह विस्तृत शक्तियों का प्रयोग करती है तथा महत्वपूर्ण कार्यों का संपादन करती है। भारतीय संसद की शक्तियों का उल्लेख निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है—

1. कानून निर्माण-संबंधी शक्तियाँ : भारतीय संसद को संघीय सूची तथा समवर्ती सूची के सभी विषयों पर कानून-निर्माण की शक्ति प्राप्त है। और इसके अलावा सभी संघीय क्षेत्रों के लिए संसद को सदैव सभी विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। संकटकाल में राज्य-सूची के विषयों पर संसद कानून बना सकती है। जब कभी दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमंडल प्रस्ताव पास करके संसद से किसी विषय के बारे में कानून बनाने की प्रार्थना करें तो संसद कानून बना सकती है। इसी प्रकार जब राज्यसभा दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करके राष्ट्रीय हित में संसद को राज्य-सूची के किसी विषय विशेष पर कानून बनाने का अनुरोध करे तो संसद कानून बना सकती है।

2. कार्यपालिका शक्तियाँ : भारत में भी संघात्मक शासन प्रणाली अपनाई गई है, जिसके अनुसार मंत्रिमंडल संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। मंत्रिमंडल उसी समय तक सत्तारूढ़ रह सकता है, जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। संसद अनेक तरीकों से कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है। संसद के सदस्य 'अविश्वास के प्रस्ताव' के प्रस्ताव 'स्थगन प्रस्ताव' एवं 'निंदा प्रस्ताव' द्वारा सरकार पर निमंत्रण रखते हैं तथा उसे उत्तरदायी बनाए रखते हैं। संसद के सदस्य मंत्रियों से सरकारी नीतियों के संबंध में प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं तथा सरकार की आलोचना कर सकते हैं। संसद-सदस्य बजट को अस्वीकार करके, मंत्रियों के वेतन में कटौती का प्रस्ताव स्वीकृत करके और सरकारी विधेयक में संशोधन करके अपना विरोध प्रदर्शित कर सकते हैं।

3. वित्तीय कार्य : संविधान द्वारा संसद को वित्त पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त है। सभी कर-संबंधी प्रस्ताव तथा अनुदानों की माँगें संसद द्वारा स्वीकार होने पर ही प्रभावी होती हैं, क्योंकि संविधान के अनुसार 'विधि के प्राधिकार' के बिना न तो कर लगाया जाएगा और न इकट्ठा किया जाएगा। संसद ही प्राक्कलन और लोकलेखा समिति को नियुक्त करती है तथा नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन पर विचार कर उचित कार्यवाही करती है। संसद

की स्वीकृति के बिना सरकार को राष्ट्रीय वित्त में से खर्च करने का अधिकार नहीं होता है।

4. **संविधान में संशोधन-संबंधी शक्तियाँ** : संविधान के अनुसार संसद को यह अधिकार है कि वह संविधान में भी संशोधन कर सकती है। यहाँ तक कि संविधान के संशोधन की जो प्रक्रिया है, उसको भी संसद संशोधित कर सकती है।

5. **राज्यों से संबंधित शक्तियाँ** : संविधान में संसद को यह अधिकार दिया गया है कि राज्यों की इच्छा के बिना भी वह उनकी सीमाओं तथा नामों में परिवर्तन कर सकती है, नवीन राज्य का निर्माण कर सकती है तथा किसी राज्य का अस्तित्व समाप्त कर सकती है। संसद को भारतीय नागरिकता के निर्धारण का भी अधिकार है।

6. **निर्वाचन-संबंधी कार्य** : संविधान के अनुच्छेद 54 के अनुसार संसद को निर्वाचन-संबंधी कुछ शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए गठित निर्वाचक मंडल के अंश हैं। अनुच्छेद 66 के अनुसार संसद सदस्य उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं।

7. **महाभियोग का अधिकार** : संसद के दोनों सदनों द्वारा निर्धारित विशेष प्रक्रिया के आधार पर राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया जा सकता है। इसी प्रकार उच्चतम या उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों पर महाभियोग लगाने तथा उन्हें पद से हटाने का प्रस्ताव भी संसद पारित कर सकती है।

इस प्रकार संसद की उपर्युक्त शक्तियों को देखते हुए कहा जा सकता है कि भारतीय संसद की शक्तियाँ एवं कार्य विस्तृत हैं। संसद सार्वजनिक विवाद-स्थल का कार्य करती है। इस दृष्टि से संसद लोकप्रिय भावना के दर्पण तथा शिक्षक के रूप में कार्य करती है।¹³ परंतु ये बात महत्वपूर्ण है कि संसद को लिखित संविधान के अंतर्गत ही अपनी कार्यवाहियाँ चलानी पड़ती हैं। जब भी संविधान के जरिए संसद के कार्य में रुकावट पैदा होती है, संसद संविधान में संशोधन कर सकती है।

संदर्भ

1. डॉ. सुभाष कश्यप, संसदीय लोकतंत्र का इतिहास, पृ० 222
2. श्री पुखराज जैन, भारतीय शासन और राजनीति, पृ० 28
3. भारतीय संविधान, अनुच्छेद 79
4. नारमन डी० पामर, दि इंडियन पालिटिकल सिस्टम, पृ० 117
5. डा० राजेंद्रप्रसाद, स्वतंत्र भारत की झलक 1973, पृ० 74
6. डॉ. सुभाष कश्यप, संविधान की आत्मा, पृ० 74
7. डॉ. सुभाष कश्यप, संवैधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष, पृ० 349
8. नई दुनिया, इंदौर, 5 दिसंबर 1972, पृ० 22
9. दिनमान, नई दिल्ली, 27 मई 1973, पृ० 16
10. भारतीय संविधान, अनुच्छेद 245
11. डा० राजेंद्रप्रसाद, स्वतंत्र भारत की झलक 1973, पृ० 140
12. वही, पृ० 48
13. डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी, भारतीय संसद : नई दृष्टि, पृ० 110



शिक्षित नवयुवतियों के वैवाहिक अभिमत में परिवर्तन

श्रीमती अंजू

मनुष्य की विभिन्न प्राणिशास्त्रीय आवश्यकताओं में यौन-संतुष्टि एक आधारभूत आवश्यकता है। मानव के अतिरिक्त अन्य प्राणी भी यौन-इच्छाओं की पूर्ति करते हैं लेकिन इसका आधार मात्र दैहिक होता है। मानव में यौन-इच्छाओं की पूर्ति का आधार अंशतः सामाजिक एवं सांस्कृतिक है। यौन-इच्छाओं की संतुष्टि ने ही विवाह, परिवार, नातेदारी को जन्म दिया है। परिवार के बाहर भी यौन-संतुष्टि संभव है किंतु समाज ऐसे संबंधों को अनुचित मानता है। कभी-कभी कुछ समाजों में परिवार के बाहर यौन-संबंधों को संस्थात्मक रूप से स्वीकार किया जाता है परंतु वह भी एक निश्चित सीमा तक ही। यौन-इच्छाओं की पूर्ति स्वस्थ जीवन एवं सामान्य रूप से जीवित रहने के लिए भी आवश्यक मानी गई है, इसके अभाव में कई मनोविकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यौन-इच्छाओं की पूर्ति किस प्रकार की जाए, यह समाज और संस्कृति द्वारा निश्चित होता है। विवाह का उद्देश्य केवल यौन-संतुष्टि ही नहीं होता, बल्कि कभी-कभी तो यह केवल सामाजिक-सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही किया जाता है। उदाहरण के लिए नागा जनजाति में एक पुत्र अपनी सगी माँ को छोड़कर पिता की अन्य विधवा स्त्रियों से विवाह कर लेता है, इसका कारण यौन-संतुष्टि नहीं, बल्कि स्त्रियों को मिलनेवाली संपत्ति में उत्तराधिकार को प्राप्त करना है। (मजूमदार 1944, 78)

प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में अनेक भूमिकाओं का निर्वाह करना होता है या यह कहा जा सकता है कि जीवन अनेक भूमिकाओं का संयोग है, जिन्हें विविध संस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में निभाना होता है। विविध भूमिकाओं में दो भूमिकाएँ महत्वपूर्ण हैं, पहली आर्थिक भूमिका और दूसरी वैवाहिक या परिवार की भूमिका। पहले प्रकार की भूमिका निःसंदेह प्रमुख है क्योंकि व्यक्ति अपने जीवन का एक बड़ा भाग इसी भूमिका में लगाता है। वैवाहिक भूमिका में भी जीवन के 40 से 50 वर्ष व्यतीत होते हैं किंतु इन दोनों भूमिकाओं में से आर्थिक भूमिका की अपेक्षा वैवाहिक भूमिका ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि आर्थिक भूमिका में द्वितीयक संबंध सम्मिलित होते हैं और वैवाहिक भूमिका में प्राथमिक संबंध।

प्राथमिक संबंध आवश्यक रूप से असीमित, विशिष्ट, भावात्मक, परमार्थवादी एवं शाश्वत होते हैं। दूसरी तरफ़ द्वितीयक संबंध प्रारंभिक रूप से सीमित, प्रामाणिक, अभावनात्मक, उपयोगितावादी और संविदात्मक होते हैं। वैवाहिक संबंध यौन-संबंधों पर आधारित होते हैं और यौन-संबंध स्त्री-पुरुष के बीच स्थायी तथा निकटतम संबंध स्थापित करते हैं। विवाह में प्राथमिक संबंध दो महत्वपूर्ण कार्य करते हैं आवश्यकता-पूर्ति तथा सामाजिक नियंत्रण। जैविक,

मनोवैज्ञानिक और आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा नैतिकता व नीतिशास्त्र के प्राथमिक स्रोत का कार्य करता है। जब एक व्यक्ति देखता है कि उसका जीवनसाथी उसके लिए कोई कार्य कर रहा है तो वह सोचता है कि उसका नैतिक दायित्व है कि वह उसकी देखभाल करे या उसकी बात माने। विवाह-संस्था का अध्ययन करते समय एक समाजशास्त्री इसमें निहित प्राथमिक संबंधों का विश्लेषण नहीं करता बल्कि इसका भी करता है कि किस प्रकार विवाह में नई और विभिन्न भूमिकाएँ सम्मिलित हैं तथा क्या उन भूमिकाओं में जुड़ा व्यक्ति उनके योग्य है या नहीं है तथा उन भूमिकाओं को निभाने की नियोग्यता से किस प्रकार पारिवारिक विघटन होता है। विवाह में महत्वपूर्ण बात यह है कि किस प्रकार एक साथी का भूमिका-निर्वहन दूसरे साथी की भूमिका की अपेक्षाओं के कितना अनुकूल है। (ब्लड, 1960 पृ० 189)

कूस (1953 पृ० 44) के अनुसार विवाह एक विभाजन-रेखा है, जो कि जनक परिवार तथा जनन परिवार के बीच दोनों परिवारों में व्यक्ति की भूमिका के संदर्भ में खींची गई है। जनक परिवार में भूमिकाएँ शैशव, बचपन तथा किशोरावस्था में परिवर्तित होती रहती है तथा उनमें उत्तरदायित्व का बोध नहीं होता किंतु जनन परिवार में भूमिकाएँ विवाह के बाद पति-पत्नी, माता-पिता के रूप में, धन-अर्जनकर्ता के रूप में, पितामह तथा अवकाश-प्राप्त व्यक्ति के रूप में विविध अपेक्षाओं एवं दायित्वों वाली होती हैं।

विवाह का एक आधार स्त्री में माँ तथा पुरुष में पिता बनने की इच्छा भी है, जिसकी पूर्ति वैध रूप से विवाह द्वारा ही संभव है। विवाह के माध्यम से संस्कृति का हस्तांतरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को होता है। कुछ समाजों में आर्थिक क्रियाओं को स्त्री-पुरुष द्वारा सामूहिक रूप से संपन्न करने की आवश्यकता ने भी विवाह को अनिवार्य बना दिया। इन सभी कारणों से विवाह रूप संस्था प्रत्येक काल और प्रत्येक समाज में विद्यमान रही है। यद्यपि इनके स्वरूपों में भिन्नता पाई जाती है।

विवाह समाज-व्यवस्था का मुख्य तत्त्व है, जिसे संतुलन में रहना चाहिए अन्यथा सबकुछ बिखर सकता है। संतुलन के लिए समायोजन की आवश्यकता होती है, जो आदान-प्रदान पर आधारित होता है या पति-पत्नी दोनों से ही त्याग की अपेक्षा रखता है। यह एक युग्म व्यवस्था है। संतुलन बनाए रखने के लिए सभी को कुछ कार्य तो करने ही होंगे। कौन क्या भूमिका निर्वाह करता है, यह इतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना यह कि विवाह के स्थायित्व के लिए कोई क्या भूमिका निभा रहा है। भारत में विवाह के क्षेत्र में अनेक विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। प्राचीनकाल से ही यहाँ विभिन्न धर्मों, संप्रदायों, प्रजातियों, भाषाओं एवं मतों से संबंधित लोग रहते आए हैं, जिनकी प्रथाओं, रीति-रिवाजों, संस्कृतियों, संस्थाओं एवं जीवनदर्शन में भिन्नता पाई जाती है। इस भिन्नता ने यहाँ की विवाह-संस्था को भी प्रभावित किया है। भारत में विवाह के अनेक रूप जैसे एक विवाह, बहुपति विवाह, बहुपत्नी विवाह एवं द्विविवाह आदि पाए जाते हैं। कुछ समाजों में विवाह को एक संस्कार माना गया है तो कुछ में एक सामाजिक समझौता।

विवाह का शाब्दिक अर्थ है उद्धह अर्थात् वधू को वर के घर ले जाना। लूसी मेयर लिखते हैं कि, 'विवाह स्त्री-पुरुष का ऐसा योग है, जिससे स्त्री से जन्मा बच्चा माता-पिता की

वैध संतान माना जाए।

रिवर्स के अनुसार, 'जिन साधनों द्वारा मानव-समाज यौन-संबंधों का नियमन करता है, उन्हें विवाह की संज्ञा दी जाती है।'

बेस्टरमार्क के अनुसार, 'विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होनेवाला वह संबंध है, जिसे प्रथा या कानून स्वीकार करता है और जिसमें इस संगठन में आनेवाले दोनों पक्षों एवं उनसे उत्पन्न बच्चों के अधिकार एवं कर्तव्यों का समावेश होता है।' बोगार्ड्स के अनुसार, 'विवाह स्त्री और पुरुष को पारिवारिक जीवन में प्रवेश करानेवाली संस्था है।'

मजूमदार एवं मदान लिखते हैं, 'विवाह में कानूनी या धार्मिक आयोजन के रूप में उन सामाजिक स्वीकृतियों का समावेश होता है, जो विषमलिंगियों को यौन-क्रिया और उससे संबंधित सामाजिक-आर्थिक संबंधों में सम्मिलित होने का अधिकार प्रदान करती हैं।'

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में प्राचीनकाल से ही स्त्रियों को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था और उन्हें आदर्श एवं मर्यादा का प्रतीक माना गया है। भारतीय धर्मशास्त्रों की यह मान्यता रही है कि जिस गृह में नारी की पूजा होती है, वहाँ पर देवता निवास करते हैं। हिंदू सामाजिक व्यवस्था में उन्हें निष्ठा एवं श्रद्धा की प्रतिमूर्ति मानकर ही 'गृह साम्राज्ञी' की संज्ञा दी गई है। मध्यकाल में स्त्रियों की स्थिति में बहुत गिरावट आई। इस काल में ही बाल-विवाह प्रथा, सती-प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ, पर्दा-प्रथा का प्रचलन हुआ। इस काल में विवाह-संस्था में बहुत सारी विकृतियाँ आ गईं। स्त्रियों की निम्न स्थिति में कई कारक उत्तरदायी रहे। जैसे शिक्षा का अभाव, कन्यादान का आदर्श, पुरुषों पर आर्थिक निर्भरता, संयुक्त परिवार-प्रणाली, बाल-विवाह, वैवाहिक कुरीतियाँ।

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। आधुनिक समाज परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। इस परिवर्तन से स्त्रियाँ भी अछूती नहीं हैं। भारतीय समाज के अनेक क्षेत्रों जैसे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक तथा धार्मिक में परिवर्तन परिलक्षित हो रहे हैं, इस परिवर्तन को लानेवाले प्रमुख कारकों में स्त्री-शिक्षा का प्रचार-प्रसार, स्त्रियों को मिले संवैधानिक अधिकार, महिला संगठन, आधुनिकीकरण, पाश्चात्यीकरण, नगरीकरण एवं औद्योगीकरण की भूमिका महत्वपूर्ण रही है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि नारी-समाज में जागरूकता आई है। इस जागरूकता के कारण ही आज स्त्रियाँ प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर प्रत्येक कार्य को संपन्न कर रही हैं। हमने अपने इस अध्ययन में पाया कि

1. शिक्षित नवयुवतियाँ विवाह में स्वतंत्रता को पसंद कर रही हैं।
2. विवाह में लड़कियों की इच्छा को भी महत्व दिया जा रहा है।
3. नवयुवतियों के द्वारा यह भी अभिमत व्यक्त किया गया कि लड़कियों का विवाह शिक्षित होने के बाद ही होना चाहिए।
4. विवाह की आयु के संबंध में शिक्षित नवयुवतियों का अधिकतम प्रतिशत 18 वर्ष के

- पश्चात विवाह के पक्ष में था।
5. शिक्षित नवयुवतियों द्वारा प्रेम-विवाह एवं अंतर्जातीय विवाह के समर्थन में अपना अभिमत व्यक्त किया गया।
 6. विवाह-विच्छेद के संबंध में भी नवयुवतियों का अभिमत है कि पत्नी को भी पतियों की तरह विवाह-विच्छेद करने का अधिकार होना चाहिए।
 7. शिक्षित नवयुवतियों द्वारा विवाह की समझौतावादी प्रकृति के पक्ष में अभिमत व्यक्त किया गया है।
 8. शिक्षित नवयुवतियों द्वारा जीवनसाथी के चुनाव में सुंदरता, आकर्षण, शिक्षा, ट्रेनिंग, नौकरी को पसंद किया गया।
 9. शिक्षित नवयुवतियों द्वारा वैवाहिक विधियों में संक्षिप्तीकरण का भी समर्थन किया गया है।
 10. शिक्षित नवयुवतियों द्वारा संयुक्त परिवार की अपेक्षा एकाकी परिवार के पक्ष में अपना अभिमत व्यक्त किया गया है।

□ स्नातकोत्तर समाजशास्त्र विभाग,
शिब्ली नेशनल महाविद्यालय,
आजमगढ़ (उ.प्र.)

वैदिक स्मृतियों में वर्णित वर्ण व्यवस्था की सार्थकता एवं बदलते प्रतिमान (वर्तमान के संदर्भ में)

श्रीमती स्नेहलता

प्राचीनकाल में समाज का विभाजन चतुर्वर्ण के आधार पर हुआ जैसे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। वर्ण-व्यवस्था की कल्पना भारतीय मनीषियों के मन की उर्वरता का द्योतक है। उस समय मनीषियों के मन में वर्ण-व्यवस्था के द्वारा समाज को संगठित करके अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करने की इच्छा रही, तभी उन्होंने इस ओर ध्यान दिया और इसे समाज में स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया। प्रश्न पैदा होता है कि 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति और विभाजन किस प्रकार से हुआ। 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति 'वृ' धातु से हुई है। ऋक् भाष्य भूमिका में 'वृ' धातु का प्रयोग वर्णन करने, वरण करने तथा जीविका के अर्थ में हुआ जैसे 'वृ वरणे, जीविकार्थव्रियते इति वर्णः।' ¹ पं० शिवनारायण शास्त्री के अनुसार 'वर्णो वृणोते'² अर्थात् कर्मानुसार जिसका वरण किया जाए, वह वर्ण है। इस पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानंद ने भी स्पष्ट किया है कि 'गुण कर्मों को देखकर यथायोग्य अधिकार जिसको दिया जाए वह वर्ण है।'³

'वर्ण' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है जिसमें उसका अर्थ रंग भी है। ⁴ इसका प्रयोग प्राचीन मंडलों में आर्यों एवं अनार्यों को उनकी त्वचा के रंग के आधार पर पृथक् दिखलाने के लिए अधिक किया गया है। डा० राधेश्याम शर्मा के अनुसार मानव समूहों को उस समय में विभिन्न वर्णों में विभक्त करने का यही एक आधार था। ⁵ परंतु बाद में आर्यों का विस्तार देश के विभिन्न भागों में हुआ और विभिन्न वर्णों का सम्मिलन उनमें हुआ। तो आर्यों में कृष्ण वर्ण के लोगों का मिलना स्वाभाविक था। ⁶ महाभारत में भी वर्ण शब्द का प्रयोग रंग के अर्थ में ही हुआ है। इसमें ब्रह्मण का रंग 'श्वेत', क्षत्रियों का 'लाल', वैश्यों का 'पीला' एवं शूद्रों का 'कृष्ण' माना है। इस प्रकार चतुर्वर्ण विभाजन हुआ। ⁷

भीष्म पर्व में श्री कृष्ण ने बताया है कि उन्होंने न केवल उनकी उत्पत्ति की है बल्कि समाज संचालन के लिए उन वर्णों द्वारा किए जानेवाले कर्मों को भी निर्धारित किया है। ⁸ 'चातुर्वर्ष्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।'

इसका अभिप्राय यही निकलता है कि वर्ण-विभाजन जन्म के आधार पर न होकर कर्म के आधार पर हुआ है। ऋग्वेद में इसका पुष्ट उदाहरण मिलता है। जैसे कि मैं कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी माता अन्न कूटती है। ⁹ अतः स्पष्ट यह है कि वर्ण विभाजन कर्म के आधार पर हुआ। मनु स्मृति में भी वर्णव्यवस्था का आधार जन्म को न मानकर कर्म को ही माना है। ¹⁰

लेकिन महाकाव्य काल में जाकर जन्म की मान्यता पूर्णतः स्थापित हो गई। इसलिए महाभारत में द्रोणाचार्य तथा अश्वत्थामा का उदाहरण मिलता है, जो कर्म से क्षत्रिय थे तथापि

जन्म से ब्राह्मण होने के कारण ब्राह्मण ही कहलाए।¹¹ अतः स्पष्ट है कि जन्म का सिद्धांत मान्य था, किंतु इसको ही पूर्ण रूप से मान लेना असंगत है, क्योंकि इसी प्रसंग में स्वयं श्री कृष्ण ने कहा है कि कर्मानुसार ही मैंने चारों वर्णों को उत्पन्न किया है।¹² इससे ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में वर्णगत समूहों का विकास कर्मगत आधार पर हुआ है। लेकिन सामाजिक विभाजन के दृष्टिकोण से जन्म का सिद्धांत महत्त्व रखता है।

कवि कालिदास के समय चतुर्वर्ण का जिक्र मिलता है। जातियाँ और प्रजातियाँ बाद में बनी हैं। अँग्रेजी का Cast शब्द जो पुर्तगाली शब्द Casta से बना है जिसका अर्थ है— प्रजाति, जन्म या भेद। इस प्रकार स्पष्ट है कि जाति का अर्थ वंशानुक्रम पर आधारित एक विशेष समूह से लगाया जाता है। जहाँ तक इस शब्द की परिभाषा का संबंध है। इस विषय में चार्ल्स कूले का कहना है कि जब एक वर्ग पूर्णतया वंशानुक्रम पर आधारित होता है, उसे हम एक जाति कहते हैं।¹³ जाति जो हमारे प्रतिदिन के जीवन में बोलचाल का शब्द बन गया है। जाति-प्रथा भारत के प्रत्येक क्षेत्र में पाई जाती है, चाहे वह नगरीय हो अथवा ग्रामीण। जाति को अँग्रेजी में Cast कहा गया है। डा० ए०आर० देसाई ने जाति की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है— जातियाँ विभिन्नताओं यहाँ तक कि घरेलू और सामाजिक जीवन के तरीकों में विभिन्नताओं को निश्चित करती हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में रहनेवाले लोगों के गृहनिवास और सांस्कृतिक प्रतिमानों को भी निश्चित करती हैं। भू-स्वामित्व भी जाति पर आधारित है। अनेक कारणों से प्रशासकीय कार्यों को बहुधा जाति के अनुसार बाँटा गया है। जाति ने जटिल धार्मिक और लौकिक सांस्कृतिक प्रतिमानों को भी निश्चित किया है।¹⁴

डा० मजूमदार और मदान के अनुसार जाति एक बंद वर्ग है।¹⁵ केतकर ने जाति को इसकी दो प्रमुख विशेषताओं के आधार पर परिभाषित किया है। उनके अनुसार— जाति एक सामाजिक समूह है, जिसमें (क) एक विशेष जाति की सदस्यता केवल उन्हीं व्यक्तियों तक सीमित रहती है, जिन्होंने उसी जाति में जन्म लिया है। (ख) जिसके सदस्यों पर एक दृढ़ सामाजिक नियम के द्वारा अपने समूह से बाहर विवाह करने पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है।¹⁶ भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भी जाति-संबंधी नियमों तथा मान्यताओं में कुछ अंतर भी देखने को मिलता है। एक जाति के अंतर्गत अनेक प्रजातियाँ किसी स्थान पर अंतःविवाह के नियमों को मानती है, जबकि किसी स्थान पर बहिर्विवाह के नियमों को अधिक मानती है। धर्म के अनुसार जैसे हिंदू को एक विवाह करने की अनुमति है, जबकि मुस्लिम धर्म में व्यक्ति बहुपत्नी रखने का अधिकारी है। बहुपत्नी रखने का उदाहरण अभिज्ञान शाकुन्तलम में भी मिलता है। स्वयं राजा दुष्यन्त ने कहा है कि 'शकुंतला की सखी से पत्नियों की बहुलता होते हुए भी हमारी मर्यादा की दो ही सीमाएँ होंगी। एक तो समुद्ररूपी मेखला वाली ये पृथ्वी और दूसरी तुम्हारी ये सखी शकुंतला।' ¹⁷ इस कथन से यही प्रतीत हो रहा है कि महाकवि कालिदास के समय में भी बहुपत्नी प्रथा थी।

श्लोक है:

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य नः।

समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्।

महर्षि मनु ने भी स्वयं कहा है कि ब्राह्मणों को—ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र वर्णों में, क्षत्रिय

को-क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों में, वैश्य को-वैश्य तथा शूद्र वर्णों में तथा शूद्र को-शूद्र वर्णों में विवाह करना चाहिए। इस प्रकार क्रमशः व्यक्ति 3, 2 और 1 विवाह कर सकता था।¹⁸ इस कथन के अनुसार मनु बहु विवाह के समर्थक थे और विवाह अन्य वर्णों में होते थे, जो बहिर्विवाह का ही ठोस उदाहरण है—

अथब्राह्मणस्य वर्णाक्रमेण चतस्रो भार्या भवन्ति।

तिस्त्रः क्षत्रियस्य द्वि वैश्यस्य। एक शूद्रस्य। —विष्णु स्मृति

लेकिन एक अन्य श्लोक में इनका कहना है कि सवर्ण विवाह प्रशस्त विवाह है। वह सवर्ण से विवाह करता है तो पाणिग्रहण कर सकेगा अन्यथा 'शरग्रहण', 'प्रतीकग्रहण', 'चाबुक ग्रहण' और 'वस्त्र छोर ग्रहण' किया जाएगा—¹⁹

पाणिग्रहण संस्कारः सवर्णासूपदिश्यते।

असवर्णा स्वयं हेयो विधिरुद्राहकर्मणि।

शरः क्षत्रियया ग्रहया प्रतोदो वैश्यकन्यया।

वसनस्य दशां ग्राहया शूद्रोयोत्कृष्वेदने।

यहाँ पर शर, चाबुक तथा वस्त्र का छोर प्रतीक रूप में व्यवहृत हो रहे हैं। अर्थात् विवाह तो हो रहा है लेकिन 'पाणिग्रहण' नहीं हो रहा है, जो सर्वोत्तम सम्मान का प्रतीक है। अतः स्पष्ट है कि असवर्ण के ग्रहण को यदि विवाह की संज्ञा दी गई है तो उस समय समाज में यदा-कदा उदाहरण प्राप्त होते रहे होंगे। लाभ की दृष्टि से विवाह तो हो रहा है, लेकिन महत्त्व की कामना शांति का माध्यम मात्र ही रहने दिया गया है। अतः स्पष्ट है कि धर्म की और समाज में प्राप्त असवर्ण विवाहों के उदाहरण प्राप्त होने के कारण ही इन विवाहों के परिणाम दिखलाकर असवर्ण विवाहों को सुविधा की दृष्टि से विवाह की 'संज्ञा' प्रदान की गई थी। इनमें वास्तव में वैवाहिकता नहीं थी। मेरी दृष्टि में इस प्रकार के बहु विवाह आपातकालीन थे, जो सर्वशक्तिमान होने के कारण होते रहे होंगे अथवा जब किसी राष्ट्र की जनसंख्या कम हो जाती है या भयंकर युद्ध छिड़ जाने पर राष्ट्र की जनसंख्या अल्पमत हो जाती है, उस समय में भी धर्मशास्त्रों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे समाज की जनसंख्या वृद्धि के लिए आवश्यक उपाय सोचें तो हो सकता है ऐसी स्थिति में ये विवाह स्वीकार्य रहे होंगे। अतः कहा जा सकता है कि इनको स्वीकारते हुए भी सामाजिक मर्यादा का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है।

प्राचीनकाल में विवाह के अतिरिक्त विभिन्न वर्णों के आजीविका एवं उनके अपराध के अनुसार विभिन्न वर्णों को विभिन्न प्रकार के दंड देने संबंधी नियम भी बनाए गए थे। राजर्षि मन के अनुसार ब्राह्मण के छः कर्म अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना तथा कराना, वेदाध्ययन और श्रेष्ठव्यक्ति से दान लेना और देना।²⁰ आपत्तिकाल में वह स्ववृत्ति से अपनी तथा अपने परिवार का भरण-पोषण करने में असमर्थ हो तो वह क्षत्रिय के कर्म को अपना सकता था।²¹ इसी प्रकार अन्य तीनों वर्णों को भी अपनी आजीविका चलाने का अधिकार प्राप्त था। लेकिन शूद्र के वर्जित कर्मों की व्यवस्था करते हुए कहा गया है कि 'वह किसी भी अवस्था में धर्म का प्रवक्ता नहीं हो सकता। धर्म का उपदेश देने पर शूद्र के कान में तेल डालने की बात कही गई है'।²² अपराध करने पर तीनों वर्णों को अपने जन्म स्तर एवं वर्ण स्तर के आधार पर दंड-व्यवस्था बनाई गई थी। उच्च वर्ण अर्थात् ज्ञानवान को अधिक दंड, लेकिन निम्न वर्ण अर्थात् कम

बुद्धिवाले को कम दंड।²³

अतः स्पष्ट है कि उस समय में सामाजिक नियमों में लचीलापन था जिसके परिणामस्वरूप आपातकाल में लोग नियमानुसार अपना कर्म बदल लेते थे। जिससे उसको अपना जीवन-यापन करने में कोई आपत्ति नहीं आती थी, वह चाहे किसी भी वर्ण का क्यों न हो, अपनी जीविका को वह सुचारू रूपसे चला लेता था। वर्तमान काल में हमारी सरकार कोई भी ऐसी विशेष योजना नहीं बना पाई, जिससे सभी लोग बिना किसी आपत्ति के अपनी जीविका को चलाने में समर्थ हो सकें। जैसा कि हर रोज देखने में आता है कि अनुसूचित जाति, जनजाति एवं सामान्य जातियों को विभक्त करके, आरक्षण जैसी जो नीतियाँ बनाई गई हैं उनसे संपूर्ण समाज को लाभ न होकर केवल कुछ प्रतिशत लोगों को ही रोजगार मिल पाता है, जिससे बेरोजगारी जैसी विकट समस्या बनी ही रहती है। अब रोजगार कार्ड नीति भी सरकार बना रही है। जैसे मुर्गी पालन, सुअर पालन एवं कृषि (किसान क्रेडिट कार्ड) आदि। लेकिन पूर्व कालीन नीतियों के अध्ययन के उपरांत ये प्रतीत हो रहा है कि प्राचीन कालीन नीतियाँ बड़ी सोची समझी नीतियाँ थी, क्योंकि जहाँ ये कहा गया है कि निम्नवर्ण के व्यक्ति को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था। वहीं यह भी कहा गया है कि उच्चवर्ण के व्यक्ति को अपराधी होने पर अधिक दंड और निम्नवर्ण के व्यक्ति को अपराधी होने पर कम दंड मिलता है। लेकिन वर्तमान युग में हमारे संविधान में कोई ऐसी धारा नहीं है, जिसमें यह अंतर दिखलाया गया हो। सभी को समान दंड मिलता है, चाहे वह किसी भी जाति का व्यक्ति क्यों न हो। इतना जरूर देखने में आता है कि किसी राजनीतिक व्यक्ति या अधिक पैसे वाले को कम दंड और कम पैसे वाले अर्थात् गरीब को अधिक दंड मिलता है, जो पूर्वकालीन नीतियों का विरोध है। कभी-कभार तो अपराधी को दंड न मिलने पर वह इस प्रकार सब्र का घूँट पीकर रह जाता है कि उसको उसके कर्म का फल ईश्वर देगा। वह व्यक्ति ऐसी स्थिति में असहाय होकर छटपटाकर रह जाता है। इसका उदाहरण हितोपदेश में मिलता है। जिसमें कहा गया है कि व्यक्ति जिस समय, जिस स्थान पर, जिस किसी साधन से जैसा अपराध करता है, उसका फल उसे भाग्यवश उसी समय उसी रूप में मिल जाता है—²⁴

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च, यावत् च यत्र च शुभाऽशुभमात्म कर्म।

तस्मच्च तेन च तथा च तदा च तच्च, तावच्च तत्र च विधातु-वशादुपैति।

लेकिन देखने में आता है कि ऐसा बहुत ही कम होता है। यदि पूर्णरूपेण ऐसा होता हो तो कोई भी व्यक्ति दुष्कर्म करने का साहस ही न करे। व्यक्ति संघर्ष करता-करता अपने प्राण त्याग देता है। उचित निर्णय मिलने के अभाव में ही वर्तमान काल में दोनों ही वर्णों (उच्च और निम्न) वर्ण में अन्य ही प्रकार परिवर्तन हो रहा है। जहाँ निम्न वर्ण को शिक्षा का पूर्ण अधिकार एवं नौकरियों में आरक्षण नीति के द्वारा आरक्षण दिया जा रहा है उससे निम्न वर्ण में जहाँ सुधार दिखाई दे रहा है वहीं अन्य वर्णों की कर्म-व्यवस्था के अभाव में वर्ण-पलायन देखा जा रहा है। मानसिकता में परिवर्तन आने से उच्च वर्ण की कन्याओं में यह परिवर्तन देखा जा रहा है कि उनकी विचारधारा ही बदलने लगी है। वे चाहती हैं कि निम्न वर्ण के व्यक्ति के साथ शादी कर ली जाए तो अपना और अपने बच्चों का भविष्य सुधर सकता है। अब इस मामले में पुरुष भी पीछे नहीं हैं। वह अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति का झूठा प्रमाणपत्र बनवाकर नौकरी हासिल करने में प्रयासरत हैं। ये सब निर्धारित प्रतिशत अंकों में विशेष छूट देने का ही परिणाम

है। इस प्रकार के अनुचित वातावरण से बचने का एक ही माध्यम है कि विशेष वर्ग के लोगों को अंकों में छूट न देकर केवल धन-संबंधी सहायता ही दी जानी चाहिए। ताकि अन्य लोगों की मानसिकता में परिवर्तन लाया जा सके और समाज को इस दीमक से बचाया जा सके।

प्राचीनकाल से ही मान्यता रही है कि समाज में दो वर्ग हैं— शोषक और शोषित। अर्थात् पूँजीपति और निर्धन वर्ग। साहित्य में भी सामाजिक चेतना के अनुकूल वर्ग व्यवस्था एवं जातिगत भेदभाव को स्पष्ट किया गया है। यदि प्रेमचन्द के साहित्य पर विचार करें तो पता चलता है कि उन्होंने भी समकालीन वर्ग व्यवस्था एवं वर्गभेद को खुलकर व्यक्त किया है। यद्यपि किसी जाति विशेष पर प्रत्यक्षतः व्यंग्य नहीं करते, अपितु समाज के यथार्थ को ही व्यक्त करते हैं जो कि उस समय की माँग थी, जिससे कि समाज में तथा लोगों की विचारधारा में परिवर्तन लाया जा सके। यह बात अलग है कि संकीर्ण विचारधारा (मानसिकता) के व्यक्ति उसे अन्यथा लेते हैं। जैसा कि कुछ दिनों पूर्व 'दलित साहित्य अकादमी' द्वारा प्रेमचंद के उपन्यास 'कर्मभूमि' की प्रतियाँ जलाने का प्रश्न?

लेकिन वर्तमान समय में औद्योगिक विकास ने वर्गव्यवस्था या जातिगत भेदभाव (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) को मिटाने में सहयोग दिया है। अब धीरे-धीरे गाँवों की अपेक्षा शहरों में भी इस समस्या का प्रभाव समाप्त होता जा रहा है। वहाँ पर सभी वर्ग या जाति के लोग एकसाथ बैठते हैं, काम करते हैं, खाना खाते हैं और रहते हैं। किसी लेखक ने ठीक लिखा है कि 'जो लोग वर्गव्यवस्था या ऊँच-नीच के भेद को मानते हैं, वे कृपया मुझे बताएँ यदि उच्च वर्ग के व्यक्ति और निम्न वर्ग के व्यक्ति की उँगली को काट दिया जाए तो उनसे रक्त गिरेगा उसका रंग क्या अलग-अलग होगा? लाल, काला, नीला या फिर पीला? उत्तर होगा केवल लाल तो फिर भेदभाव क्यों।'²⁵ शायद यह कथन वर्ग भेद करनेवालों और माननेवालों को सोचने के लिए मजबूर अवश्य करेगा। संस्कृत-साहित्य में तो इस बात को बड़े ही सरल शब्दों में समझाते हुए कहा गया है 'सभी लोग एक समान हैं यदि किसी उच्च वर्ग के व्यक्ति के घर में निम्न वर्ग का व्यक्ति आ जाए तो उसका समुचित आतिथ्य सत्कार करना चाहिए। क्योंकि घर में आया हुआ व्यक्ति देवता के समान होता है—'²⁶

उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः।

पूजनीयोः यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः।

हितोपदेश के इस कथन से भी हमें पूर्णतया सहमत होना होगा, क्योंकि व्यक्ति की पहचान नाम और जाति से न होकर उसके कर्म से होनी चाहिए ताकि सामाजिक व्यवस्था बनी रहे।

सामाजिक व्यवस्था में विवाह संस्था भी अपना वर्चस्व रखती है। विवाह स्त्री-पुरुष की काम-संबंधी भावना को सामाजिक स्वीकृति देता है। परिवर्तनशीलता के दौर से विवाह भी अछूता नहीं रह गया है। इसमें बदलाव आया है। आज अंतर्जातीय विवाह, पुनर्विवाह, विधवा विवाह आदि का प्रचलन बढ़ा है। यह सबकुछ साहित्य द्वारा संस्कृति में बदलाव तथा विचारधाराओं के बदलाव से संभव हुआ है। क्योंकि साहित्य का कार्य होता है— समाज को चेतना देना, प्रेरित करना, कुप्रथाओं को समाप्त करने का मार्ग बताना आदि। डा० पानेरी ने ठीक ही लिखा है— 'वर्तमान अर्थव्यवस्था, औद्योगिक क्रांति, नारी-जागरण और शिक्षा के प्रभाव ने वैवाहिक मूल्यों को नवीन आयाम दिए हैं।'²⁷ जहाँ समाज में परंपरागत विवाह संस्था मनुष्य को काम-संबंधी

सामाजिक स्वीकृति प्रदान करती है, वहीं वह 'प्रेम-विवाह' 'कोर्टमैरिज' आदि को अपनाने में देरी करती है। इस बात की पुष्टि राजा दुष्यंत के इस कथन से हो जाती है कि अनेक राजर्षि कन्याएँ गंधर्व विवाह, (एकांत में विवाह) के बाद उनके पिताओं के द्वारा स्वीकार की गई हैं।²⁸ महर्षि कण्व ने भी अपनी पुत्री शकुंतला के द्वारा किए गए गंधर्व विवाह की अनुमति प्रदान की है। शार्डरव के कथनानुसार जिस महर्षि ने तुम्हें उनकी कन्या से विवाह करके चोरी करने पर भी तुम्हें योग्य पात्र समझकर उसे तुम्हें सौंप दिया है। अतः उनको अपमानित मत करो।²⁹ इस कथन से स्पष्ट हो रहा है कि इस प्रकार के विवाह की अनुमति मिलती रही है—

श्रूयन्ते परिणीतास्ता पितृभिश्चाभिनन्दिताः।

कृताभिमर्शामनुमन्यमानः सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः।

मुष्टं प्रति ग्राह्यता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन।

अंततः यही कहा जा सकता है कि परंपरागत विवाह संस्था को समाप्त न करना ही उचित होगा। क्योंकि डा० चंडीप्रसाद जोशी जी लिखते हैं, 'विवाह संस्था को नष्ट करने का परिणाम यह होगा कि संपूर्ण समाज व उसके मूल्य बिखर जाएँगे।'³⁰

अंततः निष्कर्ष यही निकलता है कि उस समय वर्ण व्यवस्था इतनी विकसित थी कि किसी भी वर्ण का कोई भी व्यक्ति मनमाने ढंग से कार्य नहीं कर सकता था। लेकिन इस व्यवस्था में आपत्तिकाल के लिए लचीलापन भी था। सभी लोग अपने-अपने कार्य को बनाई गई व्यवस्था के अनुसार ही करते थे, जिससे चारों वर्णों में किसी भी वर्ण का व्यक्ति (चाहे स्वयं राजा भी क्यों न हो) कुमार्ग का सेवन नहीं करता था। ये सब दंड व्यवस्था के परिणामस्वरूप ही हो रहा था। इसका उदाहरण हमें अभिज्ञानशाकुंतलम् उद्धृत शार्डरव के इस कथन से मिल जाता है कि यद्यपि यहाँ (हस्तिनापुर में) यह महानुभाव (भाग्यवान) राजा दुष्यंत कभी किसी प्रकार अपनी मर्यादा नहीं छोड़ते हैं। यहाँ कोई भी चारों वर्णों में निकृष्ट जन भी कुमार्ग का सेवन करनेवाला नहीं है।³¹

महामागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ

न कश्चिद् वर्णानाम पथमपकृष्टोऽपि भजते।

तथापिदं शश्वत्परिचित विविक्तेन मनसा

जना कार्णमन्यते हुतवहपरीतं गृहमिव।

अतः स्पष्ट है कि उस समय आजीविका संबंधी कार्यों में जो आपातकालीन कार्यों की छूट दी गई उससे केवल किसी एक वर्ण के कार्यों की ओर ही अन्य दूसरे वर्णों के लोगों का पलायन नहीं हो रहा था, जो सीधा आरक्षण नीति की ओर संकेत है। जैसा कि आजकल आरक्षण नीति लागू करने के कारण किसी वर्ण विशेष को विशेष प्रकार की सुविधाएँ व लाभ देकर उन्हें राजनीतिक पार्टियों की ओर आकर्षित किया जा रहा है। जिसके परिणामस्वरूप पार्टियाँ भी दल-बदलू नीति अपनाती हैं। फिर गुमराह होकर जनता भी इसी नीति का अनुसरण करती है। इस नीति से जो कोई भी नई सरकार आती है, वह वोट पाने के लिए उन्हें नए-नए प्रलोभन देती है। इस प्रकार की कार्यप्रणाली से समाज में अव्यवस्था फैलती है, जिससे लोग अपने वर्णों को छोड़कर पलायनवादिता का दामन थामते हैं। अंततः यही कहा जा सकता है कि प्राचीनकाल में वर्ण-व्यवस्था बहुत उत्तम थी एवं उसका पालन भी अच्छी प्रकार से किया जाता था। इस व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के कारण उस समय में रोजगार संबंधी कठिनाईयाँ भी नहीं

आती थीं। अतः मेरा मानना है कि उस समय स्मृतियों में वर्णित वर्ण-व्यवस्था की सार्थकता विद्यमान थी जिसे आज के बुद्धिजीवियों द्वारा मानने से इंकार नहीं किया जाना चाहिए।

संदर्भ

1. ऋक्भाष्य भूमिका, मंडल 11, पृ० 133
2. पंडित शिवनारायण शास्त्री, निरुक्त-अ० 2, पाद 1 और 123
3. ऋक्भाष्य भूमिका, वर्णाश्रमधर्म विषयः मंत्र 1, पृ० 257
4. ऋग्वेद 1:73:7
5. डा० राधेश्याम शर्मा, महाभारत में सामाजिक सिद्धांत एवं संस्थाएँ, पृ० 16
6. वही, पृ० 17
7. शांति पर्व 188, पृ० 5
8. भीष्म पर्व, अ० 26, श्लोक 13
9. डा० शकुंतला रानी, महाभारत में धर्म, पृ० 203
10. मनुस्मृति, अ० 2, पृ० 168
11. महाभारत आदिपर्व, अ० 133, श्लोक 2-3
12. भीष्मपर्व, अ० 2, श्लोक 13
13. चार्ल्स कूले, सोशल आर्गनाइजेशन, पृ० 221
14. डा० ए० आर० देसाई, रूरल सोशियोलॉजी इन इंडिया
15. डा० मजूमदार और मदान, ए इन्ट्रोडक्शन टू सोशल एंथ्रोपोलोजी, पृ० 221
16. एस० वी० केतकर, हिस्ट्री ऑफ कॉस्ट इन इंडिया, पृ० 15
17. महर्षि कालिदास विरचित अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 3, श्लोक 18, पृ० 131
18. विष्णु स्मृति, अध्याय 24, श्लोक 1-4, पृ० 398
19. मनुस्मृति, अ० 3, श्लोक 43-44, पृ० 249
20. मनुस्मृति, अ० 10, श्लोक 74-77, पृ० 862-63
21. वही, अ० 10, श्लोक 81-82, पृ० 863-64, तुलनीय यांस्मृति, आचार प्रकरण, पृ० 356
22. मनुस्मृति, अ० 8, श्लोक 272, पृ० 693
23. मनुस्मृति, अ० 8, श्लोक 337-38, पृ० 713
24. डा० परमानंद गुप्त द्वारा रचित हितोपदेश, श्लोक पृ० 43
25. नेशनल सेमिनार, नवंबर 29-30, 2004, पृ० 101-102
26. संस्कृत सुधा में संकलित, विष्णु शर्मा द्वारा रचित हितोपदेश (मित्रलाभ) श्लोक 63, पृ० 61
27. डा० हेमेन्द्र पानेरी, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी : मूल्य-संक्रमण, पृ० 166
28. महर्षि कालिदास विरचित अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 5, श्लोक 21, पृ० 198
29. वही, अंक 3, श्लोक 22, पृ० 135
30. डा० चंडीप्रसाद जोशी, हिंदी उपन्यास : समाजशास्त्रीय अध्ययन, पृ० 360
31. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 5, श्लोक 2, पृ० 188

□ प्राचार्या

ऐपीजे सरस्वती कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय
चरखी दादरी, जिला भिवानी-127306 (हरियाणा)

प्राचीन प्रमुख बौद्ध शिक्षा केंद्र

डा० अपर्णा वत्स

बौद्ध शिक्षा-व्यवस्था के अंतर्गत संघ-हेतु निर्मित विहारों एवं मठों ने ही विद्यालय का कार्य किया। कालांतर में यही मठ एवं विहार बड़े-बड़े शिक्षा-केंद्रों के रूप में परिवर्तित हो गए, जहाँ शिक्षा ग्रहण करने हेतु सुदूर स्थानों से विद्यार्थी आने लगे। प्रारंभ में धार्मिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार हेतु निर्मित मठ एवं विहार कालांतर में सामान्य शिक्षा के केंद्र बन गए और उनमें इतिहास, ज्योतिष, खगोलशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, तर्कशास्त्र आदि विषयों की शिक्षा दी जाने लगी।

बौद्ध मठों एवं विहारों को दान एवं सहायता पर आश्रित रहने के कारण अपनी उपादेयता सिद्ध करने की आवश्यकता रहती थी। उपादेयता सिद्ध करने के लिए उस प्राचीन परंपरा का सहारा लेना पड़ता था, जो भारतीय संस्कृति में पूर्व में विद्यमान थी अर्थात् सभाएँ तथा सम्मेलन आयोजित करना और उनमें विभिन्न संप्रदायों के विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ कर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना। अपनी श्रेष्ठता सिद्ध कर बौद्ध विहारों के बड़े-बड़े शिक्षा-केंद्रों में विकसित होने के फलस्वरूप जो विशेष सांस्कृतिक महत्त्व की बात उत्पन्न हुई, वह यह थी कि ये बौद्ध विहार अपना प्राचीन स्वरूप खो बैठे। वह भिक्षु के एकांत चिंतन का स्थान व विस्तृत ज्ञान के केंद्र बन गए। तत्कालीन समय के शिक्षा-केंद्रों में तक्षशिला, वाराणसी, नालंदा, वलभी, विक्रमशिला, जगददला और ओदंतपुरी प्रमुख थे।

तक्षशिला :

बौद्धकालीन भारत का सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण शिक्षा-केंद्र तक्षशिला¹ था। यद्यपि यह शिक्षा-केंद्र बुद्ध के पूर्व ही स्थापित हो चुका था तथापि बौद्धकाल में यह अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। प्राचीन भारत के प्रमुख नगरों में गिना जानेवाला ज्ञान का विश्वप्रसिद्ध केंद्र तक्षशिला पूर्वी गांधार की राजधानी था। तक्षशिला के बौद्ध स्मारकों के अवशेष कनिंघम द्वारा रावलपिंडी से उत्तर-पश्चिम में 32 किलोमीटर दूर शाहदेरी के निकट पहचाने गए थे। पालि साहित्य में ज्ञान के केंद्र के रूप में तक्षशिला के अनेको संदर्भ हैं। बौद्ध जातक कथाओं में इस स्थल का वर्णन विश्वविद्यालय के रूप में किया गया है। जहाँ धार्मिक विषयों के अध्ययन के इच्छुक छात्र भारत के विभिन्न एवं दूरस्थ क्षेत्रों से जैसे बनारस² राजगृह³ मिथिला⁴ कौशल⁵ आदि से आते थे। तक्षशिला की यह प्रसिद्धि मुख्यतः यहाँ के दिशा-प्रमुख आचार्यों के कारण थी, जो अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञ थे। प्रायः यही उल्लेख मिलता है कि विद्यार्थी अपनी शिक्षा पूर्ण करने तक्षशिला जाते थे— आरंभ करने नहीं। उन्हें सदैव 16 वर्ष की आयु पूर्ण करने पर ही तक्षशिला भेजने का उल्लेख आया है।⁶ स्पष्ट है कि तक्षशिला उच्चस्तरीय शिक्षा का केंद्र

था, प्राथमिक स्तर का नहीं।

तक्षशिला के अध्यापक अपनी उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों की सहायता से स्वयं में एक संस्था थे। प्रायः विद्यार्थी से अग्रिम शुल्क लेकर अध्यापक उसे विद्यालय में प्रवेश देते थे। तक्षशिला में शुल्क की यह धनराशि 1000 मुद्राएँ निश्चित कर दी गई थी। नकद शुल्क के स्थान पर गुरु की सेवा-शुश्रूषा के रूप में शुल्क देने के लिए भी विद्यार्थी स्वतंत्र था। विभिन्न जाति के छात्र अपने पारंपरिक व्यवसाय का ही अध्ययन न कर अलग-अलग विषयों की शिक्षा ग्रहण करते थे।⁷

जातकों के अनुसार तक्षशिला में तीन वेदों और कला के 18 शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी। शिल्पों में चिकित्साशास्त्र, धनुर्विद्या, ज्योतिष, खगोलशास्त्र, गणित, संगीत आदि विषय सम्मिलित थे। छात्र इन विषयों में से अपना चुनिंदा विषय लेकर उसमें विशेष योग्यता अर्जित करते थे। इन विद्याओं के शिक्षण में सैद्धांतिक तथा प्रयोगात्मक, दोनों पद्धतियों का प्रयोग किया जाता था और शिक्षा को व्यावहारिक बनाया जाता था। इस संबंध में कौमारभृत्य जीवक की कथा तक्षशिला की शिक्षण-पद्धति पर अच्छा प्रभाव डालती है। वैद्याचार्य के पास धर्मातवेसी के रूप में सात साल तथा विद्या ग्रहण करने के उपरांत जीवक की परीक्षा ली गई। आचार्य ने कहा, 'तक्षशिला के योजन-योजन चारों ओर घूमकर अ-भैषस्य (दवा के अयोग्य) देखो, उसे ले आओ'। जीवक ने बहुत खोज की लेकिन उसे कोई अ-भैषस्य वनस्पति या जड़ी-बूटी नहीं मिली। जीवक ने यह बात आचार्य से जाकर कही तो उन्होंने 'प्रमाण-पत्र' दिया, 'तुम विद्या सीख चुके। जाओ, यह तुम्हारे लिए पर्याप्त है।'⁸

स्नातक स्तर की शिक्षा पूर्ण करने के उपरांत विद्यार्थी अपने पुस्तकीय ज्ञान को व्यावहारिक रूप देने, अपने अनुभव बढ़ाने, देश के विभिन्न भागों में प्रचलित परंपराओं, रीति-रिवाजों को देखकर अपनी अन्वेषण-क्षमता को विकसित करने हेतु सुदूर राज्यों के पर्यटन को निकलते थे। मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक विकास ही शिक्षा का लक्ष्य था। ई० युग के प्रारंभ होने के बाद से तक्षशिला की शैक्षणिक गतिविधियों की बहुत कम जानकारी मिलती है। लेकिन तक्षशिला का ज्ञान के केंद्र के रूप में महत्त्व आज भी पूरे विश्व के लोगों में व्याप्त है।

वाराणसी :

वाराणसी भारत का प्राचीन शिक्षा-केंद्र था, किंतु इसे अधिक महत्त्व अशोक के शासनकाल में सारनाथ को अधिक महत्त्व मिलने पर प्राप्त हुआ था। महाजनपद युग में तक्षशिला के बाद वाराणसी शिक्षा का बड़ा केंद्र बना। इसका प्रमुख श्रेय तक्षशिला के उन स्नातकों को है, जिन्होंने अपनी शिक्षा पूर्ण कर वाराणसी में शिक्षण-कार्य प्रारंभ किया।⁹ छठी शताब्दी ई० में तक्षशिला का शैक्षणिक महत्त्व कम होने पर वाराणसी की प्रसिद्धि शिक्षा-क्षेत्र में बढ़ती गई और अगली कई शताब्दियों तक वाराणसी विविध शास्त्रों की शिक्षा का एक प्रमुख केंद्र बना रहा।

जातकों में वाराणसी के कई नाम मिलते हैं, उदाहरणार्थ सुरंधन¹⁰, सुदस्सन¹¹, ब्रह्मवर्धन¹², पुष्कवती¹³, रंभनगर¹⁴ आदि बौद्धग्रंथों में वाराणसी का उल्लेख काशी जनपद की राजधानी के रूप में हुआ है।

महात्मा बुद्ध के समय में भी वाराणसी के महत्त्व में वृद्धि हुई थी, क्योंकि यहीं महात्मा बुद्ध ने धर्मचक्र-प्रवर्तन-सुत्त का उपदेश देकर पंचभिक्षुओं को धर्म में दीक्षित किया था।

सातवीं शताब्दी का चीनी यात्री ह्वेनसांग यहाँ के निवासियों के विद्या-प्रेम को देखकर आश्चर्यचकित हो उठा था¹⁵ ह्वेनसांग के समय में लगभग 1500 भिक्षु यहाँ के विहारों में विद्योपार्जन कर रहे थे।¹⁶ देशभर से विद्वान यहाँ शिक्षा ग्रहण करने आते थे, जिसके कारण यहाँ की शैक्षणिक एवं साहित्यिक गतिविधियाँ अधिक सक्रिय होती गईं।

बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि वाराणसी की कुछ शिक्षा-संस्थाएँ अत्यंत प्राचीन थीं। शिक्षा के साथ संगीतकला में भी वाराणसी को विशिष्ट स्थान प्राप्त था।¹⁷ वाराणसी की प्राचीन शिक्षा-पद्धति के संदर्भ में डा० अल्तेकर का कहना है कि अनेक शताब्दियों तक वाराणसी में शिक्षण-संस्थाएँ व्यक्तिगत रूप से चलती रहीं। समाज के विशिष्ट वर्ग द्वारा अध्यापन-कार्य धार्मिक कर्तव्य के रूप में किया जाता था।¹⁸

पालि विवरणों में ऋषिपत्तन मृगदाव को वाराणसी का एक अंग माना गया है। वाराणसी में मुख्य रूप से शिक्षा के विषय प्रायः तीन वेद, 18 शिल्प आदि थे। अध्यापन-कार्य प्रातः से मध्याह्न तक चलता था, जो मौखिक एवं पुस्तकीय दोनों माध्यम से होता था।¹⁹

बारहवीं शती तक वाराणसी बौद्ध शिक्षा का जीवंत केंद्र तथा बौद्धों का तीर्थस्थान रहा।²⁰

नालंदा :

नालंदा प्राचीन भारत में बौद्ध युग का सर्वाधिक प्रसिद्ध शिक्षा-केंद्र था। कनिंघम ने नालंदा को वर्तमान 'बड़ा-पाँव' बताया है, जो राजगृह से सात मील उत्तर में स्थित है।²¹ ह्वेनसांग के अनुसार नालंदा के विहार की स्थापना के लिए 500 व्यापारियों ने दस करोड़ स्वर्ण मुद्राओं से सर्वप्रथम भूमि क्रय करके महात्मा बुद्ध को दी थी।²² इस प्रारंभिक दान के उपरांत शताब्दियों तक राजाओं द्वारा दानक्रम चलता रहा। इत्सिंग के समय में नालंदा के स्वामित्व में 200 से अधिक ग्रामों की भूमि थी।²³ विश्वविद्यालय अपने सभी विद्यार्थियों एवं विद्वानों को निःशुल्क भोजन, वस्त्र, आवास, बिस्तर तथा चिकित्सा-सेवा प्रदान करता था। ह्वेनसांग के समय में इन विद्वानों की संख्या विद्यार्थी, आचार्य एवं बाहर से आए जिज्ञासुओं को मिलाकर दस हजार थी।²⁴ इससे नालंदा के उत्कर्ष का पता चलता है। शिक्षा-केंद्र द्वारा अपने विद्यार्थियों को दी गई सुविधाओं के कारण उन्हें अपनी आवश्यकताओं की कोई चिंता नहीं थी, जिससे वह दत्तचित्त होकर अपने अध्ययन और स्वाध्याय में लग सकते थे और संभवतः यही उनके शिक्षण के उच्च स्तर का कारण था।

नालंदा विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा देने, शंकाओं का निवारण करने, शास्त्रार्थ और सार्वजनिक सभाओं में वक्तव्य देने का प्रशिक्षण देने के लिए विख्यात था। ह्वेनसांग के अनुसार 'विदेशी विद्यार्थी यहाँ आकर अपनी शंकाओं का निवारण करते हैं और प्रसिद्ध हो जाते हैं।'²⁵ चीन, कोरिया, तिब्बत, तोखार आदि सुदूर देशों के विद्यार्थी नालंदा में अध्ययन करने और बौद्ध धर्म के अमूल्य ग्रंथों की पांडुलिपियाँ एवं प्रतिलिपियाँ प्राप्त करने भारत आए। इत्सिंग के अनुसार विद्वान एवं विख्यात जन यहाँ एकत्र होते हैं, संभव और असंभव सिद्धांतों पर वाद-विवाद करते हैं और यहाँ के विद्वानों द्वारा अपने मत की श्रेष्ठता का आश्वासन पाने के पश्चात् अपनी बुद्धिमता के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो जाते हैं।²⁶ इस प्रकार नालंदा यथार्थ में उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों के लिए शोध-संस्थान था और बौद्धिक विकास का निर्णायक न्यायाधिकरण था। 'नालंदा का स्नातक' उस समय की सर्वोच्च शैक्षणिक उपाधि थी। शिक्षा के स्तर को बनाए

रखने के लिए नालंदा में प्रवेश हेतु 'द्वार पंडित' द्वारा कठिन प्रवेश-परीक्षा ली जाती थी।

नालंदा विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम अति विस्तृत था। तत्कालीन उपलब्ध समस्त ज्ञान का उसमें समावेश था। ब्राह्मण और बौद्ध साहित्य और लौकिक विषय एवं दर्शन, जीवन विषयक, विज्ञान और कला तथा वेद, हेतु विद्या, चिकित्सा विद्या, विधि, दर्शनशास्त्र, खगोलशास्त्र, भाषाविज्ञान आदि सभी प्रकार के विषय इसमें सम्मिलित थे। इत्सिंग ने पूरे दस वर्ष तक यहाँ की शिक्षा का लाभ उठाया।

नालंदा के ज्ञान का केंद्र होने की ख्याति यहाँ के प्रसिद्ध आचार्यों एवं अध्यापकों के कारण थी। शीलभद्र, धर्मपाल, चंद्रपाल, स्थिरमति के लिए जिनमित्र, ज्ञानचंद्र, नागार्जुन, आर्यदेव, असंग, वसुबंधु, दिडनाग और शांतिरक्षित नालंदा के विख्यात विद्वान थे। नालंदा के ही एक विद्वान पद्मसंभव द्वारा तिब्बत में 'लामा' के पद और 'लामावाद' की स्थापना की गई थी। यह नालंदा के लिए अत्यधिक गर्व की बात थी कि उसके एक विद्वान ने तिब्बत के धर्म को एक नया स्वरूप दिया।²⁷ नालंदा के 10000 निवासियों में से 1520 शिक्षक होते थे। वहाँ निवास करनेवाले आचार्यों के अभिभाषण अथवा वार्तालाप के लिए नित्य सौ आसन या उपदेश मंच तैयार किए जाते थे और विद्यार्थी निश्चित रूप से एक पल भी न गँवाकर उसमें भाग लेते थे।²⁸

नालंदा में भिक्षुओं की दिनचर्या और नियम कठोर थे। यहाँ व्यवस्था के सभी दायित्व विद्यार्थी समुदाय द्वारा निर्वाह किए जाते थे। यहाँ व्यवस्था शिक्षा के उस सर्वोत्तम सिद्धांत के अनुरूप थी कि विद्यार्थियों में अनुशासन रखने का श्रेष्ठ उपाय उन्हीं के ऊपर अनुशासन रखने का उत्तरदायित्व सौंपना है। नालंदा में आचार्यों और विद्यार्थियों के विशाल समूह में पारस्परिक संबंधों की एक शांतिपूर्ण परंपरा बन गई थी, जिसके कारण ह्वेनसांग ने लिखा था कि 700 वर्षों के इतिहास में एक बार भी इस संस्था में कोई विद्रोह नहीं हुआ।²⁹

नालंदा की एक अन्य मुख्य विशेषता यहाँ एक विशाल पुस्तकालय का होना था। ह्वेनसांग और इत्सिंग के अतिरिक्त नालंदा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय का वर्णन तिब्बती लेखों में भी उपलब्ध है, जिनके अनुसार, 'यह पुस्तकालय एक विशिष्ट क्षेत्र में अवस्थित था, जिसे 'धर्मगंज' कहते थे। इसमें रत्नसागर, रत्नोदधि तथा रत्नरंजक नामक तीन विशाल भवन थे। इसमें रत्नसागर भवन नौ मंजिल का था। इसमें प्रज्ञानपरिमितासूत्र तथा समाज गुह्य जैसे तांत्रिक विशेष रूप से उल्लेखनीय थे।³⁰

नालंदा की प्रसिद्धि शताब्दियों तक बनी रही और भारतवर्ष के बाहर भी फैली। आठवीं शताब्दी में इसकी ख्याति चरमोत्कर्ष पर थी और इसे अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हो चुका था। यह भारत का ज्ञान-भंडार ही नहीं, अपितु विश्व में ज्ञान-विज्ञान का पथ-प्रदर्शक हो गया था। ग्यारहवीं शती तक यह अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा का केंद्र रहा। बारहवीं शती में तुर्कों के भयंकर आक्रमणों तथा अमानुषिक प्रहारों से यह विश्वविद्यालय नष्ट-भ्रष्ट हो गया, लेकिन आज भी नालंदा के खंडहर भारत के वैभव और गौरवपूर्ण अतीत की कहानी कह रहे हैं।

वलभी :

वर्तमान काठियावाड़ में आधुनिक वाला के समीप पाँच से सात किलोमीटर भीतर की ओर लगभग 7000 निवासियों की आबादीवाला एक छोटा सा कस्बा है। यहीं वलभी महाविहार

स्थित था। यह महाविहार बौद्धमत की हीनयान (थेरवाद) शाखा के विशिष्ट केंद्र के रूप में विकसित हुआ था।

एक वैभवशाली नगर के रूप में वलभी का आविर्भाव गुप्त काल में हुआ।³¹ 475 ई० से 775 ई० तक यह मैत्रक नरेशों की राजधानी था, जिन्होंने बड़ी उदारता से वलभी शिक्षण संस्थाओं को दान दिया। ये विहारों के पक्के समर्थक थे। विहारों के सामान्य व्यय को पूर्ण करने के लिए दान के अतिरिक्त वे 'बौद्धमत पर पुस्तकें' प्राप्त कर पुस्तकालय को सुदृढ़ करने के लिए दान दिया करते थे।³² मैत्रक नरेश ध्रुवसेन प्रथम की बहन की पुत्री दुड्डा ने वलभी में प्रथम बौद्ध विहार का निर्माण कराया था।³³ आचार्य भदंत स्थिरमति नामक महान बौद्ध विद्वान आचार्य ने वलभी में एक अन्य प्रसिद्ध बौद्ध विहार 'श्री बप्पापट' की स्थापना की। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने वलभी में 100 प्रसिद्ध बौद्ध विहारों का उल्लेख किया है, जिनमें 6000 बौद्ध भिक्षु निवास करते थे।³⁴ इत्सिंग के अनुसार भारत में नालंदा और वलभी दो ऐसे स्थान थे, जहाँ बड़े-बड़े विद्वान अपनी शिक्षा पूर्ण करने के अनंतर दो या तीन वर्ष तक निवास करते थे। शंका-समाधान के निमित्त देश के प्रत्येक भाग से जिज्ञासु वलभी आते थे। यदि वलभी के आचार्यों द्वारा उनके मत की पुष्टि कर दी जाती थी तो वह प्रसिद्ध हो जाते थे।

नालंदा के समान वलभी का पुस्तकालय भी संपन्न था। एक बहुमंजिले विहार में वलभी विश्वविद्यालय का विशाल पुस्तकालय था। इसके लिए ग्रंथों के क्रय-हेतु तत्काल ही राजकीय अनुदान एवं धन उपलब्ध था। यद्यपि वलभी में धार्मिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी तथापि प्रधानता लौकिक विषयों की ही थी।³⁵ अर्थशास्त्र और उससे संबंधित विषयों का, नीति (विधि) और धर्म, चिकित्साशास्त्र आदि जैसे व्यावहारिक विषयों का अध्यापन कराया जाता था। नालंदा की भाँति वलभी के स्नातक अपनी योग्यताओं और सिद्धांतों का प्रदर्शन करने राजदरबारों में जाते थे, जहाँ वह अपनी प्रशासकीय प्रतिभा का भी प्रदर्शन करते थे, जिससे उन्हें राजकीय सेवाओं में स्थान प्राप्त हो सके।³⁶ अपने आचार्यों की विद्वत्ता एवं पांडित्य के कारण वलभी की ख्याति दूर-दूर तक थी। यहाँ के विद्यार्थी विद्वानों की सभा में अपने ज्ञान-सिद्धांतों, तर्कों के द्वारा अपनी योग्यता तथा दक्षता को भी अभिव्यक्त करते थे। विख्यात विद्वानों के नाम सम्मानपूर्वक राजभवन के ऊँचे-ऊँचे द्वारों पर सफेद रंग से लिखे जाते थे।³⁷ वलभी के आचार्यों में गुणभूति, स्थिरमति तथा जयसेन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

वलभी समृद्ध नगरी थी। राजकीय अनुदानों के कारण विश्वविद्यालय को आर्थिक अभाव नहीं था। अतः लगभग 775 ई० तक वलभी विश्वविद्यालय बहुत अच्छी स्थिति में चलता रहा। लगभग इसी समय अरबों के आक्रमण प्रारंभ हुए और इसका पतन प्रारंभ हुआ; किंतु लगभग 12वीं शताब्दी तक पश्चिमी भारत में वलभी शिक्षा का महान, लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध केंद्र रहा।

विक्रमशिला :

नालंदा के स्वर्णिम दिनों के पश्चात् जो अन्य बौद्ध शिक्षा-केंद्र विकसित हुए, उनमें विक्रमशिला एक प्रसिद्ध महाविहार था। चीनी यात्रियों के वर्णनों में जो स्थान नालंदा को प्राप्त है, तिब्बतीय कथाओं में वहीं सम्मान विक्रमशिला को दिया गया है। विक्रमशिला मठ, जिसे पालवंशीय राजा धर्मपाल द्वारा स्थापित माना जाता है³⁸, चार शताब्दी से अधिक समय तक

विद्या का एक अंतर्राष्ट्रीय केंद्र रहा। धर्मपाल ने इस मठ को मुक्तहस्त से दान दिए। विक्रमशिला की स्थिति का सही प्रकार से ज्ञान नहीं मिलता है। कहा जाता है कि यह 'पूर्वी मगध' प्रदेश में गंगा नदी के निचले भाग में स्थित था, जो बंगाल एवं बिहार प्रांत में गंगा नदी की अनेक शाखाओं तक फैले मैदानी क्षेत्र में कहीं पर भी हो सकता है।³⁹

विक्रमशिला के उत्कर्षकाल में तिब्बत के लोग इससे भली-भाँति परिचित थे। विक्रमशिला और तिब्बत के बौद्धों के मध्य गहरा संबंध था। भारतीय विद्वानों के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए आनेवाले तिब्बती विद्वानों हेतु एक विशेष अतिथिगृह था।⁴⁰

पाल शासकों द्वारा विक्रमशिला शिक्षा-केंद्र का प्रशासन प्रमुख भिक्षु अध्यापकों की एक समिति को सौंपा गया था। इस समिति के विभिन्न सदस्यों को भिन्न-भिन्न प्रशासनिक उत्तरदायित्व सौंपे जाते थे, जैसे नवभिक्षु को दीक्षित करना, कर्मचारियों की आपूर्ति एवं कार्यों की देखरेख, भोजन एवं ईंधन का विभाजन, मठ के कार्यों का विभाजन इत्यादि। भिक्षु प्रवक्ता सादा जीवन व्ययतीत करते थे। उनमें से प्रत्येक के ऊपर चार सामान्य भिक्षुओं के व्यय के बराबर व्यय आता था।⁴¹

विक्रमशिला विहार मुख्य रूप से 'तांत्रिक बौद्ध मत' के अध्ययन के लिए विख्यात था। यहाँ व्याकरण, अध्यात्मशास्त्र, तर्कशास्त्र और धार्मिक संस्कारों के विषय की भी विशेष रूप से शिक्षा दी जाती थी। इस संस्थान के मुख्य अधिकारी को 'अध्यक्ष' कहा जाता था। आख्यानों में विक्रमशिला के अध्यक्षों के कुछ नाम मिलते हैं यथा— बुद्धज्ञानपाल, जैतारी, अभ्यंकरगुप्त, दीपांकर श्रीज्ञान, शाक्यश्रीभद्र आदि। विक्रमशिला में शैक्षणिक उपाधियाँ देने की प्रथा थी, जो विशिष्टता की परिचायक होती थीं। ये उपाधि 'पंडित' (विद्वान) तथा 'महापंडित' (महाविद्वान) थीं, जो राजा द्वारा प्रदान की जाती थीं।

विक्रमशिला के विख्यात आचार्यों के कारण यहाँ विद्यार्थियों की संख्या काफी बढ़ गई थी। बारहवीं शताब्दी में 3000 विद्वान भिक्षु यहाँ निवास करते थे।⁴² विश्वविद्यालय के पास अपना एक समृद्ध पुस्तकालय था, जिसकी उन विदेशी आक्रांताओं द्वारा भी प्रशंसा की गई थी, जिन्होंने इसको ध्वस्त किया था।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय के एक सफल ज्ञान-केंद्र होने का प्रमाण यहाँ के उन अद्वितीय, सच्चरित्र एवं ज्ञानवान आचार्यों की बड़ी संख्या और उनके ज्ञान के स्तर से उपलब्ध होता है, जिन्होंने अपनी कृतियों द्वारा ज्ञान और धर्म को समृद्ध बनाया एवं कार्य रूप से एक-दूसरे अर्थात् तिब्बत की सभ्यता और संस्कृति का निर्माण किया। तिब्बत ने इन विद्वानों यथा बुद्धज्ञानपाद, वैरोचनरक्षित, जैतारी, प्रज्ञान करमति, बागीश्वर कीर्ति, रत्नवज्र, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नाकरशांति, धर्मकीर्ति, दीपांकर श्रीज्ञान, तथागत रक्षित आदि की यादगार को साभार सुरक्षित रखा है। सुकुमार दत्त ने लिखा है कि दीपांकर श्रीज्ञान इन सभी विद्वानों में शिरोमणि थे। तिब्बतवासी इन्हें अपना पूज्य देव 'अतिषा' अथवा 'जोबोरी अतिषा' मानते थे और उन्हें देवता 'मंजूश्री' का अवतार स्वीकार करते थे।⁴³ दीपांकर श्रीज्ञान द्वारा तिब्बत में 13 वर्ष तक धर्मप्रचार के परिणास्वरूप ही वस्तुतः तिब्बत में बौद्ध धर्म की स्थापना हुई तथा उन्होंने पदमसंभव द्वारा प्रारंभ की गई 'लामा परंपरा' को सुव्यवस्थित कर स्थायित्व प्रदान किया।⁴⁴

मध्ययुग में विक्रमशिला महाविहार बौद्धों के वज्रयान संप्रदाय के अध्ययन का महत्वपूर्ण

केंद्र था। सन् 1203 ई० में विजयमदांध मुहम्मदबिन बख्तियार खिलजी ने इस विश्वविद्यालय पर दुर्ग समझकर आक्रमण किया और बर्बरता से इसका विध्वंस कर दिया।

जगद्दला :

प्राचीन बंगाल में पालवंशीय राजाओं द्वारा स्थापित बौद्ध ज्ञान का एक महान केंद्र जगद्दला था। यह महाविहार पालवंश के राजा रामपाल द्वारा स्थापित किया गया था। रामपाल के दरबारी कवि संध्याकर नंदी द्वारा रचित ऐतिहासिक महाकाव्य 'रामचरित' में जगद्दला महाविहार का वर्णन निम्न प्रकार किया है—

'(वरेंद्री)— जहाँ मंद्र प्रकार के हाथी आयातित हैं (इसके जंगलों में) जहाँ जगद्दला के महाविहार में सभी के लिए प्रेम संचित था— जिस देश में (अपने ध्येय में) लोकेश (बोधिसत्व) की प्रतिमा धारण की हुई थी— तथा जिसकी महान ख्याति अब भी दिनोंदिन बढ़ रही थी (महाविहारों के) महान (अध्यक्ष) तथा तारा (की प्रतिमा) (की उपस्थिति) से।'⁴⁵

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि रामपाल के समय में वरेंद्री नामक स्थान में बौद्धमत प्रचलित था और उसका केंद्र जगद्दला महाविहार था।

बज्रयानी बौद्धमत के विद्वानों का मुख्य आश्रय-स्थल होने के कारण परवर्ती मध्यकाल में जगद्दला महाविहार ज्ञान का महान केंद्र बन गया था। यहाँ का पुस्तकालय अत्यंत समृद्ध था। यहाँ के विद्वानों द्वारा रचित ग्रंथ मुख्यतः वज्रयानी विषयों पर थे। इस महाविहार का संपर्क बौद्धमत के तिब्बती केंद्रों से भी था, जिसका अनुमान उन अनेक लोचवों (तिब्बती विद्वान अनुवादक) की लंबी सूची से लगता है, जिन्होंने विविध संस्कृत ग्रंथों का तिब्बती में अनुवाद किया था। 'कंजूर' व 'तंजूर' में बहुत बड़ी संख्या में ऐसे ग्रंथों के संबंध में जानकारी मिलती है, जिनके विषय में माना जाता है कि जगद्दला शिक्षा-केंद्र में या तो उनकी मूल रचना हुई या संस्कृत से तिब्बती में अनुदित हुए या फिर यहीं पर उनकी प्रतिलिपियाँ तैयार की गईं।⁴⁶

जगद्दला विश्वविद्यालय के महान विद्वानों में उल्लेखनीय नाम 'विभूतिचंद्र' का था, जिन्हें 'महापंडित' की उपाधि प्रदान की गई थी। जगद्दला विश्वविद्यालय से संबंधित एक अन्य प्रसिद्ध विद्वान 'शुभाकर' थे। शुभाकर को 'पंडित' की उपाधि दी गई थी। वह शाक्यश्री के आध्यात्मिक गुरु थे। जगद्दला महाविहार में निवास करते हुए उन्होंने संस्कृत भाषा में एक बौद्ध ग्रंथ 'सिद्धायक-वीर तंत्रिका' की रचना की। आचार्य दानशील ने इस ग्रंथ का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया था।⁴⁷ मोक्षाकर गुप्त भी जगद्दला के एक प्रसिद्ध विद्वान थे, जिन्हें 'महापंडित' की उपाधि दी गई थी। मोक्षाकर गुप्त ने महायान के प्रमुख विषय के अध्ययन में स्वयं को पूर्णतः रत कर लिया था। उन्होंने संस्कृत भाषा में 'तर्कभाषा' नामक ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ का तिब्बती अनुवाद 'तंजूर' में संग्रहीत है।

उपर्युक्त चारों विद्वान जगद्दला शिक्षा-केंद्र के महान विद्वानों में से प्रमुख विद्वान थे। यद्यपि जगद्दला महाविहार का इतिहास 13वीं शताब्दी तक आते-आते पूर्णतः समाप्त हो गया तथापि पाल राजाओं के समय दूसरे केंद्रों की भाँति और नालंदा की सहिष्णुतापूर्ण संस्कृति और ज्ञान की प्रथा जगद्दला में भी प्रचलित रही।

ओदंतपुरी :

पाल राजाओं के काल का एक प्रसिद्ध बौद्ध ज्ञान और शिक्षा-केंद्र ओदंतपुरी वर्तमान विहार शरीफ के समीप स्थित था। नालंदा महाविहार से इसकी दूरी मात्र 10 कि०मी० है। बिहार प्रदेश के नालंदा जिले में पाल वंश के संस्थापक गोपाल द्वारा ओदंतपुरी नगर बसाया गया था, जहाँ ओदंतपुरी महाविहार गुप्तकाल के नालंदा महाविहार के समान ही एक जगतप्रसिद्ध विद्या-केंद्र बन गया था।⁴⁸ ओदंतपुरी को ओदंतपुरा, ओदंतपुर या उड्यंतपुर भी कहा जाता है। एक तिब्बतीय किंवदंती के अनुसार यह विहार आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अपने पूर्ण मानचित्र के अनुसार विद्यमान रहा होगा, क्योंकि तिब्बत के प्रथम बौद्धविहार सम-ये (संस्कृत-अचिन्त्य विहार) का निर्माण इसी के अनुरूप सन् 749 ई० में करवाया गया था।⁴⁹

यद्यपि तिब्बतीय परंपरा या किंवदंती के आधार पर ओदंतपुरी का क्रमबद्ध इतिहास पुनिर्मित नहीं किया जा सकता है तथापि जैसाकि ज्ञात है कि तिब्बतीय विहार सम-ये ओदंतपुरी विहार की तिब्बती प्रतिकृति है। अतः सम-ये के आधार पर ओदंतपुरी के विशाल मूल वास्तुशिल्प का अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि सम-ये विहार स्वयं ही शताब्दियों पूर्व खंडहर में परिवर्तित हो चुका है और आज उसका वह स्वरूप कुछ ऐसा उपलब्ध नहीं है, जिससे उसके स्वरूप का अनुमान लगाया जा सके परंतु 1874 में जनपंडित नैनसिंह⁵⁰ इसके खंड में कुछ समय रहे, तब इस समय मूल इमारत का कुछ भाग विद्यमान था। पं० नैनसिंह द्वारा लिखित विवरण के आधार पर वाडेल के वर्णनानुसार⁵¹ 'महाविहार' जिसमें एक विशाल मंदिर, चार बड़े महाविद्यालय और अनेक अन्य इमारतें समाहित हैं, एक ऊँची वृत्ताकार दीवार से घिरा है, जिसके प्रवेशद्वार प्रमुख दिशाओं की तरफ हैं... मंदिर की दीवारों पर चीनी या प्राचीन भारतीय अक्षरों के अनेक विशाल अभिलेख हैं। मुख्य मंदिर के प्रकोष्ठ में, द्वार के बायीं ओर सचित्र जीवनचक्र का विशाल प्रतिरूप है।'

तिब्बती परंपरा में ओदंतपुरी महाविहार के साथ कुछ महान व प्रसिद्ध विद्वानों के नाम जुड़े हैं, परंतु उनमें दीपांकर श्रीज्ञान ही प्रमुख थे। उन्होंने यहाँ एक हीनयानी आचार्य शांतिरक्षित से दो वर्षों तक शिक्षा ग्रहण की थी। महायान संप्रदाय के महान ग्रंथकार अभयंकर गुप्त ने ओदंतपुरी महाविहार में अनेक पुस्तकों को तिब्बती में अनुवादित किया था। जिस समय अभयंकरगुप्त मगध में बौद्ध शिरोमणि थे अर्थात् ग्याहरवीं शती के अंत और बाहरवीं शती के प्रारंभ में, उस समय ओदंतपुरी शिक्षा केंद्र में 1000 से अधिक बौद्ध भिक्षु निवास करते थे।⁵² एक तिब्बती किंवदंती के अनुसार ओदंतपुरी महाविहार में आवासीय भिक्षुओं और श्रमणों की संख्या 12000 दी गई है, जिससे प्रतीत होता है कि यह एक विशाल एवं समृद्ध शिक्षा-केंद्र था।⁵³ ओदंतपुरी ने अध्ययन और अनुशीलन में बौद्धमत के सिद्धांतों का अच्छा प्रचार किया। तिब्बतीय विद्यार्थी इसकी ओर अधिक आकर्षित होते थे। यहाँ संभवतः वज्रयान और उसके बाद के संप्रदाय कालचक्रयान का विशेष रूप से अध्यापन तथा प्रचार होता था।

ओदंतपुरी के आचार्यों की विद्वत्ता एवं धर्मनिष्ठा से प्रभावित होकर पाल नरेशों ने इस विहार को प्रचुरता से दान दिए और इस शिक्षा-केंद्र के विकास एवं संवर्द्धन में अपना योगदान देकर इसका विस्तार किया परंतु ओदंतपुरी महाविहार अधिक समय तक अपनी महत्ता न बनाए रख सका और साढ़े चार शताब्दियों में ही पतनोन्मुख हो गया। ग्याहरवीं शती ई० के अंत तक यह

विहार अवनति की ओर अग्रसर हो चुका था।

इस महाविहार को अंतिम टेस तब लगी, जब इसे क़िला समझकर इस पर विदेशी आक्रमण हुआ। सन् 1175 ई० में गजनी के सुल्तान मुहम्मद ने भारत पर आक्रमण किया था। काफ़ी समय बाद 1243 ई० में इतिहासकार मिन्हाज़ ने इस आक्रमण की कथा एक प्रत्यक्षदर्शी से सुनकर अपनी पुस्तक 'तबकत-ई-नसीरी' में दी है।⁵⁴ यह प्रत्यक्षदर्शी शम्सुद्दीन अपने भाई निजामुद्दीन-सहित उस आक्रमणकारी सेना में सक्रिय भाग ले रहा था, जिसने यहाँ आक्रमण किया था। यह दोनों भाई 1243 ई० में लखनौती (अर्थात् उत्तरी बंगाल के मालदा ज़िले के गौड़ की लक्षणावती) में मिन्हाज़ से मिले थे और उसे निम्नलिखित कथा सुनाई थी, 'मुहम्मद इख़्तियार ज़िले के प्रवेश-द्वार पर केवल 200 घोड़ों के साथ गया और शत्रुओं की अनभिज्ञता में युद्ध प्रारंभ कर दिया। वह विशेष शक्ति और साहस के साथ ज़िले के प्रवेश-द्वार से घुस और उस स्थल पर अधिकार कर लिया। विजेता के हाथों वहाँ बड़े पैमाने पर विध्वंस हुआ। स्थल के अधिकांश निवासी सिरमुंडे थे। ये सभी मौत के घाट उतार दिए गए। वहाँ बड़ी संख्या में पुस्तकें प्राप्त हुईं। उसने उनको देखा तो कुछ ऐसे व्यक्तियों को बुलाना चाहा, जो उनकी विषयवस्तु को स्पष्ट कर सके। परंतु सभी व्यक्ति मारे जा चुके थे। बाद में पता चला कि पूर्ण क़िला व नगर एक विहार थे। हिंदीभाषा में विहार का अर्थ महाविद्यालय होता है।'

इस प्रकार शिक्षा का यह महत्वपूर्ण केंद्र पूर्णतया नष्ट हो गया। विहार शरीफ़ में बसे आधुनिक कस्बे के नीचे समय का एक इतना महत्वपूर्ण महाविहार, जो अपने समय में बौद्धमत की शिक्षाओं का महान केंद्र था, आज विलीन हो चुका है, जिसके अवशेष तक को प्राप्त करना अब लगभग असंभव है।

संदर्भ

1. पालि भाषा में तक्षशिला को तखसिला कहा जाता है।
2. भदंत आनंद कौसल्यायन-जातक, खंड-3, तिलमुट्टि जातक-252, पृ० 7
3. वही, दशमुख जातक-378, पृ० 397
4. वही, खंड-4, सुरुचि जातक-489, पृ० 52
5. वही, खंड-3, ब्रह्मादत्त जातक-336, पृ० 280
6. वही, खंड-3, तिलमुट्टि जातक-252, पृ० 7
7. भदंत आनंद कौसल्यायन-जातक, खंड-5, सरभङ्ग जातक-522, पृ० 209
8. ए०के० भागवत (सं०), महावग्ग (विनयपिटक) अध्याय-8
9. भदंत आनंद कौसल्यायन, जातक, खंड-2, कोसिय जातक-130, पृ० 98, अनभिरति जातक-185, पृ० 280
10. वही, खंड-4, उदय जातक-458, पृ० 306
11. वही, खंड-5, चुल्लसुतसोम जातक-525, पृ० 260
12. वही, सोननंद जातक-532, पृ० 394
13. वही, खंड-6, खंडहाल जातक-542, पृ० 150
14. वही, खंड-4, युवन्ध्य जातक-460, पृ० 320
15. वाटर्स (अनु०), ह्वेनसांग, खंड-2, पृ० 47

16. वही
17. भदंत आनंद कौसल्यायन-जातक, खंड-2, गुत्तिल जातक-243, पृ० 456-57
18. ए०एस० अल्लेकर, एजूकेशन इन एशियंट इंडिया, पृ० 219
19. उमा पांडेय, भारत के सांस्कृतिक केंद्र, वाराणसी, पृ० 41
20. हिंदू राजा गोविंदचंद्र की बौद्ध पत्नी कुमारदेवी ने बारहवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में इस संस्था को जागीर प्रदान की। यहाँ हुए उत्खनन से भी पता चलता है कि 12वीं शती तक यह संस्थान उन्नत दिशा में चलता रहा।
21. कर्निघम, एशियंट ज्योग्राफी ऑफ इंडिया, पृ० 468 : कर्निघम ने चीनी यात्रियों द्वारा उल्लिखित दिशा और दूरी के आधार पर तथा वहाँ प्राप्त मूर्तियों एवं शिलालेखों के आधार पर इसकी पुष्टि की है।
22. वाटर्स (अनु०), ह्वेनसांग, खंड-2, पृ० 164
23. तकाकुसु (अनु०), इत्सिंग, पृ० 65
24. बील (अनु०), लाइफ ऑफ ह्वेनसांग, पृ० 112
25. वाटर्स (अनु०), ह्वेनसांग, खंड-2, पृ० 165
26. तकाकुसु (अनु०), इत्सिंग, पृ० 26
27. ए० घोष, ए गाइड टू नालंदा, पृ० 45
28. बील (अनु०), लाइफ ऑफ ह्वेनसांग, पृ० 112
29. बील (अनु०), वही
30. विद्याभूषण, हिस्ट्री ऑफ दि मैग्विल स्कूल ऑफ इंडियन लॉलिक, परिशिष्ट ए।
31. डा० उदयनारायण राय, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृ० 200
32. डा० प्रियसेन गुप्ता, भारत के प्रमुख बौद्ध तीर्थ-स्थल, पृ० 130
33. वलभी के राजा गुह्यसेन के दानपत्र के आधार पर
34. बील (अनु०), ह्वेनसांग, खंड-2, पृ० 266
35. तकाकुसु (अनु०), इत्सिंग, पृ० 177
36. वही
37. वही, पृ० 178
38. तिब्बती कथाएँ इस पर एक मत नहीं हैं। दीपांकर श्रीज्ञान द्वारा लिखित एक तिब्बती पुस्तक के अंत में लिखे वृत्तांत में जयशील नामक शिष्य को दिए गए वचन में कहा गया है कि एक परंपरानुसार विक्रमशिला की स्थापना देवपाल द्वारा की गई थी। इस अंतर्कथा में महाविहार को देवपाल द्वारा स्थापित दर्शाया है। कार्डियर का कैटेलॉग, भाग-3, पृ० 321-22
39. सुकुमार दत्त, बुद्धिस्ट मौक्स एंड मोनेस्ट्रीज ऑफ इंडिया, पृ० 358
40. दास, इंडियन पंडित्स इन दि लैंड ऑफ स्नो, पृ० 58
41. बोस, इंडियन टीचर्स ऑफ बुद्धिस्ट यूनिवर्सिटीज, पृ० 35
42. वही, पृ० 84
43. सुकुमार दत्त, बुद्धिस्ट मौक्स एंड मोनेस्ट्रीज, पृ० 362
44. वही- 363
45. संध्याकरन द्वारा 'रामचरित' संस्कृत काव्य साहित्य में महाकाव्य लेखन की विशेष शैली के अनुसार

रचा गया था। इसमें प्रत्येक श्लोक के सीधे क्रम से तो रामायण में वर्णित रामकथा है, परंतु उल्टे क्रम से कवि के संरक्षक राजा रामपाल की जीवन कथा है, जोकि वास्तव में महाकाव्य का अभीष्ट विषय है।

46. आर०सी० मजूमदार तथा अन्य द्वारा संकलित, रामचरित, राजशाही, 1939, सर्ग 3, पद्य 7
47. सुकुमार दत्त, बुद्धिस्ट मौक्स एंड मोनेस्ट्रीज ऑफ इंडिया, पृ० 378
48. नोज, इंडियन टीचर्स ऑफ दि बुद्धिस्ट यूनिवर्सिटीज, पृ० 145
49. मुखर्जी, बापट एवं नलिनाक्ष दत्त आदि के अनुसार ओदंतपुरी विहार की स्थापना पाल शासन से पूर्व ही हो चुकी थी। पाल शासकों के समय में यह चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। अल्लेकर के अनुसार पाल नरेश रामपाल ने इसकी स्थापना की थी।
50. सम, ये विहार के भवन का पैग-साम-जोन-जैंग, भाग-2 (एस०सी० दास का संस्करण, पृ० 171) में निम्नलिखित विवरण दिया गया है, 'तिब्बत के राजदूतों को ऊपरी तिब्बत में एकाएक पद्मसंभव मिल गए और वह उन्हें राजा के पास लाए, जो सम-ये में रहता था... पद्मसंभव ने शांतिरक्षित के परामर्श से सम-ये में एक विशाल विहार की स्थापना करने का सुझाव दिया। जिसके माध्यम से तिब्बत में बौद्ध विहारों की प्रथा को प्रचलित किया जा सके। तदानुसार राजा ने एक बड़े विहार की स्थापना की, जो साधारण भाषा में सम-ये (संस्कृत में अचिन्त्य विहार) कहलाया। सम-ये का निर्माण ओदंतपुरी विहार के नमूने पर किया गया था, जो उस समय मगध का प्रसिद्ध विहार था। राजा ने मगध से दीक्षा प्राप्त 12 बौद्धभिक्षुओं को आमंत्रित किया। यह 12 बौद्धभिक्षु और मुख्य भिक्षु शांति रक्षित को मिलाकर तिब्बत की प्रथम बौद्ध संगीति बनी।'।
51. पंडित नैनसिंह तिब्बत में पुरातत्त्वविषयक खोजों में वाडेल के सहयोगी थे।
52. बोस, इंडियन टीचर्स ऑफ दि बुद्धिस्ट यूनिवर्सिटीज, पृ० 15
53. ब्लू एनल्स, खंड-2, पृ० 1031
54. इलियट एंड हाउस, हिस्ट्री ऑफ इंडिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, खंड-2, पृ० 306

□ आर०जी० (पी०जी०) कालिज,
मेरठ (उ.प्र.)

विश्वव्यापार-संगठन एवं भारतीय कृषि की विसंगतियाँ :

एक अध्ययन

डा० प्रशांत पाण्डेय

भारत एक कृषि-प्रधान देश है। कृषि को भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार कहा जाता है। आज वैश्वीकरण एवं उदारीकरण के दौर में भले ही हमने प्रत्येक क्षेत्र में विकास के नए आयामों को स्थापित कर लिया हो, किंतु इसके बावजूद आज भी हम कृषि पर निर्भर हैं। देश की लगभग 64 प्रतिशत जनसंख्या कृषि एवं इससे संबंधित उद्योग-धंधों पर निर्भर करती है। देश के कुल निर्यात का 13 प्रतिशत कृषि से ही प्राप्त होता है। भारत में कृषि केवल कृषि-क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि प्रमुख उद्योगों के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। भारत के प्रमुख उद्योग, जिनमें चीनी, सूती और पटसन वस्त्र, वनस्पति, बागान, हथकरघा आदि कृषि के विकास पर ही निर्भर हैं। भारत विश्व का दूसरा सब्जियों, चावल एवं गेहूँ का एवं तीसरा फलों का बड़ा उत्पादक देश है।

विश्व व्यापार संगठन, कृषि पर समझौता एवं भारतीय कृषि :

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् जब पुराने साम्राज्यवाद के बंधन ढीले पड़ने लगे तो ऐसे में विभिन्न देशों द्वारा ऐसे संगठन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी, जिससे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तथा रोजगार का विस्तार हो सके। विभिन्न देशों की इसी आवश्यकता के फलस्वरूप 30 अक्टूबर, 1947 को प्रशुल्क एवं व्यापार पर सामान्य समझौता हुआ, जिसे गैट के नाम से जाना गया। गैट की स्थापना के समय समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले देशों में 23 देश शामिल थे, जिनमें भारत भी था। कई वर्षों तक गैट के अंतर्गत शामिल होने वाले विभिन्न देश अपनी व्यापार संबंधी समस्याओं का निवारण सहजता से करते रहे। परंतु धीरे-धीरे इस समझौते में परिवर्तन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी और गैट की उरुग्वे चक्र (1986-93) की वार्ता के परिणामस्वरूप 1 जनवरी, 1995 को एक नए संगठन-विश्व व्यापार संगठन की स्थापना हुई। गैट की अस्थायी प्रकृति के विपरीत विश्व व्यापार संगठन एक स्थायी संगठन है एवं इसकी स्थापना सदस्य देशों की संसदों द्वारा अनुमोदित एक अंतर्राष्ट्रीय संधि के आधार पर हुई है। यह संगठन सदस्य देशों के मध्य समझौतों को सुनिश्चित करता है तथा उनके मध्य व्यापार-संबंधी विवादों में मध्यस्थ की भूमिका अदा करता है। वर्तमान में भारत सहित इसमें 149 सदस्य देश शामिल हैं।

विश्व व्यापार संगठन में कृषि-क्षेत्र की बढ़ती हुई संभावनाओं एवं अवसरों को ध्यान में रखते हुए इसके व्यापार में आनेवाली बाधाओं को दूर करने के लिए एक समझौता किया गया, जिसे कृषि पर समझौता (Agreement on Agriculture-AOA) नाम दिया गया। इस समझौते के अंतर्गत प्रावधान है कि विश्व व्यापार संगठन में शामिल सभी सदस्य देश आयातों

पर लगी रोक हटाएँगे, निर्यात सब्सिडी समाप्त करेंगे एवं कृषि आयात पर असर डालने वाली गैर-प्रशुल्क संबंधी बाधाओं को दूर करके कृषि वस्तुओं के लिए बाध्यकारी सीमाओं को समाप्त करेंगे ताकि सदस्य देशों के निर्यातों को समान अवसर प्राप्त हो सकें। कृषि पर समझौते में मुख्यतः तीन प्रमुख बातें शामिल की गई थीं, जिनमें समर्थन के समग्र माप (Aggregate Measure of Support-AMS) तहत विकसित देशों को 6 वर्ष की अवधि के भीतर 20 प्रतिशत तथा विकासशील देशों को 10 वर्ष की अवधि के भीतर 13.3 प्रतिशत की घरेलू समर्थन में कमी का प्रावधान किया गया। दूसरा, बाजार पहुँच (Market Access) उपायों के अंतर्गत विकसित देशों को सन् 2000 तक सभी कृषि उत्पादों के लिए टैरिफ दरों में 36 प्रतिशत की कमी एवं विकासशील देशों को सन् 2004 तक 24 प्रतिशत की कमी करना आवश्यक था। तीसरा, निर्यात सहायता (Export Subsidy) उपाय के अंतर्गत विकसित देशों को कृषि उत्पाद पर निर्यात हेतु दी जानेवाली सहायता में 6 वर्ष की अवधि के भीतर 21 प्रतिशत की कमी करना आवश्यक था। अब जबकि विश्व व्यापार संगठन द्वारा किए गए कृषि पर समझौते को एक दशक से भी अधिक का समय बीत चुका है, ऐसे में भारतीय कृषि पर इसके पड़नेवाले प्रभावों के मूल्यांकन का उचित समय आ गया है।

यदि हम विश्व-व्यापार संगठन द्वारा किए गए कृषि पर समझौते का अध्ययन करें तो हम पाते हैं कि समझौते में इस महत्वपूर्ण तथ्य को बिल्कुल नज़रअंदाज़ कर दिया गया है कि ज़्यादातर पिछड़े एवं विकासशील देशों की अधिकतम जनसंख्या कृषि पर निर्भर है, ऐसे में इन देशों के लिए समझौते में अलग से कोई रियायत का प्रावधान नहीं किया गया है। अतः यह समझौता मानवीय आधार पर किसी भी प्रकार से तर्क-संगत नहीं कहा जा सकता। पिछले कुछ वर्षों से यह देखने में आ रहा है कि विकसित देशों ने कृषि पर समझौते को आधार बनाकर विकासशील देशों का शोषण करना शुरू कर दिया है, जबकि वास्तविकता में विकसित देश स्वयं के हित में हुए इस समझौते का उल्लंघन करते हुए अपने यहाँ किसानों को रियायतें दे रहे हैं। वर्तमान में विकसित देश प्रतिदिन अपने किसानों को 81 अरब डॉलर की सब्सिडी देते हैं। अमरीका में प्रत्येक किसान को दी जानेवाली सब्सिडी 47 हजार डॉलर है, इसी प्रकार यूरोपीय संघ भी अपने यहाँ प्रत्येक किसान को 35 हजार डॉलर की सब्सिडी दे रहे हैं, परंतु ये देश भारत में प्रत्येक किसान को दी जानेवाली 110 डॉलर की सब्सिडी पर हाय-तौबा मचाते हैं। विश्व व्यापार एवं विकास रिपोर्ट के अनुसार पिछले कुछ वर्षों में ओ.ई.सी.डी. द्वारा अपने किसानों को कृषि-उत्पादों के मूल्य की 31 प्रतिशत सब्सिडी, चीन द्वारा 34 प्रतिशत, अमेरिका द्वारा 28 प्रतिशत, यूरोपीय संघ द्वारा 35 प्रतिशत, दक्षिण कोरिया द्वारा 62 प्रतिशत, जापान द्वारा 82 प्रतिशत, एवं भारत द्वारा केवल 2.5 प्रतिशत की सब्सिडी दी जा रही है। ऐसे में यह कहना ग़लत न होगा कि विकसित देश एक ओर तो विश्व-व्यापार संगठन में हुए इन समझौतों को आधार बनाकर विकासशील देशों पर अनावश्यक दबाव डाल रहे हैं, जबकि स्वयं ये देश कृषि-उत्पादों पर अधिक से अधिक सब्सिडी देकर अपने उत्पादों की कीमतें नीचे गिराते जा रहे हैं, जिससे विकासशील देशों के निर्यात पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है। यदि हम विश्व-निर्यात में कृषि-उत्पादों की विभिन्न देशों की हिस्सेदारी देखें तो तस्वीर साफ़ हो जाती है कि किस प्रकार आज भी विश्व बाज़ार में विकसित देशों का वर्चस्व बना हुआ है। वर्तमान में विश्व निर्यात में

कृषि उत्पादों के निर्यात में अकेले अमरीका का निर्यात 80 अरब डॉलर का है एवं विश्व-निर्यात में इसका अंश 10 प्रतिशत है। इसी प्रकार यूरोपीय संघ के कृषि-उत्पादों के निर्यात 350 अरब डॉलर के हैं एवं विश्व-निर्यात में इसका अंश 44 प्रतिशत है, जबकि इसके विपरीत भारत के कृषि-उत्पादों के निर्यात मात्र 9 अरब डॉलर का है एवं विश्व-निर्यातों में भारत का अंश केवल 1 प्रतिशत ही है। यहाँ यह भी महत्वपूर्ण तथ्य है कि भारत की गिनती एक कृषि-प्रधान देश के रूप में होती है।

उपर्युक्त तथ्यों को जानने के पश्चात् अब हमारे लिए यह भी जानना आवश्यक है कि जिस वैश्वीकरण एवं उदारीकरण को हम अपने देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक मान रहे हैं, उसके एवं विश्व-व्यापार संगठन की स्थापना के पश्चात् हमारे देश में कृषि-उत्पादों के आयात-निर्यात के मूल्यों में क्या परिवर्तन हो रहे हैं।

वैश्वीकरण एवं उदारीकरण के पश्चात् कृषि उत्पादों के आयात-निर्यात :

वर्ष	निर्यात	आयात (कुल निर्यात का प्रतिशत)
1980-81	30.00	उपलब्ध नहीं
1991-92	17.80	3.99
1992-93	16.84	9.54
1993-94	18.05	3.18
1994-95	15.99	6.60
1995-96	19.18	4.80
1996-97	20.33	4.76
1997-98	19.10	5.70
1998-99	18.25	8.17
1999-2000	15.91	7.45
2000-01	14.28	5.31
2001-02	14.19	6.67
2002-03	13.10	5.77
2003-04	12.70	6.12
2004-05	11.20	4.59

तालिका से स्पष्ट है कि भारत में वैश्वीकरण एवं उदारीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ होने के पूर्व 1980-81 में भारत के निर्यात में कृषि-उत्पादों का अंश 30 प्रतिशत था, जो 1991-92 तक घटकर 17.80 प्रतिशत तक पहुँच गया। 1991-92 में जब भारत में आर्थिक सुधार कार्यक्रम की प्रक्रिया शुरू हुई तो हमारे योजनाकारों को यह आशा थी कि हमारे कृषि-उत्पादों के निर्यात में वृद्धि होगी, परंतु आशा के विपरीत कृषि-उत्पादों के निर्यात-अंश में कमी होती गई। यद्यपि 1 जनवरी, 1995 को जब विश्व-व्यापार संगठन बना तो इसके पश्चात् कुछ समय के लिए तो कृषि-उत्पादों के निर्यात के अंश में वृद्धि की प्रवृत्ति बनी परंतु योजनाकारों की यह उम्मीद भी निरर्थक साबित हुई और हमारे निर्यात में कृषि-उत्पादों का अंश अनवरत गिरता चला गया। वर्ष 2004-05 के दौरान भारत के निर्यात कृषि-उत्पादों का अंश 11.20 प्रतिशत ही रह

गया। भारत में कृषि-उत्पादों के निर्यात के विपरीत यदि हम इसके आयात का अध्ययन करें तो तस्वीर इसके ठीक विपरीत सामने आती है। विश्व-व्यापार संगठन की स्थापना के पश्चात् से ज्यादातर वर्षों में भारत के आयात में कृषि-उत्पादों का अंश बढ़ रहा है।

उपर्युक्त आँकड़ों के अध्ययन से एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि विश्व-व्यापार संगठन में कृषि पर समझौते का सीधा नुकसान भारत एवं अन्य विकासशील देशों को हो रहा है, जबकि विकसित देश आज भी गैर-शुल्क बाधाओं का सहारा लेकर हमारे निर्यात को प्रतिबंधित कर रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों से यह देखने में आ रहा है कि विकसित देशों पर जब इन समझौतों के उल्लंघन के आरोप लगते हैं तो वे गुणवत्ता-नियंत्रण, स्वास्थ्य-संबंधी मानकों का सहारा लेकर विकासशील देशों के आयात पर रोक लगा देते हैं। पिछले कुछ वर्षों में अमरीका द्वारा भारतीय झींगा मछली के आयात पर यह कहकर रोक लगा दी गई कि भारत में मछलियों को पकड़नेवाले जाल इस प्रकार के हैं कि मछलियाँ पकड़ते समय कछुए भी फँस जाते हैं और मर जाते हैं, चूँकि कछुआ एक विलुप्तप्रायः जंतु है, अतः ऐसे में वह इन मछलियों का आयात नहीं करेगा। इसी प्रकार कुछ विकसित देशों ने भारतीय फलों को गुणवत्ता का आधार बनाकर इनके आयात को प्रतिबंधित कर रखा है।

विश्व-व्यापार संगठन के कुछ समझौते न केवल विकासशील देशों की संप्रभुता को चोट पहुँचा रहे हैं बल्कि अर्थव्यवस्था को भी प्रभावित कर रहे हैं। वास्तव में वैश्वीकरण एवं उदारीकरण के इस दौर में बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ विश्व व्यापार संगठन की नीतियों के सहारे भारत की उर्वरा भूमि पर नज़रें गढ़ाए बैठी हैं और उन्होंने अपनी इस रणनीति के तहत जिस कृषि-उत्पाद की पैदावार भारत में ज्यादा होती है उसकी कीमतें जानबूझकर घटानी शुरू कर दी हैं, ताकि मजबूरन इन उत्पादों का आयात बढ़े और हमारे किसानों को घाटा होने लगे, जिससे वे अपनी भूमि इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों को पट्टे पर दे दें। वर्तमान में फल, कपास, गेहूँ, रबर, चीनी आदि के खुले आयात से इनकी कीमतें गिरी हैं एवं किसानों को अपने उत्पाद लागत से भी कम मूल्य पर बेचकर हानि उठानी पड़ रही है, जिससे भारतीय किसानों की स्थिति दिन-प्रतिदिन दयनीय होती जा रही है। भारत में किसानों की दयनीय होती स्थिति का एक और प्रमुख कारण है, जिस पर हम ध्यान नहीं दे रहे हैं। भारत में सरकार द्वारा किसानों को विभिन्न क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों, सहकारी बैंकों, वाणिज्यिक बैंकों आदि से ऋण तो आसनी से मिल जाता है परंतु आज जिस प्रकार किसान भी वैश्वीकरण एवं उदारीकरण की नीतियों के परिणामस्वरूप होनेवाले परिवर्तनों की चकाचौंध (Demonstration Effect) से प्रभावित होता जा रहा है, ऐसे में देखने को मिल रहा है कि किसान द्वारा ऋण द्वारा प्राप्त हुई राशि को फसल में लगाने के पश्चात फसल से जो आय होती है, उसे वह कर्ज को चुकाने के स्थान पर ऐसी नई तकनीकों वाली मँहगी वस्तुएँ खरीद लेता है, जिसकी उसे किसी भी प्रकार से आवश्यकता नहीं होती। परंतु वह ऐसा करते समय ऋण के बोझ-तले दबता चला जाता है। ऐसे में जब उस पर ऋण का दबाव बहुत ज्यादा होने लगता है तो मानसिक तनाव के कारण वह आत्महत्याएँ कर लेता है। भारत में औसतन 25 किसान प्रतिदिन आत्महत्याएँ कर रहे हैं।

आज वैश्वीकरण एवं उदारीकरण के दौर में विकसित देशों द्वारा विश्व-व्यापार संगठन की सहायता से मुक्त व्यापार के नाम पर ऐसे समझौते कराए जा रहे हैं, जो विकसित देशों के

लिए अधिक लाभप्रद हों। ऐसे में भारत एवं अन्य विकासशील देशों को चाहिए कि वे विभिन्न क्षेत्रीय संगठनों के माध्यम से संगठित होकर, सलाह करके ऐसी रणनीति बनाएँ, जिससे इन देशों द्वारा स्वयं के हित में कराए जा रहे समझौतों को मनमाने ढंग से लागू कराने से रोका जा सके। परंतु हमें इन बातों से भी मुँह नहीं छिपाना चाहिए कि भारत में कृषि-क्षेत्र की समस्याओं की जड़ आंतरिक विसंगतियाँ भी हैं, जिन्हें हम स्वयं ही दूर कर सकते हैं परंतु हम इनकी तरफ ध्यान नहीं दे रहे हैं।

भारतीय कृषि की आंतरिक विसंगतियाँ :

भले ही योजनाकारों ने अपनी नीतियाँ बनाते समय कृषि को महत्वपूर्ण स्थान दिया हो, इसके बावजूद यदि हम विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि विकास-दर एवं अर्थव्यवस्था की औसत विकास दर पर नज़र डालें तो पाते हैं कि देश में प्रथम पंचवर्षीय योजना के अतिरिक्त कोई भी ऐसी योजना नहीं रही है, जिसमें कृषि-विकास दर अर्थव्यवस्था की औसत विकास दर से अधिक रही हो।

पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि विकास दर एवं औसत विकास दर

योजना	कृषि विकास दर	औसत विकास दर
प्रथम पंचवर्षीय योजना	2.71	2.1
द्वितीय पंचवर्षीय योजना	3.2	4.5
तृतीय पंचवर्षीय योजना	0.73	5.6
चतुर्थ पंचवर्षीय योजना	2.6	5.7
पाँचवीं पंचवर्षीय योजना	3.3	4.4
छठवीं पंचवर्षीय योजना	2.5	5.2
सातवीं पंचवर्षीय योजना	3.5	5.0
आठवीं पंचवर्षीय योजना	4.7	5.6
नवीं पंचवर्षीय योजना	2.1	6.5
दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-07)		
2002-03	7.0	4.0
2003-04	9.6	8.5
2004-05	1.1	7.0

केवल प्रथम पंचवर्षीय योजना में अर्थव्यवस्था की औसत वृद्धिदर 2.1 प्रतिशत के विपरीत कृषि विकास दर 2.71 प्रतिशत रही। परंतु जैसे-जैसे पंचवर्षीय योजनाएँ आगे बढ़ती गईं, कृषि की हालत बिगड़ती गई। दसवीं पंचवर्षीय योजना बनाते समय योजनाकारों को आशा थी कि कृषि की विकास-दर में सुधार आएगा, परंतु योजनाकारों की यह सोच आज दिवास्वप्न की तरह ही नज़र आ रही है। वर्ष 2004-05 के दौरान अर्थव्यवस्था की औसत विकास-दर तो 7 प्रतिशत तक पहुँच गई, परंतु कृषि विकास-दर 1.1 प्रतिशत ही रह गई। भारत में जहाँ एक ओर कृषि-विकास दर में निरंतर कमी आ रही है, वहीं दूसरी ओर जनसंख्या में वृद्धि द्रुतगति से (लगभग 2 प्रतिशत औसत वार्षिक वृद्धि दर) बढ़ती जा रही है। यदि जनसंख्या वृद्धि की यही

गति रही तो वह दिन दूर नहीं जब भारत कृषि-प्रधान देश होते हुए भी कृषि का आयातक देश बन जाएगा।

भारत में कृषि में आ रही विसंगतियों के लिए हमारे योजनाकारों की नीतियाँ भी बहुत हद तक जिम्मेदार रही हैं। उदाहरण के लिए अमरीका में सकल घरेलू उत्पाद का 4 प्रतिशत हिस्सा कृषि-अनुसंधान पर व्यय किया जाता है, जबकि भारत में यह व्यय मात्र 0.3 प्रतिशत ही है। इसी प्रकार विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि एवं संबद्ध क्षेत्र में दी जानेवाली सहायता के अंश में लगातार कमी आ रही है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में जहाँ कृषि पर परिव्यय 37 प्रतिशत था, जो छठी योजना तक 24 प्रतिशत एवं दसवीं योजना तक 20 प्रतिशत ही रह गया।

यदि हमें भारतीय कृषि को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्धात्मक बनाना है तो हमें अपने कृषि-क्षेत्र की घरेलू विसंगतियों को दूर करना ही होगा। इसके लिए कृषि-उत्पादकता बढ़ाने पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। कृषि-उत्पादकता में आनेवाली कमी सबसे बड़ी बाधा ढाँचागत सुविधाओं (सड़क, रेल, जल, विद्युत, संचार, भंडारण आदि) का अभाव है। बल्कि इन सुविधाओं का वास्तविक लाभ किसानों को नहीं मिल पा रहा है। इसके अतिरिक्त कृषकों को नवीनतम कृषि तकनीक के संबंध में द्रुतगति से जानकारी पहुँचाने के लिए कृषि-प्रसार में दूरसंचार एवं सूचना प्रौद्योगिकी को बढ़ावा देना होगा। मानव संसाधन विकास के लिए कृषकों को प्रशिक्षण देना, कृषि-अनुसंधान व्यय को बढ़ाना एवं अनुसंधान से प्राप्त हुए निष्कर्षों को व्यावहारिकता में लाना होगा, तभी हम वर्तमान वैश्विक परिवेश में भारतीय कृषि को प्रतिस्पर्धात्मक बना सकने में समक्ष होंगे।

□ 424 ए, वैशाली एन्क्लेव विस्तार
सेक्टर-9, इंदिरा नगर,
लखनऊ (उ.प्र.)

ग्रामीण विकास हेतु सरकार की योजनाएँ

अजयकुमार सोनकर

शोध छात्र, वीरबहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर

प्रदेश के सर्वांगीण विकास में ग्रामों के सामाजिक व आर्थिक विकास की दिशा में किए गए प्रयासों का विशेष महत्त्व है। उत्तर प्रदेश के लिए तो यह इसलिए भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस प्रदेश की लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या मूलतः ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए प्रदेश के 70 प्रतिशत से अधिक वित्तीय संसाधन ग्रामीण क्षेत्रों के विकास में विनियोजित किए जा रहे हैं।

वर्तमान में प्रदेश के आर्थिक विकास हेतु जहाँ एक ओर ग्रामों में व्याप्त गरीबी और बेरोज़गारी जैसी समस्याओं से जूझने के लिए समन्वित प्रयास किए जाने आवश्यक हैं, वहीं दूसरी ओर अपेक्षाकृत सुविधाहीन वर्गों (जिनमें विशेषकर अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के व्यक्ति व महिलाएँ सम्मिलित हैं) के हितार्थ विशिष्ट प्रकार की योजनाओं की संरचना व उसके क्रियान्वयन की भी आवश्यकता महसूस की गयी है। ग्राम्य विकास के कार्यक्रमों में अधिक गुणवत्ता लाए जाने के लिए तथा उनको अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए विशिष्ट बिंदुओं पर आधारित रणनीति तैयार की गयी है। इसके अंतर्गत चालू योजनाओं का अधिकतम लाभ लाभार्थियों को मिलने के लिए सतत् प्रभावशाली व गहन मूल्यांकन, अनुश्रवण तथा भौतिक सत्यापन किया जाएगा।

सरकार का स्पष्ट मत है कि ग्रामीण क्षेत्र ही हमारे आर्थिक विकास के केंद्र बिंदु हैं। सरकार का पूरा प्रयास है कि आर्थिक विकास, सामाजिक न्याय का लाभ ग्रामीण अंचलों के निवासियों को भी प्राप्त हो। ग्राम्य विकास विभाग के प्रमुख कार्यक्रमों का विवरण निम्नवत् है :
एकीकृत ग्राम्य विकास कार्यक्रम :

चतुर्थ पंचवर्षीय योजनाओं से क्षेत्रीय विषमताओं को कम करने तथा ग्रामीण क्षेत्र में गरीबी की रेखा के नीचे जीवनयापन करनेवाले परिवारों के आर्थिक विकास के लिए विभिन्न योजनाओं का कार्यान्वयन प्रारंभ किया गया है। इन योजनाओं में प्रारंभ के समय कृषि व्यवसाय पर आश्रित परिवारों के आर्थिक विकास को ही दृष्टिगत रखा गया था, तदुपरांत परिवारों के चयन का आधार कृषि स्रोतों के आधार पर निर्धारित न होकर परिवार की वार्षिक आय को बनाया गया है तथा ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी की रेखा के नीचे जीवन-यापन करनेवाले परिवारों को गरीबी से ऊपर उठाने के लिए संपूर्ण प्रदेश में 1980-81 से एकीकृत ग्राम्य विकास योजना चलायी जा रही है, जिसके अंतर्गत प्रतिवर्ष बड़ी संख्या में गरीबी की रेखा के नीचे रहनेवाले परिवारों को बैंकों से ऋण तथा शासन से अनुदान उपलब्ध कराकर आर्थिक दृष्टि से उत्पादक परिसंपत्तियाँ उपलब्ध करायी जा रही हैं। यह योजना केंद्र द्वारा पुरोनिधानित योजना है। योजना में

होनेवाले व्यय का वहन केंद्र व राज्य सरकार द्वारा 50:50 के अनुपात में वहन किया जाता है। यह योजना प्रदेश के समस्त 901 विकास खंडों में चलाई जा रही है।

योजना का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करनेवाले ऐसे लघु-सीमांत कृषक/कृषक मजदूर, ग्रामीण शिल्पी, अन्य मजदूर, जिनकी वार्षिक आय 11000 रुपए से कम हो, को चिह्नित कर निर्धनतम को प्राथमिकता देते हुए उनके उपलब्ध संसाधन को आर्थिक रूप से उपादेय बनाने हेतु पूरक अनुदान एवं ऋण सहायता देकर उनकी वार्षिक आय को गरीबी की रेखा से ऊपर उठाने का है। परिवारों के चयन व आर्थिक कार्यकलापों के निर्धारण में ग्राम पंचायतों को अहम भूमिका दी गयी है।

स्वतः रोजगार हेतु ग्रामीण युवकों की प्रशिक्षण योजना (ट्राइसेम) :

देश की बढ़ती हुई बेरोजगारी को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार की 50 प्रतिशत वित्तीय सहायता से वर्ष 1979-80 से प्रदेश के समस्त विकास खंडों में स्वतः रोजगार हेतु ग्रामीण युवकों को प्रशिक्षण की योजना (ट्राइसेम) प्रारंभ की गई है। इस योजना का उद्देश्य ग्रामीण अंचलों में गरीबी की रेखा से नीचे जीवन-यापन कर रहे परिवारों के युवकों, जिनकी आय सामान्यतः 18 से 35 वर्ष के बीच हो, अल्पकालीन प्रशिक्षण देकर स्थानीय संसाधनों पर आधारित उचित उद्योग-धंधों एवं व्यवसायों तथा सेवाओं में रोजगार दिलाया जाना है ताकि वे स्वतः या सवेतन रोजगार में स्थापित हो सकें। ट्राइसेम योजना के अंतर्गत प्रतिवर्ष लगभग 60 हजार युवाओं को विभिन्न व्यवसायों तथा विद्युत मैकेनिक, वेडिंग, पंपसेट मरम्मत, हैण्डपंप मरम्मत, रेडियो-टी.वी. मरम्मत, साइकिल-मरम्मत, फोटोग्राफी आदि व्यवसायों में प्रशिक्षण दिया जा रहा है।

जवाहर रोजगार योजना :

बेरोजगारी तथा अर्द्धबेरोजगारी ग्रामीण क्षेत्रों की मूल समस्याएँ हैं। ग्रामों में गरीबी की रेखा के नीचे जीवन-यापन करनेवाले परिवारों की बेरोजगारी एवं अर्द्धबेरोजगारी की समस्या के समाधान हेतु 'राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (एन.आर.ई.पी.)' भारत सरकार द्वारा वर्ष 1980 में केंद्र पुरोनिधानित योजना के रूप में प्रारंभ किया गया, जिसमें राज्य एवं केंद्र सरकार द्वारा धनराशि 50:50 के अनुपात में वहन की गयी। इस योजना का उद्देश्य भूमिहीन श्रमिकों, सीमांत कृषकों, ग्रामीण दस्तकारों तथा अनुसूचित जाति/जनजाति के व्यक्तियों को रोजगार उपलब्ध कराना था। वर्ष 1983 में यह अनुभव किया गया कि भूमिहीन श्रमिकों को, जो ग्रामीण गरीबों में आर्थिक रूप से सर्वाधिक दयनीय हैं, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार योजना से समुचित लाभ नहीं मिल पाया है, इसलिए इन परिवारों के कम-से-कम एक सदस्य को न्यूनतम 100 दिनों के अतिरिक्त रोजगार की गारंटी देने के उद्देश्य से 15 अगस्त, 1983 से ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी योजना (आर.एल.ई.जी.पी.) नामक एक पृथक् ग्रामीण कार्यक्रम प्रारंभ किया गया। उपर्युक्त दोनों कार्यक्रमों की गुणवत्ता में सुधार करने तथा रोजगार योजनाओं का लाभ समस्त ग्रामों तक पहुँचाने के उद्देश्य से 1 अप्रैल, 1989 से इन दोनों योजनाओं को समाप्त कर 'जवाहर रोजगार योजना' प्रारंभ की गई। ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी रेखा से नीचे जीवन-यापन करनेवाले परिवारों के बेरोजगार एवं अर्द्धबेरोजगार इच्छुक व्यक्तियों (महिलाओं-सहित) को मजदूरी (रोजगार) उपलब्ध कराना योजना का मुख्य उद्देश्य है। साथ ही ग्रामों में अनुभूत

आवश्यकताओं के अनुरूप परिसंपत्ति-सृजन एवं ग्रामीण जीवन में गुणात्मक सुधार-योजना के गौण उद्देश्य हैं। यह योजना प्रदेश के प्रत्येक ग्राम पंचायत में चलाई जा रही है। जवाहर रोजगार योजना शुरू किए जाने के फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी रेखा के नीचे जीवन-यापन करनेवाले परिवारों के इच्छुक व्यक्ति योजना के अंतर्गत अपने ग्राम में ही मजदूरी (रोजगार) पा सकेंगे, क्योंकि योजना के कार्यान्वयन का कार्य ग्राम पंचायत के द्वारा किए जाने का प्रावधान है। योजनांतर्गत अनुसूचित जाति/ जनजाति, बंधुआ मजदूरों/ महिलाओं को रोजगार में प्राथमिकता दी जाती है।

ग्राम पंचायतों की कार्य-योजनाओं का तकनीकी परीक्षण उनकी आवश्यकतानुसार विकास खंड स्तरीय अधिकारी से कराकर पंचायतें उन योजनाओं को स्वयं स्वीकृत करने हेतु सक्षम होंगी। योजनांतर्गत उपलब्ध धनराशि का 60 प्रतिशत श्रमांश पर व्यय किया जाना अनिवार्य है। ग्राम पंचायत स्तर पर ली जानेवाली परियोजनाओं में यदि अतिरिक्त सामग्री अंश की आवश्यकता होती है तो उसके लिए पंचायतें दान एवं चंदा स्वीकार कर सकती हैं।

योजना पर सामाजिक नियंत्रण हेतु ग्रामसभा की खुली बैठक वर्ष में कम-से-कम दो बार अवश्य बुलाई जाएगी। बैठकों में ग्रामसभा के किसी भी व्यक्ति द्वारा योजना के संबंध में कोई भी मुद्दा उठाया जा सकता है।

सुनिश्चित रोजगार योजना :

प्रदेश के नव सुदृढ़ सार्वजनिक प्रणाली से आच्छादित 20 जनपदों के 145 विकास खंडों में 2 अक्टूबर, 1993 से सुनिश्चित रोजगार योजना लागू की गयी है। इस योजना का उद्देश्य कम कृषि कार्य वाले महीनों में न्यूनतम मजदूरी दर पर ग्रामीण क्षेत्रों के 18 से 60 वर्ष की आयु के जरूरतमंद तथा अकुशल श्रमिक, कार्य करने के इच्छुक व्यक्तियों को वर्ष में 100 दिन का सुनिश्चित रोजगार उपलब्ध कराना है।

इंटेन्सीफाइड जे. आर. वाई. :

जवाहर रोजगार योजना की द्वितीय धारा के रूप में 'इंटेन्सीफाइड जवाहर रोजगार योजना' प्रदेश के चुने हुए 12 पिछड़े जनपदों में (बाँदा, इलाहाबाद, गाजीपुर, बलिया, मिर्जापुर, सोनभद्र, सीतापुर, हरदोई, बहराइच) में 1993-94 में प्रारंभ की गयी है। योजना का मुख्य उद्देश्य रोजगारपरक स्थाई सामुदायिक परिसंपत्तियों का सृजन तथा ग्रामीण अवस्थापना सुविधाओं का सुदृढ़ीकरण करना है।

विशेष केंद्रीय योजना (इनोवेटिव स्कीम) :

इस योजना को जवाहर रोजगार योजना की अम्ब्रैला योजना के नाम से भी जाना जाता है। जनपद स्तर से प्राप्त विभिन्न परियोजनाओं को संकलित रूप से भारत सरकार को प्रेषित करने पर इस हेतु भारत सरकार द्वारा वित्तीय स्वीकृति उपलब्ध करायी जाती है।

उपर्युक्त योजनाएँ लागू किए जाने का उद्देश्य यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों के निर्धन व बेरोजगार व्यक्तियों को अधिक-से-अधिक रोजगार उपलब्ध कराया जा सके व विभिन्न प्रकार की परिसंपत्तियों का सृजन हो सके।

ग्रामीण महिला एवं बालोत्थान कार्यक्रम (डी.डब्लू.सी.आर.ए.) :

ग्रामीण महिला एवं बालोत्थान योजना का मुख्य उद्देश्य गरीबी-रेखा के नीचे जीवन-यापन

करनेवाली महिलाओं की देश के उत्थान में भागीदारी सुनिश्चित करना है, जिसके अंतर्गत लक्षित परिवारों की महिलाओं को घरेलू स्तर पर आय बढ़ाने के लिए कुटीर उद्योगों का प्रशिक्षण दिलाकर उन्हें निजी व्यवसाय एवं आय के साधन जुटाना, उन्हें अपने पैरों पर खड़ा करते हुए आत्मनिर्भरता की राह में आगे बढ़ाने तथा उनके बच्चों की स्वास्थ्य रक्षा, आहार, पोषण, शिक्षा-दीक्षा के सुगम साधन उपलब्ध कराना है। परिवार का जीवनस्तर ऊँचा उठाने के साथ-साथ उनके लिए समाज में सम्मानपूर्वक स्थान बनाना योजना का मुख्य उद्देश्य है। ग्रामीण महिला एवं बालोत्थान योजना एकीकृत ग्राम्य विकास के सहरूप में चलाई जा रही है। अतः लाभार्थी चयनित लक्षित परिवारों की महिलाएँ ही इस योजना में सदस्यता ग्रहण करने की अधिकारी हैं। लक्षित परिवार की महिलाओं को 10 से 15 की संख्या में संगठित कर पंजीकृत कराया जाता है तथा वे अभिरुचि के अनुसार उद्योगों का चयन कर ट्राइसेम योजना के अंतर्गत कौशल प्रशिक्षण प्राप्त करती हैं। इस योजना के अंतर्गत हैंडलूम, हैंडीक्राफ्ट, मधुमक्खी-पालन, रेशम कीट पालन, मोमबत्ती, अगरबत्ती बनाना, मसाला उद्योग, चिकन, जरी कार्य, दुधारू पशु, डलिया, टोकरी, चटाई बनाना, दाल, पापड़, बड़ी, कचड़ी उद्योग आदि सिखाया जाता है। प्रशिक्षण अवधि में ही आर्थिक योजना बनाकर महिलाओं को व्यवहारिक बैंकों द्वारा ऋण उपलब्ध कराया जाता है, जिससे प्रशिक्षणोपरांत महिलाएँ अपना व्यवसाय स्थापित कर आय के साधन जुटा सकें। इसके अतिरिक्त विपणन एवं मार्केटिंग व्यवस्था हेतु भारत सरकार, यूनिसेफ एवं राज्य सरकार द्वारा मैचिंग शेयर प्रति समूह 15000 रूपए रिवाल्विंग फंड के रूप में दिया जाता है। संस्थागत लोनिंग पर 50 प्रतिशत अनुदान महिलाओं को सुलभ कराया जाता है।

अनुसूचित जाति/ जनजाति हेतु ग्रामीण क्षेत्रों में पेयजल योजना :

यह योजना प्रदेश में वर्ष 1971-72 से ग्रामीण अनुसूचित जाति/जनजाति के परिवारों के लिए स्वच्छ पेयजल उपलब्ध कराने के उद्देश्य से चलाई जा रही है। इस योजना के अंतर्गत ऐसे समस्याग्रस्त गाँव, जहाँ अनुसूचित जाति/ जनजाति के परिवारों की बहुलता हो और वहाँ स्वच्छ पेयजल की सुविधा उपलब्ध न हो या पर्याप्त न हो, ऐसी बस्तियों में आवश्यकतानुसार मैदानी क्षेत्र में हैंडपंप तथा पहाड़ी क्षेत्र में डिग्गियों का निर्माण कराया जाता है। हैंडपंप का निर्माण जल निगम या अन्य कार्यदायी संस्थाओं द्वारा तथा पर्वतीय क्षेत्रों में डिग्गियों का निर्माण ब्लाक एजेंसी द्वारा किया जाता है।

यह योजना पूर्णतया प्रदेश सरकार के संसाधन से वित्त पोषित है तथा न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के अंतर्गत जिला सेक्टर की योजना है।

राष्ट्रीय बायोगैस विकास परियोजना :

प्रदेश में राष्ट्रीय बायोगैस कार्यक्रम वर्ष 1981-82 से चलाया जा रहा है। उत्तर प्रदेश में वर्ष 1981-82 में इस कार्यक्रम का संचालन कृषि विभाग ने किया था। तदुपरांत 1982-83 से यह कार्यक्रम ग्राम्य विकास विभाग को हस्तांतरित कर दिया गया है। यह कार्यक्रम प्रदेश के सभी विकास खंडों एवं जनपदों के ग्रामीण क्षेत्रों में ग्राम्य विकास विभाग द्वारा संचालित किया जा रहा है। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में अपारंपरिक ऊर्जा की व्यवस्था करना, बेहतर गोबर की खाद प्राप्त करना, गृहणियों के स्वास्थ्य में सुधार तथा पर्यावरण प्रदूषण से सुरक्षा दिलाना है। यह कार्यक्रम भारत सरकार के अपारंपरिक ऊर्जा स्रोत विभाग, ऊर्जा

मंत्रालय के तत्त्वावधान में चलाया जाता है। भारत सरकार कार्यक्रम के संचालन में शत-प्रतिशत वित्तीय सहायता प्रदान करती है।

राष्ट्रीय उन्नत चूल्हा कार्यक्रम :

राष्ट्रीय उन्नत चूल्हा कार्यक्रम, चूल्हा कार्यक्रम प्रदर्शन परियोजना के रूप में दिसंबर, 1983 में प्रदेश में लागू हुई तथा अप्रैल, 1985 से यह कार्यक्रम राष्ट्रीय कार्यक्रम के रूप में प्रदेश के सभी विकास खंडों में चलाया जा रहा है। यह योजना भारत सरकार से वित्त पोषित है तथा भारत सरकार के अपारंपरिक ऊर्जा स्रोत विभाग के तत्त्वावधान में प्रदेश के बीस सूत्री कार्यक्रम के अंतर्गत चलाई जा रही है। योजना का मुख्य उद्देश्य ऊर्जा का संरक्षण करना है तथा कार्यक्रम के माध्यम से ग्रामीण अंचलों में जलावन लकड़ी की बचत करना, रसोईघर से धुएँ को दूर रखना/घटाना, वन-आच्छादित क्षेत्र को नष्ट होने से बचाना, पर्यावरण सुधार एवं सुरक्षा तथा ग्रामीण क्षेत्र में स्वरोजगार उपलब्ध कराना है। प्रदेश के समस्त जनपदों के समस्त विकास खंडों में यह कार्यक्रम ग्राम्य विकास विभाग द्वारा चलाया जा रहा है। प्रदेश के पर्वतीय विकास खंडों में राष्ट्रीय उन्नत चूल्हा कार्यक्रम केवल निर्बल वर्ग ग्रामीण आवास योजना/ इंदिरा आवास योजना के अंतर्गत निर्मित आवासों में ही चलाया जाएगा और मुख्यतः उठाऊ चूल्हों का वितरण किया जाएगा।

ग्रामों में बेरोजगार युवक/युवतियों, गरीब विधवा महिलाओं, ग्रामीण महिला एवं बालोत्थान समूह की संयोजिकाओं, कुम्हार आदि को स्वतः रोजगार कार्यकर्ता के रूप में चयन करके स्थाई उन्नत चूल्हों के निर्माण/स्थापना का प्रशिक्षण दिया जाता है। यह कार्यकर्ता विकास खंडों में स्थाई चूल्हों के निर्माण के लिए उत्तरदायी होते हैं। इन्हें निर्माण/ स्थापना का प्रशिक्षण दिया जाता है। यह कार्यकर्ता विकास खंडों में स्थाई चूल्हों के निर्माण के लिए उत्तरदायी होते हैं। इन्हें निर्माण/ रख-रखाव के लिए प्रति चूल्हे की दर से निश्चित राशि का भुगतान शासन द्वारा किया जाता है।

योजना में लाभार्थियों का चयन एवं प्रदत्त सुविधाओं का विस्तृत विवरण :

प्रत्येक विकास खंड में गाँवों का चयन करने में अनुसूचित जनजाति लाभार्थियों को 10 प्रतिशत, अनुसूचित जाति लाभार्थियों को 20 प्रतिशत, ईंधन की कमीवाले क्षेत्रों तथा वनों के कटाव वालो क्षेत्रों, समग्र विकास के अंतर्गत चयनित न्याय पंचायत के एक या दो गाँव, निर्बल वर्ग आवास, इंदिरा आवास तथा अंबेडकर गाँवों को प्राथमिकता दी जाती है। साथ ही ऐसे लाभार्थियों का चयन किया जाता है, जो परंपरागत चूल्हों पर खाना पकानेवाले ज़रूरतमंद परिवार होते हैं।

स्थाई चूल्हों में छोटे परिवार के लिए पवन, मध्यम परिवार के लिए सुखद तथा बड़े परिवार के लिए अरावतल मॉडल का चयन किया जाता है। इन उन्नत चूल्हों का लाभार्थी द्वारा चूल्हों के मूल्य का 50 प्रतिशत अंशदान वहन किया जाता है। अवशेष धनराशि अधिकतम 50 रुपए (जो भी कम हो) अनुदान के रूप में दी जाती है।

उठाऊ चूल्हे ऐसे स्थानों के लिए उपयुक्त होते हैं, जहाँ रसोई की जगह निश्चित नहीं होती। उठाऊ चूल्हों में शंभू, हर्जा, सी.पी.आर.आई. टाइप-1 (मध्यम) मध्यम परिवार के लिए तथा सी.पी.आर.आई. टाइप-1(बड़ा) बड़े परिवार के लिए उपयुक्त होते हैं। इन मॉडलों पर सामान्य परिवार के लाभार्थियों को चूल्हे के मूल्य का 33 प्रतिशत, अधिकतम 50 रुपए अनुदान

देय होता है। अनुसूचित जाति/जनजाति/ पर्वतीय क्षेत्र के लाभार्थियों को चूल्हे के मूल्य का 50 प्रतिशत, अधिकतम 75 रुपए अनुदान देय होता है।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम :

इस कार्यक्रम के अंतर्गत ज़िला सेक्टर में विकास खंडों के आवासीय/ अनावासीय भवनों तथा संगृहीत ज़िला विकास कार्यालयों के भवनों का निर्माण कराया जाता है। विकास खंडों के आवासीय/अनावासीय भवनों के अंतर्गत ग्राम्य विकास अधिकारियों के ग्राम मुख्यालय पर आवासीय भवनों के निर्माण का कार्य भी इसी कार्यक्रम के अंतर्गत चलाया जा रहा है। राज्य सेक्टर में मुख्य विकास अधिकारियों/ज़िला विकास अधिकारियों एवं उनसे संबंधित कतिपय जनपदों पर होने वाले व्यय को निदेशन एवं प्रशासन के मद के अंतर्गत वहन किया जाता है।

अंबेडकर ग्राम विकास योजना :

अंबेडकर ग्राम विकास-योजना प्रदेश के अनुसूचित जाति/ जनजाति बाहुल्य ग्रामों में सघन विकास के लिए प्रारंभ की गई है। अंबेडकर ग्राम के रूप में ऐसे गाँव का चयन किया जाता है, जहाँ की आबादी में अनुसूचित जाति/जनजाति की आबादी 50 प्रतिशत से अधिक हो। इन गाँवों को मूलभूत आवश्यकताओं यथा-निःशुल्क बोरिंग, आइ.आर.डी.पी. कार्यक्रम, ट्राइसेम योजना, संपर्क मार्ग का निर्माण, खड़जा व नाली, इंदिरा आवास/निर्बल वर्ग आवास योजना, पेयजल योजना, हैंडपंप की स्थापना, प्राइमरी स्कूल के भवनों का निर्माण, विद्युतीकरण, नवजात शिशुओं का टीकाकरण, कृत्रिम गर्भाधान, स्वच्छ शौचालय का निर्माण, नलकूप तथा एकीकृत बाल विकास योजना से आच्छादित किया जा रहा है। अंबेडकर गाँवों में चलाए जा रहे उपर्युक्त विभिन्न कार्यक्रमों/योजनाओं का कार्यावयन विभिन्न विभागों द्वारा किया जाएगा।

पुष्टाहार योजना :

पुष्टाहार योजना के अंतर्गत व्यावहारिक पुष्टाहार तथा विशेष पुष्टाहार कार्यक्रम आते हैं। इस योजना का उद्देश्य गरीबी की रेखा के नीचे रहनेवाले ग्रामीण समुदाय के स्वास्थ्य के स्तर को ऊँचा उठाने के साथ-साथ उनका जीवन सुखमय बनाना रहा है।

प्रशिक्षण कार्यक्रम :

प्रदेश में 'कृषक/प्रसार प्रशिक्षण कार्यक्रम 1952' से चलाया जा रहा है। इसका उद्देश्य ग्राम्य स्तरीय, खंडस्तरीय कार्यकर्ताओं, जनप्रतिनिधियों जैसे- प्रमुख, प्रधान, कृषकों एवं अन्य ग्रामीणों तथा नवचयनित ग्राम विकास अधिकारियों को ग्राम्य विकास कार्यक्रमों एवं प्रचलित योजनाओं की व्यावहारिक जानकारी दिया जाना है।

ग्रामीण पेयजल एवं पर्यावरणीय स्वच्छता परियोजना :

उ.प्र. ग्रामीण पेयजल एवं पर्यावरणीय स्वच्छता परियोजना, विश्व बैंक द्वारा सहायतित (अपेक्षित) परियोजना है। राज्य के सूखोन्मुख पर्वतीय एवं चट्टानी क्षेत्रों में पेयजल की गुणवत्ता से संबंधित समस्याओं से ग्रस्त जनपदों का इस परियोजना के अंतर्गत चयन किया गया है। चयनित गाँव को पाइप वाटर सप्लाई उपलब्ध कराई जाएगी। इसके अतिरिक्त पर्यावरणीय स्वच्छता के अंतर्गत सलेज ड्रेन तथा स्वच्छ शौचालयों का निर्माण किया जाएगा। परियोजना के अंतर्गत, ग्रामीण समुदायों की भागीदारी, निर्माण कार्यों की लागत तथा बनाई गई सुविधाओं के रखरखाव में सुनिश्चित की जाएगी। इस पंचवर्षीय परियोजना की कुल लागत 550 करोड़ रुपए

है, जिसमें विश्व बैंक का अंशदान 80 प्रतिशत होगा तथा शेष 20 प्रतिशत राज्य सरकार एवं ग्रामीण समुदाय द्वारा वहन किया जाएगा।

परियोजना हेतु मुख्यतः सिंग्र का उपयोग किया जाएगा तथा कुछ स्थानों पर नदियों से पंप द्वारा लिफ्ट करके जलापूर्ति की जाएगी। पर्यावरणीय स्वच्छता परियोजना हेतु सलेज ड्रेन गुरुत्व आधार पर तैयार किए जाएँगे।

शासन का ग्राम्य विकास विभाग इस परियोजना हेतु नोडल विभाग नामित किया गया है तथा राज्यस्तरीय परियोजना के क्रियान्वयन के समन्वय तथा अनुश्रवण हेतु प्रोजेक्ट कोआर्डिनेशन यूनिट की स्थापना की गई है।

गांधी ग्राम योजना :

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की 125वीं जयंती के अवसर पर प्रदेश में 'गांधी ग्राम योजना' लागू की गई है। इस योजना के अंतर्गत प्रदेश के 901 विकास खंडों में से प्रत्येक खंड में एक ऐसे ग्राम को गांधी ग्राम के नाम से चयन किया जाएगा जहाँ विकास खंड के अन्य ग्रामों की तुलना में सर्वाधिक परिवार गरीबी की रेखा के नीचे हों। ऐसे गांधी ग्राम को समग्र विकास से लाभान्वित किया जाएगा।

अंबेडकर विशेष रोजगार योजना :

इस विशेष रोजगार योजना का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में उपलब्ध स्थानीय संसाधनों एवं आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए रोजगार सृजन हेतु परियोजनाएँ क्रियान्वित किया जाना, सतत रोजगार के अवसर सृजित करना, ग्रामीण परिवारों की आय में वृद्धि करना तथा ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादित उत्पाद हेतु प्रभावशाली विपणन-व्यवस्था सुनिश्चित किया जाना है।

ग्रामीण क्षेत्रों में अनुसूचित जाति/ जनजाति की महिलाओं के लिए रोजगार सृजन :

ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी की रेखा से नीचे जीवन-यापन करनेवाले अनुसूचित जाति/ जनजाति के परिवारों की अधिकांश महिलाओं को आर्थिक दृष्टि से संपन्न एवं बढ़िया जीवन स्तर बनाने के उद्देश्य से प्रदेश सरकार द्वारा 'ग्रामीण क्षेत्रों में अनुसूचित जाति/जनजाति की महिलाओं के लिए रोजगार-सृजन कार्यक्रम को अंगीकृत कर अप्रैल, 1995 से प्रारंभ किया गया है।

इस कार्यक्रम के अंतर्गत महिलाओं के रोजगार सृजन में प्रत्यक्ष रूप से जुड़े विभाग यथा ग्राम्य-विकास, दुग्ध-विकास, महिला एवं बाल विकास, समाज-कल्याण, रेशम विभाग, खादी तथा ग्रामोद्योग एवं उद्यान विभाग द्वारा आर्थिक उत्थान के लिए चलाई जा रही विभिन्न योजनाओं में अनुसूचित जाति/जनजाति की महिलाओं को समुचित रोजगार के अवसर प्रदान कराए जाएँगे। निर्धारित लक्ष्यों के क्रम में प्रगति प्राप्त करने हेतु प्रयास किए जा रहे हैं। इसके लिए उक्त संदर्भित सभी विभागों को उत्तरदायित्व दिया गया है। विभागीय कार्यक्रमों के मध्य समन्वय रखने हेतु ग्राम्य विकास विभाग को नोडल विभाग बनाया गया है।

ग्रामीण अर्द्ध बेरोजगार/बेरोजगार लोगों के लिए रोजगार सृजन के परिप्रेक्ष्य में बजाज समिति की संस्तुतियों का क्रियान्वयन :

ग्रामीण क्षेत्रों में पढ़े-लिखे एवं कुशल/अकुशल बेरोजगार, जो रोजगार हेतु शहरों की ओर पलायन कर रहे हैं, को घर के निकट ही रोजगार उपलब्ध कराने हेतु बजाज समिति द्वारा

वर्ष 1994 में महत्वपूर्ण संस्तुतियों की गई हैं।

उद्योग सेवा व्यवसाय के क्षेत्रों में रोज़गार के अवसरों के सृजन एवं वृद्धि हेतु बल दिया गया है। तदनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में अर्द्धबेरोज़गार/ बेरोज़गारों को रोज़गार उपलब्ध कराने हेतु संबंधित विभागों द्वारा विशेष प्रयास किए जाएँगे।

निर्बल वर्ग ग्रामीण आवास योजना/इंदिरा आवास योजना :

प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में आवासों की आधारभूत आवश्यकताओं की समस्या के निराकरण हेतु उत्तर प्रदेश द्वारा 02 फरवरी, 1988 से एक वृहद् आवासीय योजना के रूप में निर्बल वर्ग ग्रामीण आवासीय योजना प्रारंभ की गई है। इस योजना का उद्देश्य प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों के निर्बल वर्ग के ऐसे परिवार, जिनके पास पर्याप्त आवास सुविधा नहीं है, अथवा वे कच्चे झुग्गी/झोपड़ी में रह रहे हैं, को एक स्वच्छ पर्यावरण का मकान उपलब्ध कराना है। योजनांतर्गत लाभार्थियों का चयन आर्थिक रजिस्टर के आधार पर ग्रामसभा की खुली बैठक में किया जाता है। चयनित पात्र लाभार्थियों की सूची का अनुमोदन मुख्य विकास अधिकारी द्वारा किया जाता है। निर्बल वर्ग ग्रामीण आवासीय योजना में 80 प्रतिशत अनुसूचित जाति/जनजाति तथा 20 प्रतिशत गैर अनुसूचित जाति/जनजाति के लाभार्थियों का चयन किया जाता है। मकान के निर्माण हेतु स्थल का चयन लाभार्थी को राजस्व विभाग द्वारा आवंटित आवास स्थल या उसकी वर्तमान झुग्गी-झोपड़ी या मकान के स्थान पर गाँव सभा की किसी उपयुक्त भूमि पर किया जाता है। मकान का निर्माण लाभार्थी द्वारा स्वयं कराया जाता है। तकनीकी सहायता विकास की निर्माण लागत 10500 रुपए तथा पर्वतीय/कठिनाई वाले क्षेत्र में 12300 रुपए अनुमानित है।

दीनदयाल उपाध्याय राज्य ग्राम्य विकास संस्थान :

कृषि उत्पादन आयुक्त संगठन में कार्यरत विभागों के लिए प्रशिक्षण एवं शोध की शीर्षस्थ संस्था के रूप में यह संस्थान पहली अप्रैल, 82 से कार्यरत है। राज्य ग्राम्य विकास संस्थान 13 प्रशिक्षण सत्रों को आयोजित कर रहा है। इन 13 सत्रों में से कुछ पहले से ही प्रारंभ किए जा चुके थे। अब सत्रों को ग्रामीण विकास मंत्रालय की नई प्रशिक्षण नीति के अनुसार आयोजित किया जा रहा है।

कंप्यूटर शिक्षा केंद्र की स्थापना :

वर्ष 1994 में संस्थान को कंप्यूटर एजुकेशन सेंटर की स्वीकृति मिली। कंप्यूटर शिक्षा केंद्र की स्थापना से संस्थान देश के उन प्रथम 6 केंद्रों में अग्रणी हो गया है जो सूचना विज्ञान की आधुनिकतम प्रणाली का उपयोग प्रदेश के विकास में कर सकेगा। निकनेट और मल्टीमीडिया सुविधा से सूचना विज्ञान द्वारा उपलब्ध समस्त सुविधाएँ प्रदेश को मिल सकेंगी तथा मल्टीमीडिया सुविधा से प्रशिक्षण कार्यक्रम की गुणवत्ता में भी मौलिक सुधार आएगा।

ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा पुनर्निर्धारित सत्रों के अतिरिक्त ऐसे कई विभागों के प्रशिक्षण कार्यक्रम प्रारंभ किए गए हैं, जिनका अपना स्वतंत्र प्रशिक्षण केंद्र नहीं है। रेशम विकास विभाग और महिला तथा बालकल्याण विभाग के अधिकारियों के आधारभूत कार्यक्रम, इंडक्शन कार्यक्रम तथा कार्यशाला का आयोजन गत वर्ष किया गया और उन्हें बड़े स्तर पर निरंतर रखा गया।



भारतीय राष्ट्रीय स्वतंत्रता-आंदोलन में
राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति :
एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

रोहिताश्वकुमार सिंह

शोधछात्र (राजनीति विज्ञान), हेन्रि बंगदवाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर, (गढ़वाल) उत्तरांचल

डा० (श्रीमती) राजबाला सिंह

वरिष्ठ प्राध्यापिका, इतिहास, श्री बलदेव, पी.जी. कालेज, बड़ागाँव, वाराणसी

प्रसिद्ध इतिहासकार अर्नोल्ड टायनबी ने 'राष्ट्रवाद' की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'राष्ट्रवाद' एक शक्ति है, जो समाज या जाति को राज्य के अंतर्गत एक निश्चित तौल में निरंकुश शक्तियों के विरुद्ध अपने अधिकारों की रक्षा के लिए तथा बाह्य आक्रमण के विरुद्ध अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए बाध्य करती है।¹ 'राष्ट्रीयता' उस स्थिति का नाम है, जिसमें लोग अपने को एक राष्ट्र का अंग मानने लगते हैं। लार्ड ब्राइस के अनुसार, 'राष्ट्र एक जातीय समूह है, जिसमें एक राजनीतिक निकाय के रूप में अपना संगठन बना लिया है तथा जो या तो स्वतंत्र है या स्वतंत्रता का इच्छुक है।

राष्ट्रवाद के विकासात्मक स्वरूप के आधार पर इतिहास में इसकी दो दिशाएँ प्रतिस्थापित की जा सकती हैं।

औपनिवेशिक राष्ट्रवाद :

पाश्चात्य राष्ट्रवाद का स्वरूप औपनिवेशिक था। यूरोप में पोप की लौकिक सत्ता की समाप्ति तथा सन् 1648 की वेस्टफालिया की संधि के उपरांत राष्ट्रवाद का विकास तथा राष्ट्रीय राज्यों का अभ्युदय हुआ था। पामर और पर्किस के शब्दों में, 'अपने बाद के युग में साम्राज्यवाद की प्रक्रिया का प्रारंभ राष्ट्रवाद के द्वारा किया गया।² विशुद्ध राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों ने ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी, रूस, जापान आदि देशों को साम्राज्यवादी मार्ग का अनुसरण करने को बाध्य कर दिया।

उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद :

एशिया-अफ्रीका के पराधीन, निर्धन, दुर्बल और पिछड़े देशों में उपनिवेशवाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप एक पृथक् प्रकार के स्वाभाविक राष्ट्रवाद का उद्भव हुआ। इस प्रकार के राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि में अस्मिता की जागृति, राष्ट्रीय स्वतंत्रता तथा स्व-मॉडल के आधार पर विकास का संकल्प निहित था। भारतीय राष्ट्रवाद उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद की श्रेणी में आता है। ब्रिटिश अधीनता में आने के पूर्व, भारत एक भौगोलिक इकाई था तथा उसके विभिन्न भाग सांस्कृतिक एकता में आबद्ध थे। परंतु उसमें राजनीतिक और प्रशासनिक एकता का

अभाव था। भारत में ब्रिटिश शासन के दो विरोधी स्वरूपों (क्रांतिकारी और प्रतिक्रियावादी) ने भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

ब्रिटिश शासन के क्रांतिकारी प्रभावों में राजनीतिक एकता की स्थापना, पाश्चात्य शिक्षा का सूत्रपात, समाचारपत्रों तथा साहित्य की प्रगति, परिवहन और संचार-साधनों का विकास, औद्योगीकरण, सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन आदि आते हैं। इसलिए डॉ० वी०आर० पुरोहित का मत है कि भारतीय राष्ट्रवाद का विकास अनेकानेक सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियों की क्रिया और परस्पर प्रतिक्रिया का परिणाम था, जो ब्रिटिश युग में विकसित हुई थी। मध्ययुगीन भारतीय समाज आधुनिक राष्ट्रीय समाज में रूपांतरित हो गया।³ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रतिक्रियावादी प्रभावों में अँग्रेजों का दमनकारी शासन, जातीय विभेद की नीति, भारतीय शिल्प-कलाओं का विकास तथा आर्थिक शोषण आदि आते हैं।

भारतीय राष्ट्रवाद का अनुसमर्थन ब्रिटिश सरकार ने नहीं किया, क्योंकि उक्त राष्ट्रवाद का ध्येय उनके राज्य का अंत करना था। अँग्रेजों ने भारत के राष्ट्रवाद के अस्तित्व को मानने से इंकार कर दिया तथा इसे हर स्तर पर कुचलने का प्रयास भी शुरू कर दिया। वास्तविकता यह है कि राजनीतिक एकता और राष्ट्रवादी भावना को उत्पन्न करने का श्रेय साम्राज्यवादी शासकों को उतना नहीं जाता, जितना कि औद्योगिक क्रांति तथा आवागमन के साधनों को। सम्राट अशोक, समुद्रगुप्त और अकबर आदि के समय देश का अधिकांश भाग एकता के सूत्र में आबद्ध हो चुका था, परंतु परिवहन-संचार के समुचित साधनों के अभाव में राजनीतिक एकता को स्थायित्व नहीं मिल सका था। यदि भारत ब्रिटिश साम्राज्य में नहीं आना होता तब भी उसकी सांस्कृतिक और भौगोलिक एकता के कारण 20वीं शताब्दी के औद्योगीकरण तथा परिवहन और संचार के आधुनिक साधनों के विकास के बाद भारत में राष्ट्रवादी भावना का विकास अवश्यंभावी था।

ब्रिटिश साम्राज्यवादी संदर्भ में ही भारतीय राष्ट्रवाद की भावना उत्पन्न व विकसित हुई थी। ब्रिटिश शासन के अस्तित्व मात्र ने लोगों के मध्य राष्ट्रवादी भावना के विकास में सहायता दी। पराधीनता की शृंखलाओं को तोड़ना, देश प्रेमी भारतीयों की प्रेरणा बन गई। भारतीयों और अँग्रेजों के हितों में परस्पर विरोधाभास था। समय के साथ-साथ धीरे-धीरे भारतवासी इस विरोध को अधिकाधिक महसूस करने लगे। इससे विदेशी शासन के प्रति कटुता बढ़ी और इस कटुता से विदेशियों को देश से बाहर निकालने के लिए राष्ट्रवादी आंदोलन का उद्भव हुआ। भारतीय राष्ट्रवाद के क्रमिक विकास के परिणामस्वरूप ही इसके विभिन्न स्वरूपों की संरचना भी हुई, इन्हीं स्वरूपों में राष्ट्रीय जागरण व राष्ट्रीय आंदोलन के विभिन्न चरणों की परिणति दृष्टिगोचर होती है।

पुनर्जागरण तथा सुधारवादी युग : भारतीय राष्ट्रवाद की सूत्र संरचनात्मक अभिव्यक्ति :

भारतीय राष्ट्रवाद के प्रारंभिक स्वरूप की संरचना में 'पुनर्जागरण' तथा 'सुधारवादी' युग की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। 'ब्रह्मसमाज' और 'प्रार्थना समाज', 'सुधारवादी' राष्ट्रवादी आंदोलनों में मुख्य है। राजा राममोहनराय के नेतृत्व में 'ब्रह्मसमाज' उत्तर भारत में लोकप्रिय हुआ। डॉ० पुरोहित के अनुसार 'ब्रह्मसमाज' (1928) उदीयमान राष्ट्रीय जागरण की प्रथम धार्मिक अभिव्यक्ति थी।⁴ राजा राममोहनराय तथा सुधारवादी सुधारक हिंदू धर्म व समाज को नवीन सिद्धांतों - लोकतंत्र, बुद्धिवाद तथा उदारवाद के आधार पर सुधारने का प्रयास किया। राष्ट्रीय

चेतना की संरचना में उनका यह कदम मील का पत्थर माना जा सकता है। श्रीमती एनीबेसेंट के शब्दों में—राजा राममोहन राय ने राष्ट्र के जनजीवन की नई चेतना को अनुप्राणित किया।⁵ इसी प्रकार डॉ० सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने उन्हें प्रारंभ से संवैधानिक आंदोलन का जनक स्वीकार किया। प्राचीन सिद्धांत तथा परंपराओं की पृष्ठभूमि में पुनर्जागरण के पुनरुत्थानवादी धारा ने एक ऐसे आंदोलन को प्रेरित किया, जिसका स्वरूप धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक था। आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन तथा थियोसाफिकल सोसायटी आंदोलन प्रमुख रूप से पुनरुत्थानवादी आंदोलन ही थे।

दयानंद सरस्वती ने 'स्वराज्य' शब्द पर बल देकर 'आर्यसमाज' को एक राष्ट्रीय चरित्र प्रदान किया। इसी आधार पर हंसकाहन ने आर्यसमाज को एक धार्मिक तथा साथ ही एक राष्ट्रीय आंदोलन बताया है।⁶ रामकृष्ण मिशन के प्रधान स्वामी विवेकानंद ने हिंदू धर्म के आध्यात्मिक पक्ष की प्रबल अभिव्यक्ति की। उन्होंने कहा— 'एक बार भारत को पुनः विश्व विजय करना होगा। देशवासियों जागो। अपनी आत्मशक्ति से विश्व को जीत लो।' वे राष्ट्रीय चेतना पुनर्जीवन के प्रतीक बन गए। श्रीमती बेसेंट का पूर्ण विश्वास था कि हिंदू धर्म ही राष्ट्रीय आंदोलन का स्रोत हो सकता है। उन्होंने 'इंडियन होम रूल' आंदोलन संगठित कर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की नींव डाली। यद्यपि वे महात्मा गांधी जी के आंदोलन के प्रति उत्साही नहीं थीं फिर भी जैसा सरोजनी नायडू का मत है— 'यदि एनी बेसेंट नहीं होती तो गांधी भी नहीं हो सकते थे।'⁸

हिंदुओं की भाँति मुसलमानों में भी 19वीं शताब्दी में सुधार आंदोलन संगठित हुए। सर सैय्यद अहमद ख़ाँ का पाश्चात्य शिक्षा प्रसार आंदोलन प्रमुख था। डा० मोहम्मद इकबाल, मोहम्मद अली और मोहम्मद अली जिन्ना आदि भी प्रारम्भ में राष्ट्रवादी थे, परंतु बाद में उन्होंने मुसलमानों को एक अलग राष्ट्र मानना प्रारंभ कर दिया। वे मुख्य भारतीय राष्ट्रवादी धारा से पृथक् हो गए।

उदारवादी युग : भारतीय राष्ट्रवाद का सकारात्मक पहलू :

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म की पृष्ठभूमि में, सुधारवादी तथा पुनरुत्थान आंदोलन द्वारा डाली गई राष्ट्रवादी नींव से उत्पन्न राष्ट्रीय जागृति को प्रमुख कारक के रूप में माना जाता है। एन.एन. गुप्त के अनुसार—भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का इतिहास भारत में राष्ट्रीय कांग्रेस का इतिहास भारत में राष्ट्रीय जागरण का इतिहास है।⁹ उदारवादियों ने सरकार तथा कांग्रेस के बीच शांतिदूतों का कार्य किया। वे राष्ट्रीय आंदोलन के महत्त्वपूर्ण स्तंभ थे। जैसा कि डॉ० आर.सी. मजूमदार का मत है, 'यह कहना ऐतिहासिक रूप से ठीक नहीं है कि भारत में स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इतिहास के अतिरिक्त कुछ नहीं है, क्योंकि पहले और बाद में दोनों समय अन्य अनेक शक्तियाँ तथा अधिकरण थे, जो समान उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयत्न कर रहे थे, तब भी स्वतंत्रता के लिए भारत के कठोर संघर्ष के किसी भी अध्ययन में कांग्रेस सदा ही केंद्रीय विषय होगी, यही वह धुरी है जिसके चारों ओर स्वतंत्रता की महान गाथा घूमती या विकसित होती है।'¹⁰

सन् 1835 से 1905 तक भारतीय राष्ट्रवाद का स्वरूप उदारवादी था। उदारवादी राष्ट्रवाद ब्रिटिश सम्राट के प्रति राजभक्ति और देशभक्ति में कोई विरोध नहीं मानता था। उनमें अंग्रेजों की न्यायप्रियता के प्रति विश्वास था, उन्होंने शासन-संबंधी अनेक सुधारों की माँग की, परंतु वे इन माँगों की पूर्ति के लिए किसी शासन विरोधी आंदोलन के पक्षधर नहीं थे। उदारवादी

राष्ट्रवाद की यह कहकर आलोचना की जाती है कि उनकी राजनीतिक मनोवृत्ति सही नहीं थी और उनके द्वारा अपनाए गए साधन प्रभावहीन थे। उदारवादी नेता जननेता नहीं थे तथा उनका सामान्य जनता से संपर्क नहीं था। वे बाद के गांधीवादियों से देशभक्ति में भिन्न नहीं थे, अपितु केवल दृष्टिकोण और पद्धतियों में भिन्न थे।¹¹ उन्होंने भारतीयों को सांप्रदायिक और क्षेत्रीय धरातल से ऊपर उठकर सामान्य राष्ट्रीयता को हृदयंगम करने का संदेश भी दिया। इस प्रकार उन्हें भारतीय राष्ट्रवाद का जनक कहा जा सकता है। डॉ० पट्टाभिसीतारमैया के शब्दों में— 'उन्होंने राष्ट्रीयता के विशाल भवन की नींव के रूप में कार्य किया।'¹²

उग्रवादी युग : भारतीय राष्ट्रवाद की प्रबल अभिव्यक्तात्मक भूमिका

उग्रवादियों के सिद्धांत और पद्धतियाँ अनेक राष्ट्रवादियों को प्रभावहीन प्रतीत हुईं। 1892 का 'भारतीय परिषद अधिनियम' भारतीयों की महत्त्वपूर्ण माँगों को पूरा करने में असफल रहा। इससे राष्ट्रवादियों में राजनीतिक असंतोष बढ़ा। 1896-97 के भीषण अकाल तथा 1867 के दिल्ली दरबार में धन के अपव्यय, बंबई के प्लेग व महामारी में सरकारी असफलता तथा 1905 के बंगाल विभाजन ने उग्रवादी राष्ट्रवाद के मार्ग को प्रशस्त किया। बालगंगाधर तिलक, पाल, राय, अरविंद घोष आदि उग्रवादी राष्ट्रवाद के कर्णधार थे। यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा उदारवादी राष्ट्रवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी।

उदारवादी अपनी राजभक्ति के पुरस्कार के रूप में औपनिवेशिक स्वायत्त शासन चाहते थे, परंतु उग्रवादी तिलक का नारा था कि 'स्वराज्य' हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और उसे हम अपने बल से प्राप्त करेंगे। उग्रवादी और उदारवादी राष्ट्रवाद का अंतर राजनीतिक विचारों और लक्ष्यों की अपेक्षा साधनों में अधिक सुस्पष्ट था। राष्ट्रवादी हिष्कार, शांतिपूर्ण प्रतिरोध, स्वदेशी, राष्ट्रीय स्कूलों और पंचायतों के कार्यक्रम के समर्थक थे। उग्रवादियों के प्रभाव से देश में बंग-भंग की नीति के विरुद्ध एक तीव्र आंदोलन चला। वंदेमातरम, स्वदेशी और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के नारों ने जनता की मोहनिद्रा को भंग कर दिया।

पं० मदन मोहन मालवीय उदारवादी, उग्रवादी दलों के बीच की कड़ी की भाँति थे। उन्होंने दोनों को आधार पर गति प्रदान की। उन्होंने दोनों विचारों को राष्ट्रीयता के आधार पर गति प्रदान की। उग्रवादी नेताओं ने अशोक, चंद्रगुप्त, के शासन, राणा प्रताप तथा झांसी की रानी की वीरता और देश-प्रेम की अलख जगाई। तिलक ने 'गणपति उत्सव' व 'शिवाजी उत्सव' का आयोजन कर राष्ट्रवादी आंदोलन को देश के अतीत और उसकी सांस्कृतिक नीवों से जोड़ दिया। उन्होंने अपने आंदोलन के उद्देश्य को स्पष्ट किया, लोगों को आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता और स्वाभिमान की शिक्षा दी तथा निम्न-मध्यम वर्ग, विद्यार्थियों, युवकों और महिलाओं को आंदोलन में सम्मिलित करने का सामाजिक आधार तैयार किया।¹³ प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान उग्रवादी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में प्रभावशाली हो गए, उदारवादी पीछे रह गए। सन् 1916 ई० में तिलक और एनी बेसेंट के नेतृत्व में दो होमरूल लीगों की स्थापना हुई। इन लोगों ने भारत के लिए उसी प्रकार के औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग की, जिस प्रकार का स्वराज्य कनाडा और आस्ट्रेलिया आदि ब्रिटिश डोमिनियमों को प्राप्त था।

जनतावादी युग या गांधीवादी युग :

भारतीय राष्ट्रवाद का निर्माणात्मक-रचनात्मक स्वरूप

सन 1920 ई० में महात्मा गांधी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सर्वोच्च और निर्विवाद नेता का स्थान ग्रहण कर लिया था। उनके नेतृत्व में जिस नवीन युग का शुभारंभ हुआ, वह भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व परिवर्तन मात्र नहीं था, अपितु एक वास्तविक क्रांति थी।¹⁴ इसने भारतीय राष्ट्रवाद का एक नवीन स्वरूप प्रदान किया। यह एक बहुवर्गीय जनतावादी राष्ट्रवाद (Multi class and mass Nationalism) बन गया। उदारवादी राष्ट्रवाद पाश्चात्यकृत बुद्धिजीवियों का आंदोलन था, उग्रवादी राष्ट्रवाद मध्यमवर्ग का आंदोलन था, परंतु गांधीजी का राष्ट्रवाद जन आंदोलन था। उन्होंने देश की मुक्ति के लिए जो नवीन तकनीक और कार्यक्रम दिया, उससे आकर्षित होकर कृषक, वकील, विद्यार्थी, महिलाएँ, भारतीय जीवन के सभी पक्षों के लोग भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में कूद पड़े।

गांधीजी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रवाद सर्वांगीण और रचनात्मक राष्ट्रवाद बन गया। इसका लक्ष्य स्वराज्य और स्वदेशी की प्राप्ति थी। उनका कहना था कि मेरा स्वराज्य तो गरीबों का स्वराज्य है। वे अस्पृश्यता बलात वैधव्य, बाल-विवाह, पर्दाप्रथा, अशिक्षा आदि सामाजिक कुरीतियों तथा आर्थिक विषमताओं को दूर करना चाहते थे। गांधी जी संभवतः पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने अहिंसा को स्वतंत्रता आंदोलन के कार्यक्रम का आधार बनाया। उनका राष्ट्रवाद धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद था, जिसकी प्रथम अभिव्यक्ति सन् 1920 के असहयोग आंदोलन में ही स्पष्ट हो चुकी थी। ए०आर० देसाई का मत है कि इस आंदोलन ने पहली बार हिंदू मुसलमानों के विशाल जनसमुदायों के एक राष्ट्रीय लक्ष्य 'भारत के स्वशासन' के लक्ष्य के लिए परस्पर सहयोग दिया।¹⁵

गांधीजी के निर्देशन में भारतीय राष्ट्रवाद सर्वांगीण और रचनात्मक राष्ट्रवाद के रूप में प्रतिस्थापित हो चुका था, जिसके अंतर्निहित लक्ष्यों में स्वराज्य और स्वदेशी की प्राप्ति था। 'स्वराज्य' में राजनीतिक स्वतंत्रता, सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक उत्थान सम्मिलित था। उनका राष्ट्रवाद धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद था, जिसकी प्रथम अभिव्यक्ति सन् 1920 के 'असहयोग आंदोलन' के रूप में हुई। जैसाकि ए०आर० देसाई महोदय ने कहा है कि इस आंदोलन में सर्वप्रथम हिंदू-मुस्लिम दोनों ने मिलकर स्वशासन के लक्ष्य के लिए परस्पर सहयोग का प्रदर्शन किया। उन्होंने कांग्रेसी और राजनीतिक मुस्लिम संगठनों के संयुक्त नेतृत्व द्वारा निर्णीत सीधी कार्यवाही के विभिन्न प्रकारों में भाग लिया।¹⁶ गांधीजी ने राष्ट्रवाद को एक नवीन विचारधारा का रूप प्रदान किया।

रामनामूर्ति के शब्दों में, 'गांधीजी एक नैतिक व्यक्ति थे, उन्होंने राष्ट्रीय संघर्ष को एक नैतिक युद्ध की महानता प्रदान की।'¹⁷

विश्व के इतिहास में इटली, अमेरिका, आयरलैंड के ठीक विपरीत गांधीजी ने 'साधनों' की 'पवित्रता के सिद्धांत' का प्रतिपादन किया तथा 'सत्य' और 'अहिंसा' पर आधारित सत्याग्रह के नवीन ब्रह्मास्त्र का आविष्कार किया और उसके द्वारा भारतीय राष्ट्रवाद को गहन धार्मिक उत्साह की ऊँचाई तक उठा दिया। उनका राष्ट्रवाद समन्वयवादी प्रकृति का था जिसमें उदारवादी तथा उग्रवादी राष्ट्रभाव का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। पुनरुत्थान, सुधारवाद शांतिपूर्ण साधनों, बहिष्कार, स्वदेशी कार्यक्रम, राजनीति धर्म के संबंधों की अभिव्यक्ति भी उनके राष्ट्रवाद में विद्यमान थी। उनका रचनात्मक कार्यक्रम राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की बहुआयामी योजना थी तथा वह एक अहिंसक, लोकतांत्रिक और समाजवादी स्वराज्य की परिकल्पना करता था।

गांधीवादी समाजवाद का मनोवैज्ञानिक आधार निर्भरता तथा स्वावलंबन था। गांधीजी ने न केवल भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को एक जनांदोलन बना दिया, अपितु उसे एक नया कार्यक्रम प्रदान करके एक क्रांतिकारी आंदोलन बना दिया।

गांधीजी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रवाद के आदर्श स्पष्ट रूप से निर्धारित हुए। इसके मुख्य सिद्धांत थे— अहिंसा, राष्ट्रीय एकता, जनउत्थान, सांप्रदायिक सद्भाव, धार्मिक सहिष्णुता तथा जाति, धर्म, संप्रदाय के भेदभाव के बिना सभी लोगों के लिए नागरिक स्वतंत्रता और राजनीतिक अधिकारों की व्यवस्था। गांधीवादी राष्ट्रवाद धनिकतंत्र विरोधी था। यह लाखों भूखों, देश के दरिद्रनारायण की आवश्यकता और आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करता था।¹⁸

आतंकवादी-क्रांतिकारी युग : भारतीय राष्ट्रवाद का प्रतिक्रियावादी स्वरूप

जे०सी० जौहरी के अनुसार, 'आतंकवादी प्रवृत्ति को उग्रवादी प्रवृत्ति का विस्तार कहा जाना चाहिए, जो विदेशी प्रशासन के और अधिक दमनकारी और प्रतिक्रियावादी नीति के कारण उत्पन्न हुई।'¹⁹ लाला लाजपत राय आतंकवादियों की गतिविधियों के केंद्र बने रहे। कृष्णवर्मा, सावरकर, रासबिहारी बोस, चंद्रशेखर आजाद, भाई परमानंद, भगतसिंह, एम.एन. राय और अरविन्द घोष आदि आतंकवादी राष्ट्रवाद के प्रमुख नेता थे। परंतु क्रांतिकारी आंदोलन का कोई प्रभावशाली परिणाम नहीं निकला। अंग्रेजी सरकार अतंतोगत्वा इसका दमन करने में सफल हो गई। गदरपार्टी के संस्थापक लाला हरदयाल, लाला लाजपत राय तथा सुभाषचंद्र बोस इसी विचारधारा को मानने वाले थे। डॉ०आर.सी. मजूमदार के अनुसार— गांधीजी के बाद भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सबसे प्रमुख व्यक्ति निःसंदेह सुभाषचंद्र बोस ही थे।²⁰ उन्होंने गांधीवादी राष्ट्रवाद के तकनीक को अस्वीकार करके, क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का मार्ग अपनाया। लाहौर कांग्रेस (1929) में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था कि गांधीजी का कार्यक्रम हमें स्वतंत्रता की ओर नहीं ले जा सकता। नेताजी के 'आजाद हिंद फौज' का उद्देश्य गृह देश में चल रहे संघर्ष को बाहर से पूरा करना था।²¹ क्योंकि उनके विचार से 'भारत स्वतंत्रता के लिए परिपक्व था' परंतु उसके पास एक वस्तु 'मुक्तवाहिनी' की कमी थी।

भारतीय राष्ट्रवाद एक अद्वितीय राष्ट्रवाद था। मैकडोनाल्ड के अनुसार²², 'भारतीय राष्ट्रवाद राजनीतिक संघों के आंदोलन के रूप में कुछ अधिक रहा है। यह एक ऐतिहासिक परंपरा का पुनरुत्थान था, लोगों की 'आत्मा की मुक्ति है।' गांधीजी का जनतावादी अहिंसक राष्ट्रवाद भारतीय राष्ट्रवाद का सर्वप्रधान रूप था। विश्वइतिहास में स्वतंत्रता आंदोलनों के अंसख्य उदाहरण मिलते हैं। परंतु जैसाकि फ्रांसिस गुथर का कहना है कि 'भारतीय क्रांति इतिहास की प्रथम पूरी तरह से छल-कपट विहीन क्रांति है, जिसके बिना पथभ्रष्ट हुए अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पूरी तरह सम्मानित साधनों का प्रयोग किया है, यह एक ऐसी क्रांति है, जिसमें साधनों को उतना ही महत्त्वपूर्ण माना गया है जितना उद्देश्यों को। यह एक ऐसी क्रांति है जो घृणा रहित है। जासूसी व्यवस्था विहीन है, विश्वासघात रहित है, हत्या रहित है। यह एक ऐसी क्रांति है, जिसमें क्रांति की स्वभावगत बुराइयों को निकाल दिया गया है।'²³

इस प्रकार राष्ट्रवादी क्रांति की सफलता ने एक ओर तो एक विशाल, बहुभाषी और भू-राजनीतिक रूप से बिखरे हुए देश में एक शक्तिशाली, लोकप्रिय सरकार की स्थापना को संभव बनाया तथा दूसरी ओर एशिया और अफ्रीका के उन देशों के लिए प्रेरणा का एक महान

स्रोत बन गई जो तानाशाही विदेशी शासन से मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहे थे। गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस आंदोलन ने भारतीय जनता में एक नवीन राष्ट्रवादी चेतना भर दी, जिससे वह आतंक और दमन का भय छोड़कर स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए अपने प्राणों तक का बलिदान करने के लिए तत्पर हो गई। सन् 1920 के असहयोग आंदोलन सन् 1930 के सविनय अवज्ञा आंदोलन, सन् 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन आदि। सन् 1947 तक यह चेतना और संकल्प इतना दृढ़ हो गया कि अँग्रेजों के लिए भारत में अपने शासन को अधिक समय तक बनाए रखना असंभव हो गया। पट्टाभिसीतारमैय्या ने ठीक ही कहा है कि 'अँग्रेजों का भारत छोड़ने का निश्चय समय की गति और परिस्थितियों की विवशता थी।'

संदर्भ

1. आर्नोल्ड टायनबी : नेशनलिटी इन हिस्ट्री एंड पॉलिटिक्स, पृ० 12
2. पामर-परकिंस : इंटरनेशनल रिलेशन्स, पृ० 12
3. पुरोहित, वी०आर० : हिंदू रिवावलिज्म एंड नेशनलिज्म, पृ० 159
4. वही, पृ० 16
5. एनी बेसेंट : हाउ इंडिया फॉट फॉर फ्रीडम, पृ० 51
6. हंस कोहन, हिस्ट्री ऑफ नेशनलिज्म इन इस्ट, पृ० 62
7. वही, पृ० 71
8. पुरोहित, वी०आर० : पूर्वोक्त में उद्धृत, पृ० 107
9. गुप्त, नागेंद्र नाथ : इंडियन नेशनलिज्म, पृ० 83
10. मजूमदार, आर०सी० : हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया, खंड-1, पृ० 287
11. कौशिक, पी०डी० : द कांग्रेस आइडियोलॉजी एंड प्रोग्राम 1920-85, पृ० 25-36
12. डॉ० पट्टाभिसीतारमैय्या : कांग्रेस का इतिहास, पृ० 97
13. महाजन, विद्याधर : माडर्न इंडियन पालिटिकल थॉट, पृ० 22
14. सिंह, एस०बी० : इंपैक्ट ऑफ द इंडियन नेशनल मूवमेंट ऑन द पोलिटिकल डेवलपमेंट इन नेपाल, पृ० 20
15. देसाई ए०आर० : सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, ए०आर० 407
16. वही, पृ० 408
17. रामनामूर्ति, वी०वी० : नॉन बायोलेंस इन पॉलिटिक्स, पृ० 44
18. पुरोहित, वी०आर० : पूर्वोक्त, पृ० 167
19. जौहरी, जे०सी० : इंडियन गवर्नमेंट एंड पॉलिटिक्स, पृ० 105
20. मजूमदार, आर०सी० : पूर्वोक्त
21. अय्यर, एस०के० (संपा०) : सलेक्टेड स्पीचेज ऑफ सुभाषचंद्र बोस, पृ० 204
22. विष्णु भगवान : कन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडियन एंड नेशनल मूवमेंट, पृ० 139
23. फ्रांसिस गुंथर : आर० सी० जौहरी के पूर्वोक्त में उद्धृत, पृ० 47



डा० अंबेडकर : एक समाज-सुधारक

प्रो० सुरक्षा पाल

निर्देशिका, विभागाध्यक्ष एवं डीन, शिक्षा विभाग, चौ० चरणसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ

देवेंद्रकुमार

शोधार्थी, प्रवक्ता, जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान, पटनी (सहारनपुर)

डा० अंबेडकर अपने समय के महान समाज-सुधारक थे। उन्होंने हिंदू-समाज की अनेक कुरीतियों को दूर करने के भरसक प्रयास किए। उन्हें हिंदू-समाज की दो कुरीतियाँ सबसे ज़्यादा खटकती थीं—

1. जातिप्रथा
2. अस्पृश्यता

वे इन दोनों कुरीतियों को हिंदूधर्म और समाज का महान दोष मानते थे। डा० अंबेडकर ने समाज में स्त्रियों की रचनात्मक भूमिका को स्वीकार किया था और वे स्त्रियों को भी पुरुषों के समान अधिकार देने के पक्ष में थे। डा० अंबेडकर ने अछूतों के बीच शिक्षा के प्रसार का व्यापक प्रयत्न किया। दलित विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए अलग से विद्यालय तथा छात्रावास कायम किए। डा० अंबेडकर ने दलितों की स्थिति सुधारने तथा समाज में जागरूकता स्थापित करने के लिए तीन राजनीतिक दल बनाए, जो इस प्रकार हैं :

1. इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी-1936
2. आल इंडिया शैड्यूल कास्ट फैडरेशन-1942
3. रिपब्लिकन पार्टी आफ इंडिया-1956

इन दलों का लक्ष्य सिर्फ यही था कि निर्बल दलित समाज में जागरूकता लाना तथा उनको उनके अंदर अंतर्निहित शक्ति से परिचित कराना ताकि इस समाज को गति एवं दिशा प्रदान की जा सके। डा० अंबेडकर के जीवन का सर्वप्रथम लक्ष्य सामाजिक क्रांति लाना था। वे वर्ण और जाति-प्रणाली को तोड़कर ऐसी व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास का पूरा अवसर मिले। इसके लिए उन्होंने जो रास्ता अपनाया, वह था लोकतांत्रिक समाजवाद का रास्ता। उन्होंने कहा कि उदासीनता किसी समाज को लगनेवाली सबसे बुरी बीमारी है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति चेतनायुक्त होना चाहिए।

समाज के प्रति समर्पण (विशेष रूप से दलित समाज के प्रति) की भावना को देखते हुए बी०जी० खैर ने कहा है कि, 'मैं अंबेडकर के इस कथन का सम्मान करता हूँ कि उनके निजी हित और देश के हित में टकराव होगा तो वे देश को प्राथमिकता देंगे। माननीय सदस्य के जीवन और कार्यों से मैं निकट से परिचित हूँ और मैं कहूँगा कि उनकी यह बात पूरी तरह सच

है। उन्होंने देश की भलाई की तुलना में अपने व्यक्तिगत उत्कर्ष को गौण माना। वे आगे कहते हैं कि दलितों के हितों में और देश के हितों में टकराव होगा तो वे दलितों को तरजीह देंगे।’

16 जून 1936 को बंबई के दामोदर हाल में जो सभा आयोजित की गई थी, उसमें काफी संख्या में वैश्याओं और जोगिनों ने भाग लिया था। उन्हें संबोधित करते हुए डा० अंबेडकर ने उनसे स्वेच्छा से स्त्रीमुक्ति आंदोलन में सहयोग की अपील की। अपनी विचार-प्रणाली उनके सामने रखी। उन्होंने कहा कि, ‘नारी समाज का गहना है सभी को उसे सम्मान देना चाहिए।’ उनके ऐसे विचारों का समाज पर काफी असर हुआ। उन्होंने आगे कहा कि अपनी गृहिणी अच्छे परिवार से आए, ऐसी आशा सभी रखते हैं, किंतु जब तक उनके परिवारों का निर्माण नहीं होगा, अच्छी गृहिणी का निर्माण कैसे संभव है, जिसकी आशा सभी सँजोए बैठे हैं। इसलिए पहले अपने परिवार को सुधारने की ओर ध्यान देना चाहिए। अपना तथा अपने बच्चों का गौरव नारी के ऊपर निर्भर है तो नारी को ही गौरवपूर्ण स्थान देने के प्रयास करने चाहिए। उन्होंने नारियों के स्व-सम्मान जगाने के प्रयासों पर भी बल दिया। उन्होंने कहा कि, ‘अपने सामने कोई महान कोई लक्ष्य अपराध नहीं है लेकिन लक्ष्य नहीं रखना या कमजोर लक्ष्य रखना बहुत बड़ा अपराध है।’

समान कार्य समान वेतन : फरवरी 1944 में डा० अंबेडकर की पहल के परिणामस्वरूप कोयला खान में काम करनेवाली महिला श्रमिकों को पुरुष श्रमिकों के समान वेतन पाने का अधिकार मिला। श्रमिकों की कमी को देखते हुए महिला श्रमिकों के खान में काम करने पर प्रतिबंध भी हटा। इसी के साथ-साथ 11 अप्रैल 1945 को खान प्रसूति लाभ विधेयक के द्वारा 36 सप्ताह का प्रसूति लाभ कर दिया गया, जिसमें 26 सप्ताह अनिवार्य तथा 10 सप्ताह आंशिक इस अवधि में छः रुपए प्रतिमाह के हिसाब से प्रसूति लाभ देना तय किया गया।

डा० अंबेडकर और आदर्श समाज की व्यवस्था : डा० अंबेडकर जातिवाद एवं वर्ण-व्यवस्था पर आधारित किसी भी समाज को न्यायोचित नहीं मानते थे। वह एक नवीन समाज की स्थापना करना चाहते थे। डा० अंबेडकर के अनुसार, ‘आदर्श समाज वह होगा, जो स्वतंत्रता, समता एवं भ्रातृत्व पर आधारित है।’ ये सदा गुँजने एवं अमर रहनेवाले शब्द डा० अंबेडकर को बहुत प्रिय थे। उन्होंने इन शब्दों— स्वतंत्रता, समता एवं भ्रातृत्व का अनुकरण फ्रांस की क्रांति से नहीं किया, वरन् बुद्ध की शिक्षाओं से ग्रहण किया। उनके समाज-दर्शन में इनका मुख्य स्थान है। ये शब्द बौद्धिक प्रेरणा एवं मानव-सेवा के स्रोत हैं। उन्होंने कहा कि, ‘विधेयात्मक दृष्टि से, मेरा समाज-दर्शन तीन शब्दों में निहित है— स्वतंत्रता, समता एवं भ्रातृत्व। लेकिन किसी को ऐसा नहीं कहना चाहिए कि मैंने अपने दर्शन को फ्रांस की क्रांति से लिया है। मेरे दर्शन की जड़ें धर्म में हैं, न कि राजनीति-विज्ञान में। मैंने अपने महान् गुरु बुद्ध की शिक्षाओं से इनका अनुकरण किया है।’

किसी भी स्वतंत्र एवं प्रजातंत्रीय समाज-व्यवस्था के लिए स्वतंत्रता का होना आवश्यक है। डा० अंबेडकर मानते थे कि भारतीय समाज में तो स्वतंत्रता की और भी अधिक आवश्यकता है। हिंदू-समाज में व्यक्तियों का स्वतंत्र आवागमन होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपना कार्य स्वतंत्रतापूर्वक करने का अधिकार होना चाहिए। डा० अंबेडकर अपनी आदर्श समाज-व्यवस्था में निजी संपत्ति के अधिकार (Right to Private Property) को मान्यता देते थे। इसलिए वह व्यक्ति को अपनी पसंद का कार्य करने पर अधिक बल देते थे। अपनी जीविका कमाना प्रत्येक

व्यक्ति का अधिकार है। इससे सामाजिक क्षमता भी बढ़ती है और व्यक्ति भी सुखी रहता है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार कुछ मामलों में स्वतंत्र रूप से कार्य कर सकता है, तो स्वंत्रता का महत्वपूर्ण स्थान रहेगा।

डा० अंबेडकर यह युक्ति देते थे कि व्यक्ति की कार्य-स्वतंत्रता को छीनना अर्थात् पसंद का कोई भी व्यवसाय करने की स्वतंत्रता न देना, उसको दासता के चंगुल में फाँसना है। दासता का अर्थ केवल क़ानून के द्वारा दबाव से ही नहीं है, बल्कि इसका तात्पर्य उस सामाजिक अवस्था से भी है, जिसमें मनुष्यों का व्यवहार दूसरे लोगों के द्वारा निर्धारित किया जाता है तथा कुछ लोगों के अभिप्राय दूसरे व्यक्तियों द्वारा निश्चित किए जाते हैं। दासता का स्वरूप वहाँ पर भी होता है, जहाँ कुछ लोगों को निश्चित व्यवसाय करने को बाध्य नहीं किया जाता, वरन् उन्हें न करने पर दंडित भी किया जाता है। उनको उनकी पसंद के कार्य नहीं दिए जाते हैं। इस प्रकार डा० अंबेडकर व्यक्ति के इच्छा-स्वातंत्र्य पर अधिक बल देते थे, क्योंकि स्व-निर्धारितता (Self determination) मानवीय जीवन का एक अति आवश्यक अंग है। इच्छा स्वातंत्र्य के बिना आदर्श समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती है।

अपने आदर्श समाज में डा० अंबेडकर राजनीतिक दलों को पूर्ण मान्यता प्रदान करते हैं। यदि राजनीतिक दलों को यथोचित स्वतंत्रता दी जाए, तो वे शायद ही हानिकारक सिद्ध होंगे। वह विचार एवं अभिव्यक्ति पर अधिक बल देते थे। वे संसदात्मक या प्रतिनिध्यात्मक सरकार के पूर्ण पक्ष में थे। उनका यह मत था कि संसदात्मक सरकार कुछ वर्षों में सामाजिक एवं आर्थिक अन्याय का अंत कर सकती है। वह क़ानून पर आधारित एक सुदृढ़ व्यवस्था की भी स्थापना कर सकती है। अतः राजनीतिक दल, व्यक्ति और समाज तीनों के लिए संसदात्मक सरकार अनुकूल एवं न्यायोचित है।

एक आदर्श समाज-व्यवस्था के लिए डा० अंबेडकर धार्मिक स्वतंत्रता को भी महत्वपूर्ण स्थान देते थे। प्रत्येक व्यक्ति को धर्म-धारण एवं धर्म-प्रचार की स्वतंत्रता दी जानी आवश्यक है। उन्हें धार्मिक संस्थाएँ बनाने का भी अधिकार होना चाहिए। किसी व्यक्ति के साथ धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। वैयक्तिक जीवन एवं सामाजिक एकता के लिए डा० अंबेडकर धर्म को अति आवश्यक समझते थे, किंतु राजनीतिक दृष्टि से वह राज्य को धर्म-निरपेक्ष ही मानते थे। धर्म-निरपेक्ष राज्य को किसी धर्म-विशेष पर बल नहीं देना चाहिए। राज्य की दृष्टि में सभी धर्मावलंबी समान होने चाहिए।

सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में समता के सिद्धांत को केवल वैचारिक ही नहीं, अपितु व्यावहारिक भी होना चाहिए। इस सिद्धांत के अनुसार, जहाँ एक समान गुणों का संबंध है, सभी व्यक्तियों को समान सुविधाएँ एवं अवसर दिए जाने चाहिए। सैद्धांतिक तौर पर 'उन्हें समान समझना चाहिए।' डॉ० अंबेडकर समता के सिद्धांत को वैचारिक एवं व्यावहारिक दोनों आधार देते थे। वह यह जानते थे कि सब मनुष्य समान नहीं होते हैं, तो भी वे वैचारिक समता का प्रतिपादन करते हैं। समता का सिद्धांत बिल्कुल काल्पनिक हो सकता है, तो भी व्यावहारिक रूप से समता के भाव को प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का महत्वपूर्ण अंग होना चाहिए।

डॉ० अंबेडकर के अनुसार, मनुष्य की भौतिक एवं मानसिक शक्ति तीन बातों पर निर्भर होती है—(1) शारीरिक वंश परंपरा, (2) सामाजिक गठन जैसे माता-पिता का प्यार,

शिक्षा, वैज्ञानिक ज्ञान एवं (3) वे सभी वस्तुएँ जो एक व्यक्ति को असभ्य अवस्था से सभ्यता की ओर ले जाती हैं। इन सब बातों में मनुष्य निःसंदेह असमान होते हैं। इसलिए समता के सिद्धांत को केवल क़ानूनी रूप से ही नहीं समझना चाहिए, जैसा कि व्यक्तिवाद एवं उदारवाद मानता है और न इसे एकदम समाजीकरण समझना चाहिए, जैसा कि समाजवाद और साम्यवाद समझता है। समता का एक मानवीय आधार होना आवश्यक है, ताकि सबके लिए न्याय एवं सुरक्षा प्रदान की जा सके।

इसमें कोई संदेह नहीं कि वैयक्तिक एवं सामाजिक रूप से सभी व्यक्ति एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, लेकिन डॉ॰ अंबेडकर यहाँ प्रश्न करते हैं कि क्या सभी मनुष्यों के साथ असमता का व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि वे असमान हैं? आधुनिक समय में समता के अधिकार की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। जहाँ तक व्यक्तिगत प्रयत्नों का संबंध है, उनको भिन्न अथवा असमान माना जा सकता है किंतु लोगों को अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा एवं शक्ति को प्रदर्शित करने का अवसर तो दिया जाना चाहिए, ताकि वे अपने को प्रगतिशील बना लें और समाज में कुछ योगदान कर सकें। समता का सिद्धांत नियामक अर्थात् मानवीय आदर्श है। अतः इसे मानवीय समाज का एक प्रमुख आधार बनाना चाहिए। डॉ॰ अंबेडकर मनुष्य को केवल एक यांत्रिक प्राणी ही नहीं मानते थे, वरन् मानव की उस व्यक्तिगत विलक्षणता एवं शक्ति में पूर्ण विश्वास करते थे, जिसके आधार पर व्यक्ति केवल स्वयं का कल्याण ही नहीं करता, वरन् समाज में रहनेवाले अन्य लोगों के बारे में भी निरंतर सोचता है।

यदि व्यक्तियों को असमान ही समझकर व्यवहार किया जाए, तो उनकी क्या दशा होगी? डॉ॰ अंबेडकर कहते थे कि यदि ऐसा ही ठीक समझा जाए, तो जिन व्यक्तियों के पक्ष में जन्म, शिक्षा, धन, परिवार एवं व्यावसायिक संबंध हैं, वे ही लोग मानव-दौड़ में प्रथम आएँगे। उन्हीं को सुअवसर प्राप्त होंगे। लेकिन इन आधारों पर व्यक्तियों का निर्वाचन करना योग्यता के अनुसार नहीं होगा। यह एक कृत्रिम निर्वाचन होगा, जो विशेष प्रतिष्ठा के आधार पर संपन्न किया जाएगा। निर्वाचन हमेशा योग्यता के आधार पर ही होना चाहिए, अन्यथा प्रजातंत्र एवं मानववाद के प्रति घोर अन्याय होगा। अतः यदि वैयक्तिक प्रयत्नों में हम व्यक्तियों को असमान समझें, तो कम-से-कम सामाजिक सुविधाओं के क्षेत्र में उन्हें समान समझना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को आगे बढ़ने का अवसर दिया जाना चाहिए। जहाँ तक संभव हो, मनुष्य को एक-दूसरे के साथ समता का व्यवहार करना चाहिए।

डॉ॰ अंबेडकर समता के सिद्धांत में प्राथमिकताओं की समता (Equality of consideration) को भी यथोचित स्थान देते थे। इसका अर्थ है कि 'किसी भी व्यक्ति को बिना विशेष परिस्थितियों के कोई भी सुविधा एवं प्राथमिकता नहीं देनी चाहिए। वे लोग, जो बिना सुविधाओं के आगे नहीं बढ़ सकते हैं, उन्हें आवश्यक रूप से सुविधाएँ दी जानी चाहिए। ऐसा कार्य न्याय तथा निष्पक्षता से किया जाना चाहिए। डॉ॰ अंबेडकर अवसरों की एकता पर बल नहीं देते। उनका केवल इतना ही कहना था कि यदि कोई समाज अपने सदस्यों में उत्तमता का विकास करना चाहता है तथा प्रगतिशील और उत्तदायी बनाना चाहता है, तो ऐसा करना केवल समता को आधार मानकर ही संभव हो सकता है। अतः डॉ॰ अंबेडकर अपने आदर्श समाज में समान अवसर तथा प्राथमिकता-युक्त समता पर बल देते थे, ताकि कोई मनुष्य,

जिसके पास साधन नहीं है, मावन दौड़ में पीछे न रह जाए। साधनहीन व्यक्तियों की सहायता करना समता का ध्येय है।

राजनीतिक दृष्टि से प्रत्येक नेता को समता के सिद्धांत को मानना आवश्यक है। एक राजनीतिक नेता का अनेक व्यक्तियों से संबंध रहता है। प्रत्येक व्यक्ति को सांत्वना देना उसका महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। व्यावहारिक रूप में, उसके पास न तो इतना समय है और न ही इतना ज्ञान है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को उनकी योग्यता अनुसार नापे या उसकी आवश्यकतानुसार उसे समझे। औसतन मानवता का मानदंड मिलना दुष्कर है। चाहे विद्वान समता पर कितना ही बल क्यों न दें, मानवता का विभाजन संभव नहीं हो सकता, इसलिए प्रत्येक राजनीतिज्ञ को एक साधारण मानदंड बना लेना पड़ता है, जिसके सहारे वह विभिन्न व्यक्तियों के साथ व्यवहार करता है। वह साधारण मानदंड इतना ही है कि उसे सब लोगों को समझना चाहिए, इसलिए नहीं कि वे समान हैं, बल्कि उनका न्यायोचित विभाजन करना असंभव है।

समता की यह माँग न्याय-संगत है। इसको मान्यता देने से सामान्य कल्याण की भावना को बल मिलेगा। यह कार्य संभवतः समाज का है। सामाजिक नियम ऐसे हों, जिनसे सबका हित संभव हो सके। सभी सामाजिक सहयोग का लाभ उठा सकें। इस प्रकार डॉ० अंबेडकर का समता का सिद्धांत समान सुविधाओं, समान अवसर तथा समान प्राथमिकता पर बल देता है। यह सिद्धांत प्रत्येक व्यक्ति को क़ानून की दृष्टि से समान मानता है। यही बात डॉ० अंबेडकर ने संविधान बनाते समय ध्यान में रखी। आज प्रत्येक भारतीय नागरिक क़ानून की दृष्टि में समान है। सैद्धांतिक दृष्टि से स्वतंत्रता और समता को राष्ट्रीय जीवन में प्रमुख स्थान मिल चुका है।

परंपरावादी दृष्टिकोण के अनुसार भ्रातृत्व का अर्थ 'दान' या 'दया' है। ईसाई धर्म का सिद्धांत कि 'अपने पड़ोसियों को प्रेम करो', 'प्राणी-मात्र पर दया करो' आदि तभी संभव हो सकता है, जब मनुष्य पिता-ईश्वर में विश्वास रखे। ईश्वर में आस्था के बिना दया या दान का सिद्धांत व्यवहार में संभव नहीं हो सकता है।

डॉ० अंबेडकर इस परंपरावादी अर्थ को नहीं मानते थे। उनके अनुसार, भ्रातृत्व का सिद्धांत मुख्यतः सामाजिक है, न कि ईश्वरवादी। वे कहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को व प्रत्येक समाज को प्रगतिशील होना चाहिए। उसमें ऐसे साधन हों, जिनके कारण एक स्थान में होनेवाला परिवर्तन सरलता से दूर स्थानों में फैल जाए। एक आदर्श समाज में सब व्यक्तियों के विचार मूलतः भ्रातृत्व-युक्त हों। उनमें यह चेतना हो कि वे सब एक हैं, आपस में सब भाई हैं। उनमें ऐच्छिक रूप से मिलने व उठने-बैठने की स्वतंत्रता हो। अतः सब सदस्यों में सामाजिक समस्याओं को साथ-साथ मिलकर सुलझाने की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

भ्रातृत्व के आधार पर डॉ० अंबेडकर प्रजातंत्र का महल खड़ा करना चाहते थे। भ्रातृत्व एवं प्रजातंत्र में घनिष्ठ संबंध है। प्रजातंत्र सरकार के संगठन का एक रूप ही नहीं है। यह मुख्यतः साथ-साथ मिलकर रहने का ढंग है। प्रजातंत्र एक-दूसरे के प्रति आदर और प्रेम की भावना है। यह ऐसे संगठन का विचार है, जिसमें सबके लिए लाभ हो। इसलिए डॉ० अंबेडकर का आदर्श समाज, जो प्रजातंत्र पर आधारित है, वर्ग-घृणा, उग्रवाद तथा बदले की भावना आदि को कोई महत्त्व नहीं देता है। उनके समाज पर तृतीय सिद्धांत मानव-सेवा एवं भ्रातृत्व-प्रेम पर आधारित है।

इस प्रकार डा० अंबेडकर द्वारा प्रतिपादित समाज का आधार प्रजातंत्र होना स्वाभाविक है, क्योंकि वह जातिवाद और वर्ण-व्यवस्था को बिल्कुल नहीं चाहते थे। अच्छी समाज-व्यवस्था के लिए वह वैधानिक आधार भी चाहते थे, क्योंकि जहाँ समाज-विरोधी तत्त्व हों, उनको क़ानून के सहारे समाप्त करना न्यायोचित है। प्रजातंत्रीय समाज का आधार काल्पनिक न होकर वास्तविक होना चाहिए। यह ठीक है कि प्रजातंत्र में अनेक मौलिक भिन्नताएँ होती हैं, लेकिन वोट देना, चुनाव करना और वैधानिक रूप मानना ही पर्याप्त नहीं है। वास्तविक रूप से प्रजातंत्र सबकी संपत्ति होना चाहिए, न कि कुछ व्यक्तियों की। सबकी संपत्ति मानकर प्रजातंत्र की जड़ें दृढ़ हो सकती हैं, अन्यथा प्रजातंत्र न्याय का साधन बन सकता है। अतः प्रजातंत्र एक ऐसी जीवन-विधि है, जो शोषणकारी और अधिनायकवादी तत्त्वों का विरोध करती है और जिसमें वर्ण-व्यवस्था या जातिवाद के लिए कोई स्थान नहीं है।

अतः उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि डॉ० अंबेडकर के समाज की जड़ें सामान्य हित, सर्व-कल्याण, स्वतंत्रता एवं समता में निहित हैं। आदर्श समाज का यह विचार रचनात्मक एवं गतिशील है। मानवीय परिस्थितियों के अनुसार इसमें परिवर्तन भी हो सकते हैं, ताकि समाज में उत्पादित वस्तुओं का लाभ सभी लोग उठा सकें। सांस्कृतिक एवं भौतिक मूल्यों का सभी आनंद ले सकें। सभी मनुष्य अपनी समस्याओं को समझें, मिलकर निराकरण करें और सामाजिक एकता को बनाए रखें।

संदर्भ

1. डा० कृष्णदत्त पालीवाल, 'डा० अंबेडकर समाज-व्यवस्था और दलित साहित्य' पृ० 31, वर्ष 2005, किताबघर, 24/4855 अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली-110002
2. डा० कुसुम मेघवाल, भारतीय नारी के उद्धारक डा० बी०आर० अंबेडकर, पृ० 117, वर्ष 2005, सम्यक प्रकाशन, 32/3, क्लब रोड, पश्चिमपुरी चौक, नई दिल्ली-63
3. डा० बी०आर० अंबेडकर, बुद्ध एंड द फ्यूचर ऑफ हिज रिलिजन (लेख), पैरा-2
4. धनंजय कीर, डा० अंबेडकर-लाइफ एंड मिशन, पोप्यूलर प्रकाशन, बंबई, पृ० 456
5. डा० बी०आर० अंबेडकर, एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, थैकर एंड कंपनी, बंबई, पृ० 38
6. दू स्टेट्समैन, दिनांक 23 दिसंबर, 1951
7. डा० बी०आर० अंबेडकर, स्टेट्स एंड माइनॉरिटीज, थैकर एंड कंपनी, बंबई, वर्ष 1943, पृ० 11-12
8. एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, पृ० 39
9. डा० बी०आर० अंबेडकर, एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, पृ० 39-40
10. डा० डी०आर०जाटव, डॉ० अंबेडकर का समाज-दर्शन, समता साहित्य सदन, जयपुर, पृ० 70
11. डा० बी०आर० अंबेडकर, व्हॉट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू द अनटचेबिल्स, थैकर एंड कंपनी लि०, बंबई, वर्ष-1946, पृ० 137
12. डा० बी०आर० अंबेडकर, एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, पृ० 40
13. वही, पृ० 38



सुमित्रानंदन पंत पर संपन्न शोधकार्य

डा. गिरिराजशरण अग्रवाल

डा. मीना अग्रवाल

(1) काव्य चिंतन

डा० अरुणकुमारी

छायावादी कविता का विशेषण-विधान (पंत काव्य के विशेष संदर्भ में), रुहेलखंड 1994

डा० प्रेमलता बाफना

छायावादी काव्य की पृष्ठभूमि में सुमित्रानंदन पंत के काव्य का अनुशीलन, सागर 1968

डा० शांतिलाल जोशी

पंत का काव्य अध्ययन : छायावाद के विशेष संदर्भ में, इंदौर 1973

डा० विमला नैद्यर

पंत का काव्य-शिल्प, दिल्ली 1973

डा० मंजुला अग्निहोत्री (शुक्ला)

पंत-काव्य का कलापक्षीय अनुशीलन, विक्रम 1970

डा० पी० एन० कुट्टन पिल्ले

पंत-काव्य में बिंब-योजना, उस्मानिया 1974

डा० किश्वर सुल्ताना

पंतकाव्य में कला-शिल्पजनित सौंदर्य, इलाहाबाद 1978

डा० अवधबिहारी

पंत की काव्यगत मान्यताएँ और उनका काव्य, काशी विद्यापीठ 1979

डा० श्याम गुप्ता

पंत की छंद-योजना का शास्त्रीय अध्ययन, कुमायूँ 1979

डा० राजकुमारी

पंत की सौंदर्य-चेतना का विकास, दिल्ली 1979

डा० कमलाकर पांडेय

पंत के काव्य-बिंबों का अनुशीलन, सागर 1978

डा० ब्रजरानी भार्गव

पंत के काव्य में कल्पना-कर्तव्य (लोकायतन के विशेष संदर्भ में), राजस्थान 1970

डा० सरोज सेठी

पंत के काव्य में बिंब-योजना, मेरठ 1978

डा० संजय सारस्वत

पंत के काव्य में लालित्य-योजना, रुहेलखंड 1983

डा० नागदत्त डिमरी

पंत के परवर्तीकाव्य का शास्त्रीय अध्ययन (युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, युगांतर, रजतशिखर, उत्तराशिल्पी, अतिमा, स्वर्णवाणी), पंजाब 1985

डा० गीता बोरा

पंत के बिंबों का विकास : 'पल्लव' से 'सत्यकाम' तक, कुमायूँ 1983

डा० सुमन शर्मा (श्रीमती)

वक्रोक्ति-सिद्धांत के निकश पर सुमित्रानंदन पंत के काव्य का मूल्यांकन, मेरठ 1983

डा० कमलेशकुमारी

सुमित्रानंदन पंत : काव्य के विविध सोपान और उनका मूल्यांकन, महर्षि दयानंद 1999

डा० बलजीत कौर

सुमित्रानंदन पंत के आख्यानक काव्य का अनुशीलन, रविशंकर 1995

डा० रजनीशबाला सिंह

सुमित्रानंदन पंत के प्रबंधकाव्य : शिल्प और दर्शन, गोरखपुर 1998

डा० एस० एस० बिष्ट

सुमित्रानंदन पंत के साहित्य का ध्वनिवादी अध्ययन, कुमायूँ 1988 (डी० लिट्०)

(2) भाषा

डा० उषा शुक्ल

सुमित्रानंदन पंत की भाषा, लखनऊ 1972

डा० रामप्रकाश सिंघल

कवि पंत का भाषा-शिल्प, मेरठ 1973

डा० चंद्रबली सूर्यप्रसाद तिवारी

छायावादयुगीन हिंदी-कविता की भाषा : पंत का विशेष अध्ययन और कवि पंत की भाषा, बंबई 1977

डा० उमाशंकर तिवारी

पंत की काव्यभाषा का अध्ययन, जबलपुर 1980

डा० मधुबाला शर्मा

पंत की काव्यभाषा का काव्यशास्त्रीय अध्ययन, दिल्ली 1987

डा० कांता पंत

पंत की भाषाशैली का वैज्ञानिक अध्ययन, राजस्थान 1979

डा० मीना गोले

सुमित्रानंदन पंत की कविता का शैली-भाषावैज्ञानिक अध्ययन, भोपाल 1985

डा० सतवीर सिंह

सुमित्रानंदन पंत की भाषा, दिल्ली 1985

(3) मनोविज्ञान

डा० मधु गुप्ता

पंत के काव्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, मेरठ 199

डा० बी०एस० भाकुनी

सुमित्रानंदन पंत के काव्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, कुमायूँ 1988

(4) युगचेतना

डा० उषा शर्मा

पंत-काव्य की समाजिक भूमिका, पटना 1979

डा० बीना शर्मा

पंत के काव्य में युगचेतना, जोधपुर 1980

डा० रामउदित शर्मा

सुमित्रानंदन पंत के काव्य में युगबोध और मानवतावाद, विश्वभारती 1988

डा० प्रीति श्रीवास्तव

सुमित्रानंदन पंत के साहित्य में युगचेतना, रुहेलखंड 1988

डा० सी० एल० गुप्त

श्री सुमित्रानंदन पंत के काव्य में युगबोध, राजस्थान 1974

(5) लोकायतन

डा० सुशीला यादव

पंतकृत 'लोकायतन' में सांस्कृतिक एवं दार्शनिक चेतना, महर्षि दयानंद 1998

डा० सुमनसिंह (श्रीमती)

पंत के लोकायतन में चित्रित आधुनिक जीवन और कला का अध्ययन, अलीगढ़ 1971

डा० श्रद्धा शाह

लोकायतन : एक समय अनुशीलन, कुमायूँ 1983

डा० आर० लतिकाबाई

लोकायतन और परवर्ती पंतकाव्य, सी०यू०एस०टी० 1989

डा० रुद्रप्रताप सिंह

लोकायतन : काव्य और दर्शन, भागलपुर 1980

डा० एस० कुमारी सिंह

लोकायतन का समीक्षात्मक अध्ययन, कानपुर 1982

डा० राजेश कुमारी

लोकायतन का सांस्कृतिक अध्ययन, कुरुक्षेत्र 2000

डा० नारायणदास

लोकायतन का साहित्यिक सांस्कृतिक एवं दार्शनिक विवेचन, रुहेलखंड 1995

डा० समरपाल सिंह

लोकायतन में लोकतत्त्व, मेरठ 1986

डा० विनोदकुमार शर्मा

लोकायतन का सर्वांगीण अध्ययन, राजस्थान 1974

डा० रामप्रसाद बहुगुणा

लोकायतन की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, मेरठ 1972

डा० दीपा गुप्ता

सुमित्रानंदन पंत के काव्य में संस्कृति और जीवन-दर्शन : लोकायतन के विशेष संदर्भ में, इंदौर 1991

डा० कृष्णाकांत चौधरी

स्वतंत्र भारत के महाकाव्यों के संदर्भ में लोकायतन (1950-80), जम्मू 1992

डा० भुवनचंद्र पांडेय

हिंदी के आधुनिक महाकाव्य और लोकायतन, कुमाऊँ 2000

(6) वाद

डा० राजिंदरप्रकाश गौतम

पंत के काव्य में आभिजात्यवादी और स्वच्छंदतावादी तत्त्व, दिल्ली 1987

डा० डी० शंकर

पंत के काव्य में गांधीवादी विचारधारा, उस्मानिया 1988

डा० परमानंद चौबे

कविवर सुमित्रानंदन पंत का मानवतावाद, आगरा 1977

(7) विकास

डा० प्रमिला द्विवेदी

चिदंबरा के विशिष्ट संदर्भ में पंत के काव्य का विकासात्मक अध्ययन, मेरठ 1981

डा० पुष्पलता गुप्ता

छायावादी काव्य के उद्भव और विकास में कविवर सुमित्रानंदन पंत का योगदान, जीवाजी 1984

डा० उषाकुमारी

पंत की काव्यचेतना का विकास, पटना 1974

रीता मेहरोत्रा

सुमित्रानंदन पंत के काव्य-विकास का अध्ययन, बर्दमान 1995

(8) विचार दर्शन

डा० इंदु मालवीय

पंत-काव्य का दार्शनिक अध्ययन, कलकत्ता 1990

डा० पुष्पलता जैन

पंत-काव्य की दार्शनिक पीठिका, इंदौर 1975

डा० राका शंकर

पंत-काव्य पर अरविंद-दर्शन का प्रभाव, कानपुर 1992

डा० सुरेशचंद्र गुप्त

पंत की दार्शनिक चेतना, लखनऊ 1974

डा० आनंदनारायण सिंह

पंत की दार्शनिक विचारधारा, अवध 1983

डा० तिलकसागर सारथी

वैचारिकता एवं काव्यत्व की दृष्टि से पंत के कृतित्व का अनुशीलन, रविशंकर 1978

डा० कृष्णानंद झा

श्री सुमित्रानंदन पंत का जीवन-दर्शन, मगध 1984

डा० निर्मला प्रभु

श्री सुमित्रानंदन पंत के काव्यों में परिलक्षित आधुनिक विचारधाराएँ, बंगलौर 1987

डा० सरिता सेठी

सुमित्रानंदन पंत और उनके काव्य में जीवन-दर्शन, गढ़वाल 1980

डा० पूनमचंद्र दइया

सुमित्रानंदन पंत के काव्य की दार्शनिक और सौंदर्यवादी पृष्ठभूमि, पटेल 1966

डा० अरुणा अग्रवाल
सुमित्रानंदन पंत के काव्य में चिंतन और लोकमंगल की भावना, रीवा 1990
डा० रमेशकुमार सिन्हा 'किरण'
सुमित्रानंदन पंत के काव्य में दार्शनिक प्रेरणा, बिहार 1974

(9) व्यक्तित्व

डा० किरन बरनवाल (श्रीमती)
सुमित्रानंदन पंत का वैचारिक व्यक्तित्व, रुहेलखंड 1989
डा० चंद्रकांत वशिष्ठ
सुमित्रानंदन पंत : व्यक्तित्व और कवि, दिल्ली 1970
डा० रामजी पांडेय
सुमित्रानंदन पंत : व्यक्तित्व और कृतित्व, इलाहाबाद 1974

(10) समाज-संस्कृति

डा० गीता डी० दवे
पंत-काव्य का सामाजिक एवं सांस्कृतिक अनुशीलन, सौराष्ट्र 1989
डा० सुनीलकुमार यादव
पंत-काव्य में सामाजिक चेतना, पटना 1987
डा० शीला देवी
पंत के काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन, अलीगढ़ 1987
डा० राकेश बाजपेयी
पंत के काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन, मेरठ 1989

(11) सौंदर्य

डा० त्रियुगीनारायण मिश्र
पंत-काव्य के वैचारिक एवं कलात्मक सोपान, जीवाजी 1992
डा० कुसुम शर्मा
पंत-काव्य में सौंदर्य-चेतना का क्रमिक विकास, राजस्थान 1989
डा० ए० श्रीराम रेड्डी
पंत-काव्य में सौंदर्य-भावना, आंध्र 1973
डा० रंजना त्रिपाठी
पंत के काव्य में नवसौंदर्य-बोध, लखनऊ 1982

डा० बंशीलाल लोहिया

पंत के सौंदर्य-युग की काव्यकृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन, जोधपुर 1991

डा० अनीता प्रभाकर

सुमित्रानंदन पंत के काव्य का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन, गुरु नानकदेव 1992

डा० राजवीरसिंह

सौंदर्य एवं औदात्य-संबंधी सिद्धांतों के आधार पर सुमित्रानंदन पंत के काव्य का मूल्यांकन, कुरुक्षेत्र 1997

(12) विविध

डा० श्यामनारायण पांडेय

पंत-काव्य में प्रकृति-चेतना, बनारस 1990

डा० ब्रजबिहारी सक्सेना

पंत के काव्य में नारी का स्वरूप, रहेलखंड 1988

डा० राजेश्वर पांडेय

पंत के काव्य में लोकमंगल की भावना, राँची 1985

डा० भारती शर्मा (श्रीमती)

सुमित्रानंदन पंत के काव्य-ग्रंथों की भूमिकाओं का आलोचनात्मक अध्ययन, जबलपुर 1987

डा० बी०एम० तिवारी

सुमित्रानंदन पंत के काव्येतर साहित्य का अध्ययन, कुमायूँ 1987

डा० रेखा श्रीवास्तव

हिंदी गीतिनाट्य के परिप्रेक्ष्य में पंत के गीतिनाट्यों का विशिष्ट अध्ययन, अवध 1985

डा० बी० के० शर्मा

पंत-काव्य के परिप्रेक्ष्य का विशिष्ट अध्ययन, राजस्थान 1974

डा० ओमप्रकाश शर्मा

पंत-काव्य के प्रेरणा-स्रोत, राजस्थान 1971

डा० पी० के० इंदिरादेवी

सुमित्रानंदन पंत का काव्य, कोचिन 1977

डा० नेमनारायण जोशी

सुमित्रानंदन पंत का नवचेतना काव्य (1937-1969), उदयपुर 1971

(13) तुलना

डा० टी० आर० भट्ट

कवि पंत और ब्रेंद : एक तुलनात्मक अध्ययन, कर्नाटक 1975

डा० मंजुला जैन (श्रीमती)

कवि सुमित्रानंदन पंत एवं सूर्यकांत त्रिपाठी निराला के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, पूना 1992

डा० पारसराम चौहान

कालिदास और सुमित्रानंदन पंत के काव्य में प्रकृति-चित्रण : एक तुलनात्मक अध्ययन, हिमाचल 2001

डा० वी० राघममा

चिदंबरा और ओतकषल काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन, द०भा०हिं० प्रचार सभा 1975

डा० उषा त्यागी

पंत एवं महादेवी के काव्य में दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, रविशंकर 1995

डा० जरीनजान देवरा

पंत और शैली : प्रकृति-दर्शन एवं रहस्यात्मक बोधपक्ष, उस्मानिया 1976

डा० कुसुम भट्ट

पंत और निराला के साहित्य में सौंदर्य-भावना का तुलनात्मक अध्ययन, कुमायूँ 1986

डा० रजनीकांत जोशी

पंत और सुंदरम् : तुलनात्मक अध्ययन, गुजरात 1976

डा० पुष्पा पांडेय

पंत और सुंदरम् के काव्य पर अरविंद-दर्शन के प्रभाव का तुलनात्मक अध्ययन, गुजरात 1985

डा० श्रीदेवी खरे

प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी के काव्यों का तुलनात्मक अनुशीलन, रविशंकर 1973

डा० सुरेंद्र कपिल

महाकवि जी० शंकर कुरुप कृत उदका कौशल (मलयालम) एवं महाकवि सुमित्रानंदन पंत कृत चिदंबरा (हिंदी) का तुलनात्मक अध्ययन, मेरठ 1980

डा० तारिणीकांत शर्मा

रघुनाथ चौधरी और सुमित्रानंदन पंत की कविता में प्रकृति का तुलनात्मक अध्ययन, गोहाटी 2002

डा० अर्चना अग्निहोत्री

लोकायतन और उत्तरायण की सांस्कृतिक चेतना का तुलनात्मक अध्ययन, कानपुर 2000

डा० कुमनलाल व्यास

श्री अरविंद दर्शन और उसका पंत और सुंदरम् पर प्रभाव, उस्मानिया 1986

डा० निरुपमा पोटा

सामाजिक परिप्रेक्ष्य में पंत, महादेवी और निराला के कृतित्व का विश्लेषण, लखनऊ 1985 (डी० लिट०)

डा० नंदिता मिश्रा

सावित्री और लोकायतन का तुलनात्मक अनुशीलन, रविशंकर 1978

डा० पी० अप्पल राजू

सुमित्रानंदन पंत और देवुलपल्लिकृष्ण शास्त्री के काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन, आंध्र 1972

डा० तारामती बालकृष्ण जाजू

सुमित्रानंदन पंत और बालकवि टी०वी० टाब्रे के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन , जीवाजी 1982

डा० दविन्दर कौर ब्रैच

सुमित्रानंदन पंत तथा भाई वीरसिंह का कवि के रूप में तुलनात्मक अध्ययन, गुरु नानकदेव 1993

डा० मनींद्रमोहन शर्मा

सुमित्रानंदन पंत और विलियम वर्ड्सवर्थ के प्रकृति-चित्रण का तुलनात्मक अध्ययन, आगरा 1981

डा० मीरादेवी

सुमित्रानंदन पंत के काव्य पर विलियम वर्ड्सवर्थ का प्रभाव, बनारस 1992

डा० मंगोरानी

सौंदर्यानुभूति के संदर्भ में कवि कीट्स और पंत की कविता का अध्ययन, कुरुक्षेत्र 1981

डा० दारले पनक्कर

हिंदी-कवि सुमित्रानंदन पंत और मलयालम कवि जी० शंकर कुरुप के जीवन-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, मद्रास 1983

डा० जगदीशदत्त शर्मा

हिंदी तथा आंग्लभाषा के अलंकारों का तुलनात्मक अध्ययन और सुमित्रानंदन पंत के काव्य पर अलंकारों का प्रभाव, आगरा 1971

